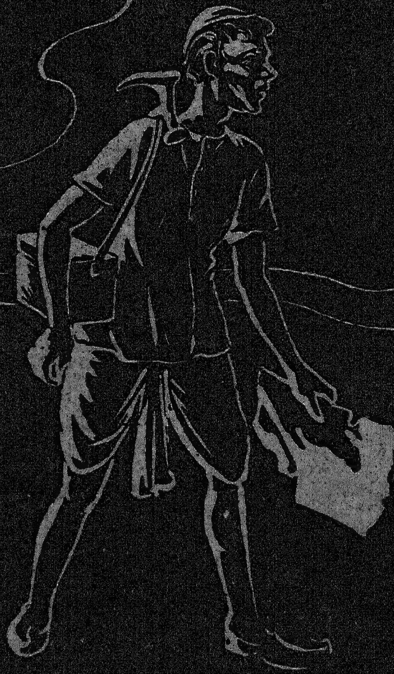
हरिजन



श्री संतोषनारायण नौटियाल

श्री सन्तोष नारायण नौटियाल आई. ए. ऐस.

की अमर कृति

हरिजन



के

प्रमुख विक्रेता

आत्माराम एण्ड सन्स

कश्मीरी गेट– दिल्ली.

लेखक विश्वास दिलाता है कि इस उपन्यास के सब पात्र कल्पित हैं। कोई भी सादृश्य केवल आकस्मिक है।

१

बनारस के प्रातःकाल और अवध की संध्या के विषय में बहुत कुछ प्रसिद्ध है। किसी स्थान के प्रातः और संध्या का वर्णन करना हो तो कहा जाता है 'सुबह यहाँ की सुबह बनारस, शाम अवध की शाम', परन्तु जिसने देहरादून का प्रातःकाल और वहाँ की संध्या नहीं देखी, उसने कुछ नहीं देखा। उषा के आगमन के साथ ऊपर की काली चादर दूर फेंक कर गहन हरित नील वर्ण की साड़ी में सुशोभित पहाड़ियाँ सूर्यदेव के आगमन के साथ-साथ स्वर्ण-वर्ण का किरीट मस्तक पर धारण कर के जिस शोभा तथा सौन्दर्य का विस्तार करती हैं, वह देखने से ही सम्बन्ध रखता है। संध्या को नीले-लाल-पीले क्षितिज के विरुद्ध विविध रंगों में रंगी जाती हुई पश्चिमी पहाड़ियों के दृश्य की अपूर्वता का वर्णन कठिन है।

ऐसी ही एक संध्या को जब पक्षी अपने अपने नीड़ों को लौट चले, जब कृषक-गण कंधों पर हल रक्खे गऊ माता के पुत्रों की पूंछ पकड़ कर उनके पीछे पीछे घर आने लगे, जब ढोर सारे दिन चर कर लौटते समय अपने गलों में पड़ी हुई घंटियों की मधुर टनटनाहट से संध्या की उस मधुर बेला में अनुपम संगीत की सृष्टि करते हुए घर आने लगे, और जब छप्परों तथा दीवारों की संधों के बीच से निकलता हुआ श्वेत-नील-वर्ण धूम्र, अन्दर की उष्णता तथा सुख की सूचना देकर आकाश में समाने लगा— तब भगवंतपुर गाँव के कोने पर बनी हुई फूस की एक छोटी सी झोंपड़ी के सामने बैठकर जूते बनाने वाला बूढ़ा शंकर अपने औज़ार छोड़, एक लम्बी साँस लेकर उठ खड़ा हुआ। उसी समय नीले-से रंग की एक अधेड़ अवस्था की गाय आकर पहले खूँटे पर खड़ी हुई फिर खूँटे पर कुछ न पाकर कुछ सूंघती हुई इधर उधर डोलने लगी। शंकर ने पुकारा :

'अरी कज्जल, इसे बाँध दे नीली को। इधर उधर मुँह मार रही है।'

'आई बाबा', कह कर कज्जल बाहर आ गई।

शंकर की बेटी कज्जल यौवन, आकर्षण, मादकता, मनोहरता, चपलता, आह्लाद, उत्साह, जीवन, स्पंदन, क्षणिक-विषाद आदि यौवनोचित गुणों की उस अनुपम अवस्था में थी जिसे कहते हैं 'सत्रह वर्ष'। कज्जल रंग की दृष्टि से तो अधिक

सफल नहीं कही जा सकती थी परंतु थी निश्चित् रूप से बहुत आकर्षक। ग्रामीण-युवती-सुलभ भोलापन उसे अनन्य आकर्षण प्रदान कर रहा था। एक बार देखकर जी चाहता था, बार बार देखा करे— देखता ही रहे। चोली, घाघरा और चूनरी यही उसकी भूषा थी। बाल बिखरे-बिखरे थे। युवावस्था स्वयं एक आकर्षण है; जब उसके साथ लावण्य तथा सरलता मिल जाय तो क्या कहना।

कजल गाय बांध कर और उसके आगे हरी घास डाल कर जाने लगी तो शंकर ने कहा, 'बेटी, मैं अभी आया थोड़ी देर में ····· और सुखवा कहाँ गया ?'

'सुखवा तो कहीं खेल रहा होगा पर तुम आज फिर चल दिये ?'

'अरे नहीं पगली, ज़रा बुधुवा को देखने जाता हूँ। कई दिन से बीमार है बेचारा। ग़रीब आदमी दवादारू के बिना मर रहा है।'

'हाँ मैं अच्छी तरह जानती हूँ कैसा बीमार है तुम्हारा बुधुवा। वहीं जाओगे बारी में।'

'अरी तू तो बिल्कुल ही पागल है। बारी में कहीं रोज़-रोज़ जाया जाता है। इतने पैसे कहाँ हैं। वहाँ तो कभी कभी······' यह कह कर वह थोड़ी हँसी हँसता हुआ बाहर सटकने का उपक्रम करने लगा।

'देखो मुझे धोखा मत दो बाबा। मैं जानती हूँ तुम वहीं जा रहे हो।' कहते कहते कजरी शकर के पास आ गई और उसका हाथ पकड़ कर बोली, 'बाबा कितनी बार तुमसे मैंने कहा है कि यह बुरी चीज़ है, इसे छोड़ दो। देखते नहीं कितनी बार हमें भूखा रह जाना पड़ता है···' उसका गला भर आया और आँखों में आँसू भर आये। वह शङ्कर के कंधे पर सिर टिका कर चुपचाप रोने लगी। शङ्कर विचलित हो उठा और बड़ी व्यस्तता से बोला, 'अच्छा अच्छा चुप हो जा, नहीं जाता ले।'

दोनों घर के अन्दर आ गये। कजरी काम-काज में लगी और शङ्कर सोचने में लगा। उसने जीवन के उतने दिन किस प्रकार पशुओं की भाँति व्यतीत कर दिये थे। उषा से संध्या तक परिश्रम करना फिर भी भरपेट न मिल पाना — इस दैविक अन्याय के प्रति उसका मन अनेक बार विद्रोही हो उठा था परन्तु वह कर ही क्या सकता था संसार में पहली बार आँख खोलने से लेकर अब तक वह ठोकरें ही ठोकरें खाता चला आया है। उसकी अपनी आँखें खुलीं और उसकी माता की आँखें बन्द हुईं। एक दीपक जला एक बुझा। जीवन-ज्योति जलती रही। शंकर बड़ा हुआ तो पिता भी चल बसा। और तब से सारे संसार की घृणा के बीच पता नहीं किस प्रकार पल कर और ठोकरें खा खा कर वह बड़ा हुआ। किसी प्रकार जूते बनाने का कार्य सीखा, कठोर परिश्रम करके कुछ पैसे बचाए, औज़ार मोल लिये और जूते बानना आरम्भ कर दिया। लगभग बीस वर्ष से वह उसी भगवन्तपुर गाँव में था। अपनी

ही जैसी एक दुःखिया को उसने जीवन-संगिनी बनाया परन्तु जब भगवान ही उसे अकेला छोड़ने पर उतारू था तो क्या किया जा सकता था। दस वर्ष पूर्व सुनरो (शंकर की पत्नी) एक लड़की कजरी और लड़का सुखवा छोड़ कर इस संसार से ऊब कर कदाचित् कुछ सुख की आशा में किसी अज्ञात लोक को चली गई थी। तब शंकर ने कितना चाहा था कि डूब जाय, संखिया खा ले, मर जाय परन्तु कर वह कुछ भी नहीं सका था, मरना इतना सरल कहाँ! और फिर, और कुछ न सही, इन बच्चों के लिये तो उसे जीवित रहना ही था। फिर भी दुख समाप्त कहाँ हुए। भगवान भी उसी के साथ परिहास करने पर तुला हुआ था। जब कभी उसके सूखे जीवन में हरियाली की क्षीण आभा भी दिखलाई देने लगती, वही अदृश्य फिर उस हरियाली को मटमैले बालू में परिणत कर देता: जैसे दुर्भाग्य तथा दैन्य की कमी पूरी करने के लिये ही यह 'पीने' की लत उसे पड़ गई थी।

'पीने' की लत शंकर को कैसे पड़ी— यह भी एक कहानी है। जब सुनरो उसे और बच्चों को छोड़ कर मर गई तो उसके लिये यद्यपि उसी समय मरना तो सम्भव नहीं हुआ फिर भी तिल तिल करके तो वह घुलने ही लगा। उसकी यह दशा देख कर उसके पड़ोसी बुधुआ ने उसे " 'ग़म ग़लत करने' की रीति" ज़बरदस्ती ही बतला दी, बल्कि बहुत दिनों तक उसका साथ दिया और अपने ही पैसों से। फिर तो शंकर आदी हो गया। आरम्भ में उसने इस आदत की गम्भीरता को नहीं सोचा और बाद में जब सोचा और समझा तो बहुत आगे बढ़ चुका था। तब दारू उसके अधीन नहीं रही थी, वह स्वयं दारू के अधीन हो गया था। शंकर ने अपनी आदत के कारण बच्चों को कई बार भूखा पड़ते देखा था परन्तु वह बेबस था।

कजरी जब छोटी थी तो अपने बाबा को कभी कभी झूमते-झामते और बकते हुए आते देख, डर से सिमट कर कोने में खड़ी हो जाती और बेचारी समझ ही न पाती थी कि उसके बाबा को हुआ तो क्या हुआ। तब यदि भूखी रहती थी तो भूखे रहने का कारण सीधा-साधा यह मान लेती थी कि घर में खाने को नहीं है— बस। इससे आगे सोचने का उसने कभी प्रयत्न नहीं किया कि जब उसका बाबा सवेरे से शाम तक काम करता है और पैसे भी उसके पास थोड़े बहुत आते दिखाई देते हैं— फिर भी खाने को क्यों नहीं है। फिर भी जब से समझ पाई थी तब से उसने रात-दिन रोकर, अनशन करके, मरने की धमकी दे कर और भी सभी सम्भव उपायों द्वारा शंकर की यह आदत छुड़ानी चाही थी परन्तु सफल नहीं हो सकी थी। शंकर जब उसके समझाने पर भी फिर चल ही देता और कुछ देर पश्चात् लाल लाल आँखे लिये, किञ्चित डगमगाते पैरों से घर लौटता तो वह कोठरी में जा कर चुपचाप रो पड़ती।

उस दिन भी शंकर सोचते सोचते इतना अव्यवस्थित हो उठा कि एक झटके से

उठ कर खड़ा हुआ और एक ओर चल दिया। कजरी ने भी उसे जाते देखा और अन्दर जा कर चुपचाप आँसू बहाने लगी।

*　　*　　*

बारी भी अनोखा स्थान होता है। साहित्य का कदाचित् ही कोई ऐसा भाव अथवा रस हो जिसका मूर्त्तिमान स्वरूप बारी में न मिलता हो। शंकर जब बारी के निकट पहुँचा तो ऐसे ही स्वरूप उसके सामने आने लगे। बारी के बाहर कूड़े-करकट का एक ढेर था और पास ही नाली थी जिसमें से होकर बारी का सारा फ़ालतू पानी बहता था। दूसरे गाँव का अल्लादिया जुलाहा नाली में बड़े चैन से पड़ा था। सिर के नीचे एक हाथ का तकिया बना था; एक खड़े घुटने पर दूसरी टांग रक्खे बड़े आराम से पैर हिलाता और आकाश की ओर ताकता हुआ कदाचित् अपने काल्पनिक स्वर्ग में खजूर के पेड़ की क्षीण छाया में अप्सराओं के हाथ से खजूर की मदिरा पान कर रहा था। शंकर को उसकी दशा पर तरस आया। पास आकर बोला, 'अरे अल्लादिये ! उठ कहाँ पड़ा है यहाँ !'

अल्लादिये को अपने और 'जन्नत की हूरों और खजूर की शराब' के बीच तीसरे व्यक्ति का हस्तक्षेप सहन नहीं हुआ। चिढ़ कर बोला, 'कौन है तू ? तुझे हमसे मतलब ?'

'अरे उठ तो सही भले आदमी। ले बोल कहाँ पड़ा है !'

'क्यों उठें ? तेरे बाप की धौंस है क्या ? नहीं उठते। हम तो यहीं पड़ेंगे।'

'क्या कर रहा है यहाँ ?'

'आराम कर रहे हैं।'

शंकर खिलखिला कर हँस पड़ा और बोला, 'उमिर गुज़र गई। बहुत रहीस देखे पर तेरे से सब उतर के ! आराम बाद में करना पहले उठ कर घर जा।'

इस पर जब अल्लादिये ने 'चला जा, हम मार देंगे, हमारी छुरी लाना, हमारी भरवाँ लाना' की हाँक लगाई तो शंकर उसे छोड़ कर आगे बढ़ गया। आगे दो शराबी आपस में लड़ रहे थे परन्तु दोनों ने इतनी पी रक्खी थी कि बुत बने थे। लड़ क्या रहे थे; लोगों का मनोरंजन कर रहे थे। न दूरी का अनुमान न शक्ति का विचार। एक ने अपनी समझ से दूसरे के बड़े ज़ोर से घुमा कर हाथ जो मारा तो वार किञ्चित् ओछा रहा। दूसरे के तो लगा नहीं, स्वयं ही औंधे मुँह भूमि पर आ रहे। दूसरे वीर भी अछूते नहीं रहे। वे हवा के झोंके से ही लेट रहे। फिर लेटे ही लेटे 'क़त्ल आम' की आज्ञाएं दी जाने लगीं। शंकर ने एक को समझाने का प्रयत्न किया तो दूसरा बिजली की तेज़ी से उठा, लड़खड़ाया, गिरा, फिर सँभला और कहने लगा, 'हम लड़ते हैं। वह हमारा भाई है, बिरादर है, हम उसका ख़ून करेंगे। तू समझता है

उसका कोई नहीं ? उसके हम हैं हम।' उसने छाती ठोक कर 'हम' का प्रदर्शन किया और आगे बोला 'वह अकेला नहीं है। वह बहुत तकड़ा है। यों चुटकी में पीस कर रख देगा।' उसने बतलाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार चुटकी में पीस कर रख देगा। चुटकी ज़रा ज़ोर से बज गई। झटका उस बेचारे की शक्ति से बाहर सिद्ध हुआ। वह गिरा तो बहुत देर तक गिरा ही रहा।

बड़े खिन्न मन से शंकर बारी के अन्दर घुसा। पहले तो सूत्रधार ही देखे थे। अब नाटक का पूर्ण अङ्क देखा। अन्दर कोई औंधा पड़ा था, कोई यों ही हँस रहा था, कोई रो रहा था। कोई बारी वाले की कुतिया को अपनी प्रेमिका समझ कर कह रहा था 'मेड़ी प्याड़ी'। कोई दार्शनिक की भाँति एकान्त मनोयोग से, एक ओर टकटकी बाँधे किसी गूढ़ समस्या पर विचार कर रहा था। कोई कुल्हड़ तथा शराब को बड़े ध्यानपूर्वक देख कर मानो उसका विश्लेषण करने की सोच रहा था। किसी ने वमन कर दिया था। सारे कमरे में दुर्गन्धि फैल रही थी। यह सब देख कर शंकर का मन घृणा से भर गया परन्तु शराब की तीव्र गन्ध ने उसे आकर्षित भी किया। यद्यपि शंकर इन सब बातों का आदी था फिर भी कभी कभी वैसी घृणा उसे उत्पन्न हो ही जाती थी। और फिर अभी कजरी की बातें भी ताज़ी थीं। वह लौट चला परन्तु फिर बारी से आती हुई आवाज़ों ने उसे रुकने पर बाध्य किया। वह रुका, कुछ देर सोचता रहा। मन के भीतर चलने वाले द्वन्द्व की छाया उसके मुख पर स्पष्ट अङ्कित हो रही थी। वह बारी की ओर लौटा। द्वार के पास आकर फिर रुका और अन्दर जाने अथवा लौट जाने की बात को तोलने लगा। अन्त में निश्चय करके वह लौटने को ही था कि बारी वाले की पुकार ने निर्णय कर दिया। 'आ भाई शंकर, क्या सोच रहा है ?' बारी वाले लाला ने कहा और इसी बात ने शंकर का मुँह बारी की ओर फेर दया। उसने पैसे देकर कुल्हड़ लिया और कोने में बैठ कर चुपचाप पीने लगा।

जब शंकर घर पहुँचा रात भीग चली थी। दिया जल रहा था। कजरी दिये के सामने ऊँघ रही थी। पास ही चारपाई पर सुखवा सो गया था। शंकर ने चुपचाप लेट जाना चाहा। कजरी का मुख देखते ही वह शर्म से गड़ गया जैसे किसी ने उसके जूते मार दिये हों। वह उस समय कजरी से बोलना नहीं चाहता था। वह चारपाई पर चुपचाप लेटने लगा परन्तु पुरानी चारपाई की चरचराहट से कजरी चौंक उठी। बोली, 'आ गये बाबा ?' वह आगे भी कुछ बोलना चाहती थी परन्तु शंकर का लज्जा से पुता हुआ मुख देख कर वह आगे न बोल सकी। कजरी को पहले क्रोध आ रहा था वह मन ही मन उबल रही थी। सोच रही थी कि उस दिन अपने बाबा को खूब खरी-खोटी सुनायेगी। नहीं मानेगा तो कुछ खा कर सो रहने की धमकी देगी परन्तु

पिता के लज्जावनत मुख के आगे पुत्री कुछ कह न सकी। आती हुई रुलाई को रोकते हुए उसने कहा— 'बाबा, रोटी खा लो।'

शंकर ने केवल गर्दन हिला दी। कजरी कुछ देर चुप रही फिर चुपचाप शंकर की चारपाई पर बैठ उसके गले में हाथ डाल उसे उठाया और ज़बरदस्ती बैठा कर, थाली में रोटी और साग उसके सामने रख दिया।'

शंकर हाथ धोकर खाना खाने लगा। एक कौर खाता और दो बूंद आँसू पीता शंकर बैठा रहा और कजरी भी चुपचाप आँसू बहाती रही।

१

कॉलेज के दफ़्तर की घड़ी में घन्टे की सुई चार पर और मिनट की बारह पर आई, पुराना चपरासी गंगा जो दीवार के सहारे पीठ लगाए बैठा हुआ बीड़ी पी रहा था, हाथ की बीड़ी भूमि पर रगड़, उसे टोपी में रख कर उठा और टनाटन घण्टा बजा दिया। घण्टे की ध्वनि ने विस्फोटक से सम्बन्धित पलीते का काम किया। एक विचित्र शोर सारे कॉलेज में उठ गया। डेस्कों और कुर्सियों की खड़खड़ाहट हुई और झुण्ड के झुण्ड लड़के कक्षाओं से बाहर निकलने लगे। एक ऊँची कक्षा से दो लड़के साथ साथ हँसते और बातें करते निकले। एक का कुर्ता, पाजामा और चप्पल, दूसरे की कमीज़, पतलून और जूता। थोड़ा आगे जाने पर पाजामे वाले लड़के ने कहा—'

'अच्छा भई, चले हम तो।'

'ठहरो, मैं भी तो चलता हूँ', पतलून वाले ने कहा।

'भला तुम्हारा मेरा क्या साथ ? तुम जाओगे मोटर में, मैं जाऊँगा साइकिल पर।'

'नहीं, आज मैं भी साइकिल पर ही जाऊँगा।'

'क्यों, आज गाड़ी नहीं आई ?'

'नहीं, पिता जी को उसकी आवश्यकता थी।'

दोनों साइकिल शेड की ओर बढ़े। साइकिलें उठाईं और चल दिये। दोनों की साइकिलें भी उनकी अवस्थाओं का बड़ा अच्छा प्रतिनिधित्व कर रही थीं। एक के पास थी बढ़िया 'रेले' और दूसरे के पास कराहती हुई, पुरानी, डेढ़ पैडल की 'फ़िलिप्स'।

पतलून वाले का घर पहले आया। रुक कर उसने कहा, 'रमेश, चलो ठंडे हो लो।'

'क्या बिल्कुल ?'

'अरे नहीं, यों ही थोड़े से।'

'भई, अब तो चल ही दिये।'

'चले जाना। ऐसी भी क्या जल्दी है? ज़रा चाय तो पी लो।'

रमेश भी उतर गया। दोनों अन्दर गये। बैठे, बातचीत होती रही। थोड़ी देर में चाय, मिठाई, नमकीन आदि आ गये।

पतलून वाला था सुबोध। घर की आर्थिक स्थिति बड़ी अच्छी थी। पिता, सेठ जगतनारायण, प्रसिद्ध ठेकेदार थे। सुबोध की एक बहिन थी सरोज— सरोज सी ही सुन्दर तथा प्रफुल्लित। लड़कियों के विद्यालय में इन्टरमीडिएट प्रथम वर्ष की छात्रा थी। उसे गाने नाचने का चाव था और बैडमिंटन खेलने में भी आपत्ति नहीं थी।

सुबोध ने नौकर से कहा, 'सरो को भी चाय पीने भेज दे।'

सरो आई। रमेश को देखकर नमस्ते की और बोली, 'आज कैसे भूल पड़े इधर?'

'भूलना जान-बूझकर तो होता नहीं जो बतला दूँ।'

'ओहो, आप भी उत्तर देने लगे?'

'तो मैं गूंगा ही कब था?'

'अच्छा भई, हार मान ली आप से।'

'मुझ पर कोई दया नहीं की। ठीक ही बात मानी है।'

सरोज चुप हो गई। कुछ झुँझला भी गई। फिर वह न बोली। चुपचाप प्यालों में चाय ढाल कर सबको दी। थोड़ी देर चुप रही। चाय पीकर रमेश जब चलने को हुआ तो बोली, 'बैडमिंटन नहीं खेलियेगा आज?'

'खेलूँगा अवश्य, पहले एक तवे का प्रबन्ध करा दीजिएगा।'

'तवा? उसका क्या होगा?'

'यही सिर पर बांधना है। इतनी देर में जो घर पहुँचूंगा?' फिर बोलने की तो कौन कहे, सरोज वहाँ ठहरी भी नहीं। रमेश और सुबोध हँसने लगे।

रमेश और सुबोध की बचपन से मैत्री थी और अब तो दोनों की एक आत्मा दो शरीर थे। सरोज युवती थी, सुन्दरी थी, आकर्षक थी। वह रमेश की ओर आकर्षित थी और रमेश भी उदासीन नहीं था। रमेश की टेढ़ी-तीखी बातें चुभती अवश्य थीं और कड़ुवी भी लगती थीं परन्तु उनमें चिकनी सुपारी का कड़ुवापन था जो चबा डालने पर मिठास देती है।

रमेश घर पहुँचा। पिता ने पूछा, 'आज इतनी देर कहाँ की?'

'ज़रा सुबोध के घर चला गया था।'

रमेश अन्दर गया। कपड़े बदले। कुएँ से दो बाल्टी पानी खींचकर लाया। माँ से दो चार बातें की। इन्दु को देखा, कशीदा काढ़ रही थी। पाँच-दस मिनट उसके पास बैठा, फिर अपने छोटे भाई महेश को पढ़ाने बैठ गया।

रमेश के पिता बाबू रामचन्द्र म्युनिसिपैलिटी में क्लर्क थे। पचास रुपये वेतन मिलता था। परिवार अच्छा था : पत्नी, दो पुत्र — रमेश और महेश — और एक पुत्री इन्दु। बहुधा भगवान् एक ही वस्तु देता है— हृदय अथवा धन। बाबू रामचन्द्र के पास धन नहीं था परन्तु हृदय था। स्वयं नंगे भूखे रह कर किसी भी प्रकार निर्वाह करें परन्तु रमेश की पढ़ने की इच्छा को उन्होंने दबने नहीं दिया। कहते थे कि अरे सन्तान ने भी कभी याद नहीं किया कि ऐसा था हमारा पिता तो पिता बनना ही व्यर्थ। रमेश भी सुपूत था। पाठशाला अथवा विद्यालय के सारे जीवन में द्वितीय आना उसने नहीं सीखा था। घर के सारे काम-काज स्वयं करता था। प्रातः-सन्ध्या थोड़ा बहुत व्यायाम अथवा वायु-सेवन के समय को छोड़ कर कॉलेज से बचा अधिकांश समय माता-पिता भाई-बहिनों में बिता देता। पिता इतना ख़र्च नहीं उठा सकते थे कि सब बच्चे पाठशालाओं अथवा विद्यालयों में पढ़ने जा सकते। भाई-बहिन को रमेश घर पर ही पढ़ता था। इन्दु कोई हिन्दी की परीक्षा देने वाली थी और महेश ने, जिसकी अवस्था लगभग सात वर्ष होगी, तब पढ़ना आरम्भ ही किया था। महेश का पढ़ना भी देखने तथा सुनने से सम्बन्ध रखता था।

रमेश ने पुकारा, 'भय्या, किताब ले आओ!'

पुकार सुनकर महेश बाबू चुपचाप बाहर खिसकने लगे परन्तु पकड़े गये। पूछा गया, 'कहाँ जा रहे हो?'

'कहीं नहीं।'

'कहीं नहीं?'

'उहुँक, पेशाब करने जा रहा था।'

'तो जल्दी जाओ फिर किताब लेकर आना।'

परन्तु महेश एक बार घर से पैर निकाल दे और फिर जल्दी ही पढ़ने के लिये वापस आ जाय— ऐसा मूर्ख नहीं था। रमेश भी जानता था कि महेश बिना उसके गये वापस आने वाला नहीं, फिर भी थोड़ी देर उसकी प्रतीक्षा करता रहा और अन्त में जब उसे ढूँढने के लिये गया तो देखा कि महेश बाबू अपने से दो वर्ष छोटी रमा का हाथ पकड़े चले आ रहे थे। रमेश एक बार तो दोनों को देखते ही हँस पड़ा। दोनों एक दूसरे का हाथ पकड़े साथ साथ आते कितने सुन्दर लग रहे थे! परन्तु रमेश को तो पहले पढ़ाई से उठकर भाग आने के लिये महेश पर बिगड़ना था। कड़े स्वर में बोला, 'पेशाब करने के बहाने भाग आया, क्यों?'

'भागा कहाँ ?'

'फिर ?'

'धीरे धीरे आया।'

'क्यों आया ?'

'रमा को छुड़ाने आया था।'

'क्यों, रमा को क्या हुआ था ?'

'दुन्नी उसे तंग कर रहा था, मैंने दुन्नी को मार दिया।'

रमेश चुपचाप खड़ा हुआ उस मध्य-युग के वीर को देखता रहा जो अपने पढ़ने आदि की परवाह न करके केवल अपनी नायिका— (रमा मुहल्ले के बच्चों में सबसे सुन्दर थी और महेश के साथ सबसे अधिक रहती थी)— को बचाने के लिये आया था और बड़ी तृप्ति तथा गर्व के साथ अपनी वीरता का बखान करके प्रसन्न खड़ा था मानो अपनी मुद्रा से कह रहा हो, 'उँह भाई जी! पढ़ना लिखना भी कोई आवश्यक है ? उससे अधिक आवश्यक तो रमा को बचाना था और उसके पश्चात् पारितोषिक रूप में कुछ देर उसके साथ खेलना था।' रमेश मन ही मन हँसा परन्तु प्रकट कहा, 'जी हाँ, खेलने का तो आपको विचार भी नहीं होगा।'

यह व्यंग महेश समझा या नहीं— यह तो नहीं कहा जा सकता, हाँ खेलना शब्द सुनकर इतना अवश्य समझ गया कि भाई जी खेलने के ही सम्बन्ध में बिगड़ रहे हैं और जो सफ़ाई उसने दी है वह यथेष्ट नहीं है। कुछ और भी कहना पड़ेगा और साथ में साक्षी भी दिलानी होगी। वह तुरन्त बोला, 'नहीं भाई जी सच, मैं खेलने नहीं आया था। दुन्नी इसे मारता था। यह चिल्ला रही थी— क्यों रमा तू रो नहीं रही थी ? (उत्तर में रमा ने सिर हिला दिया) — तब मैंने दुन्नी को पटक दिया और इसके साथ आ रहा था.........' और इसके पश्चात् उसने अपनी मुद्रा से यह प्रकट किया, 'आप तो यों ही दुखी हो रहे हैं और मुझे तो दुखी करते ही हैं। भला ऐसी क्या जल्दी पड़ी थी आपको आने की!'

रमेश के मुख पर यह प्रश्न आते आते रह गया कि दुन्नी रमा को क्यों मारता था, क्योंकि वह जानता था कि इस प्रश्न का उत्तर संध्या से पहले समाप्त नहीं होगा क्योंकि उत्तर देने में महेश बाबू अपनी कल्पना से भी काम लेंगे, बीच में बहुत सी त्रुटियाँ भी होंगी ही, जिन्हें रमा सुधारना चाहेगी और फिर इस बात पर दोनों में झगड़ा चलेगा कि कौन ठीक कहता है— यद्यपि अन्त में महेश बाबू ही जीतेंगे, क्योंकि उनके पास सदा एक ब्रह्मास्त्र तैयार रहता था, 'अच्छा अबकी बार पिटेगी तो नहीं बचाऊँगा।' यही सब सोच कर रमेश ने मन के प्रश्न को दबा कर कहा, 'अच्छा अब आप घर चलिये।'

इस बात पर महेश चला तो परन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि उसकी इच्छा ऐसी है कि यदि एक पग आगे चला जाय तो दो पग पीछे। रमेश अब सचमुच चिढ़ गया। क्रुद्ध होकर पूछा, 'अब चलता क्यों नहीं ?'

महेश अपने भाई जी के 'मूड' को पहचानता था। मूड अच्छा नहीं था। फिर भी एक बार और प्रयत्न करने में उसने कोई हानि नहीं समझी। सहमते हुए कहा, 'रमा को उसके घर छोड़ आऊँ ?'

'अब यदि ज़रा भी चीं-चपड़ की तो गुद्दी पर कस कर पड़ जायगा।'

महेश चाहे गुद्दी जानता हो या न जानता हो, इस वाक्य का अर्थ समझने में उससे भूल नहीं हो सकती थी। चुपचाप खड़े हो कर रमा को आवश्यक उपदेश दिये और समझा बुझा कर स्वयं रमेश के साथ चला परन्तु बीच बीच में मुड़ कर पीछे देखता रहा। रमा बेचारी भी जब तक महेश दिखाई देता रहा तब तक एक ओर गर्दन लटकाए उसी ओर देखती रही और महेश के मुड़ जाने पर चुपचाप अपने घर चली गई।

घर आते ही रमेश महेश को पढ़ाने बैठ गया। पहला प्रश्न उसने पूछा, 'पहाड़े कहाँ तक याद हैं ?'

'पहाड़े ?'

'जी हाँ, पहाड़े।'

'पहाड़े ! दस तक।'

'और कल तो बारह तक सिखलाए थे।'

'वो भूल गया।'

'क्यों भूल गया ?'

'याद नहीं रहे।'

रमेश को क्रोध तो बहुत आया परन्तु क्या करता। वह जानता था कि महेश को पहाड़े वैसे पूरे बारह तक याद होंगे परन्तु उस समय तो कदाचित् दो का भी याद न होगा। परन्तु उससे वाद-विवाद करना व्यर्थ था क्योंकि उसने भूलने का सरलतम कारण बतला दिया था जिसे कोई काट नहीं सकता था। 'क्यों याद नहीं रहे ?' पूछ कर रमेश अनावश्यक प्रश्नों की एक और लड़ी आरम्भ नहीं करना चाहता था। बोला, 'अच्छा, नौ का पहाड़ा सुनाओ।'

'नौ का ?'

'जी हाँ नौ का।'

'नौ एकम नौ, नौ तिया सत्ताइस...'

'नौ दूनी ?'

'नौ दूनी अठारह।'

'फिर ?'

... फिर महेश चुप।

'दोबारा सुनाओ।'

'नौ एकम नौ, नौ दूनी अठारह, नौ तिया सत्ताईस, नौ चौक छत्तीस, नौ अट्ठे बहत्तर..... ' और चटाक् से महेश के गाल पर चाँटा पड़ गया। बस प्रलय हो गया! वह तो पहले ही भरा बैठा था? 'क्या आनन्द से खेल रहे थे। बड़े आए वहाँ से पढ़ाने वाले की दुम बन कर। सारा मज़ा किरकिरा कर दिया। और फिर सोचना चाहिये था कि जब अभी अभी उसके मस्तिष्क को इतना बिगाड़ दिया है तो पहाड़े में एक आध भूल तो होगी ही। और फिर नौ का पहाड़ा! जिसके विषय में महेश का विश्वास था कि जीवन भर याद करने पर भी ठीक ठीक याद नहीं होगा। और आज ही क्या विशेष बात हो गई जो ले कर तड़ से जड़ दिया! और दिन भूल होती थी तो मारने की धमकी अवश्य देते थे, पर कुन्दे तोल तोल कर रह जाते थे मारते नहीं थे— बल्कि साथ साथ भूल सुधार देते थे'— यही सब सोच विचार कर महेश ने अपने स्वर-तंतुओं की शक्ति का विराट् प्रदर्शन आरम्भ कर दिया। उसे चिल्लाते देख रमेश ने एक और जमा दिया, 'सुअर फैल मचाता है? रो कर डराना चाहता है?' और तभी रमेश की माता जी गर्जन-तर्जन करती हुई रसोई में से निकल आईं। इन्दु हाथ का फूल निकालना छोड़ भागी आई और बाबू रामचन्द्र हुक्के की नली मुँह से निकाल कर दीवार के सहारे टिका कर उठे और बोले, 'अरे क्या कर रहा है, रमेश?'

पिता जी तो इतना कह कर चुप हो रहे पर माता जी बोलती ही रहीं, 'आज ही जान मारेगा उसकी? बड़ा आया पढ़ाने वाले का बच्चा चल के। तू तो जैसे पढ़-लिख कर इतना ही बड़ा पैदा हुआ था। हमें नहीं पढ़वाना। हमारा गँवार ही अच्छा। बहुत होगा मास्टर लगा लेंगे।'

'जब काम नहीं करेगा तो मास्टर क्या छोड़ देगा?' रमेश ने तर्क किया।

'काम क्यों नहीं करेगा। अभी बच्चा ही तो है। धीरे धीरे सब सीख लेगा। अपने दिन भूल गया?'

'मैं इसकी तरह मूर्ख थोड़े ही था।'

'हाँ, तू तो बड़ा चतुर था। दो दूनी बीस तू ही बतलाया करता था और आलमारी को अलाली कहना तो तूने बुड्ढा हो कर छोड़ा। तुम अपने दिन भले ही भूल जाओ, हमें तो सबके याद हैं।'

इस पर सब हँस पड़े। स्वयं रमेश को भी हँसी आ गई। महेश चिल्लाना कब का भूल चुका था। वह अकड़ता हुआ और बार-बार रमेश की ओर देखता हुआ अपनी माता जी के साथ रसोई में चला गया।

थोड़ा झुटपुटा हो गया था। रमेश उठा। थोड़ी दूर घूमने गया। जब घूम कर लौटा तब तक खाना बन चुका था। तीनों बाप बेटे एक साथ खाने बैठे। रमेश और महेश ने एक थाली में खाना खाया। खाना खा कर रमेश थोड़ी देर समाचार-पत्र पढ़ता रहा। फिर अपने कोर्स की पुस्तकें पढ़ता रहा। पास ही इन्दु भी अपनी पुस्तकें ले कर बैठ गई। बीच बीच में वह कुछ पूछती तो समझा देता। इस प्रकार दो घंटे पढ़ कर एक अंगड़ाई ले वह उठ खड़ा हुआ। अपने पिता जी के लिये एक चिलम तम्बाकू भर कर रक्खी। सिरहाने रक्खे लोटे से पानी पिया और लेट रहा और थोड़ी ही देर पश्चात् स्वप्नलोक में विचरण करने लगा।

३

कहते हैं— 'सुबह होती है शाम होती है, ज़िन्दगी यों ही तमाम होती है।' परन्तु जितनी सरलता से यह कह दिया जाता है उतनी सरलता से न सुबह होती है, न शाम होती है। सुबह और शाम, शाम और सुबह के बारह बारह घंटों के बीच ही ऐसी ऐसी घटनाएँ घटती हैं जिनसे यह निश्चित होता है कि जो ज़िन्दगी तमाम हो रही है या होने वाली है, वह 'आदमी की ज़िन्दगी' कही जाने योग्य है भी अथवा नहीं। इसी बीच में कितनी बातें ऐसी होती हैं जिनसे हम कितनों के पास आते हैं, कितनों से दूर हटते हैं, कितने पराये अपने हो जाते हैं और कितने अपने भी पराये हो जाते हैं। प्रेम घृणा, द्वेष वैमनस्य, आह्लाद, विषाद— सभी भावों का प्रदर्शन उन्हीं घटनाओं को केन्द्र मान कर होता है। इसी सुबह और शाम के वृत्त में ही तो संसार-चक्र निरन्तर घूर्णित है।

दो अगस्त १९४२ के प्रातःकाल रमेश एक अंगड़ाई ले कर बिस्तर से उठा। नित्यकर्म से निवृत हो, हाथ मुँह धो कर वह इन्दु को पढ़ाने बैठ गया। एक घंटा इन्दु को पढ़ा कर, महेश को दिन में करने के लिये काम देकर और यह बात उसके मस्तिष्क में भलीभाँति बैठा कर कि संध्या को काम न दिखला सकने पर खूब धुलाई होगी, रमेश अपने कार्य में लगा। थोड़ा बहुत पढ़ा और फिर कॉलेज जाने की तैय्यारी करने लगा। उसने कुएँ से पानी खींचा, नहाया, कपड़े बदले, खाना खाया, कराहती हुई और सदा-रोगिणी साइकिल में हवा भर कर सुबोध के घर पहुँच गया। सामने ही सरोज मिली। हाथ जोड़ कर नमस्ते की, परन्तु सरोज का पहली संध्या का मान भंग नहीं हुआ था। चुपचाप दोनों हाथ जोड़ लिये और जाने लगी।

'सुबोध कहाँ है?' रमेश ने पूछा।

'अन्दर हैं।'

'यह तो मैं भी जानता था।'

'फिर पूछा क्यों?'

रमेश कुछ देर चुपचाप बैठा रहा और सोचता रहा, समझता रहा कि सरोज मान कर रही है। सहसा पूछा, 'आप क्रुद्ध हैं क्या?'

'लड़कों को इतनी जल्दी भ्रम क्यों हो जाता है ?'

'लड़कियों को इतनी जल्दी क्रोध क्यों आ जाता है ?'

'क्रोध ? नहीं तो, मुझे तो क्रोध नहीं आया।'

'मैंने यह कब कहा कि आपको क्रोध आया ? मैं तो साधारण रूप से सब लड़कियों की बात कर रहा था यद्यपि इस समय आशय आप से ही था क्योंकि आप की बातों से प्रतीत होता है कि आप प्रसन्न नहीं हैं।'

इन वाक्यों को सुनते-सुनते सरोज के मुख का भाव तीन बार बदला। वह खिसिया गई, क्रुद्ध गई और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते फिर अपनी बात ऊपर आती देख किञ्चित — अ — अर्थात् उतनी अप्रसन्न नहीं रही और बोली ही, 'मैंने कह तो दिया कि अप्रसन्न नहीं थी।'

'अच्छा तो इसी बात पर सुबोध से कह दीजिये कि कॉलिज चले। देर हो रही है।'

सरोज अन्दर चली गई। अन्दर आकर सरोज़ ने सुबोध से कहा,

'भैय्या तुम्हारा डमी बैठा है।'

'अरे डमी आ गया' सुबोध ने कहा और 'अबे ! डमी' कहता हुआ बाहर आया।

'अबे-तबे बाद में करना, जल्दी चल।'

'कितनी देर हुई आए हुए ?'

'यह रास्ते में पूछना।'

'अच्छा तो मैं अब आया एक मिनट में, मेरे प्यारे डमी।'

प्रत्येक वस्तु का एक इतिहास है। सड़क के किनारे खड़े हरे दूब के पौदे और सड़क के रोड़े की भी एक कहानी है। इसी प्रकार 'डमी' की भी एक कहानी है। रमेश का पूरा नाम था रमेश चन्द्र सिनहा परन्तु घर में प्यार से कहा जाता 'रामी' और कक्षा के कुछ साथी हँसी हँसी में रामी को 'रमी' पर खींच लाए जिसे सुबोध ने बिगाड़ कर कर दिया 'डमी'। सरोज जब कभी रमेश से चिढ़ती तो सुबोध से कहती, 'वह आया तुम्हारा डमी।'

दोनों कॉलिज चले। कॉलिज में उस दिन उनका रसायन का प्रयोग था। दोनों बी. एस-सी. के अन्तिम वर्ष के छात्र थे। दोनों एक दूसरे के भागीदार थे और एक ही मेज़ पर काम करते थे।

कक्षा का कार्य आरम्भ होने के लगभग एक घण्टा पश्चात् रमेश एक मिश्रण का विश्लेषण कर रहा था और सुबोध डाइइथाइल ईथर तैयार कर रहा था। काँच की गोल डिस्टिलिंग फ्लास्क में तीव्र गन्धकाम्ल था। ऊपर से ड्रॉपिंग फ़नल द्वारा शुद्ध अलकोहॅल, अम्ल में डाली जा रही थी। दोनों द्रव गर्म किये जा रहे थे। फ्लास्क से एक लीबिग कंन्डेंसर* जुड़ा था जिसके अन्त में कॉर्क द्वारा जुड़ा हुआ एक तिकोना फ्लास्क, ईथर इकट्ठा करने के लिये, बर्फ में दबा, रक्खा था। ईथर की वाष्प को आग से बचाने के लिये तिकोने फ्लास्क से एक नली पानी के सिंक की ओर चली गई थी। शीघ्रता करने के लिये सुबोध ने डिस्टिलिंग फ्लास्क के नीचे रक्खे सैंड-बाथ के नीचे तीन तीन बर्नर लगा दिये थे— यद्यपि केवल १४०° सें० तक ही गर्म करना था। सहसा रमेश ने उस ओर देखा। द्रव खूब तेज़ी से उबलना आरम्भ हो गया था। उसने चिल्लाकर सुबोध से बर्नर हटाने के लिये कहा। इतने सुबोध बर्नर हटाए, उबलना और भी तीव्र हो गया और एक छोटी सी चटाक् की ध्वनि हुई। इससे पहले कि सुबोध कुछ कहे और समझे रमेश ने विद्युत्-गति से सुबोध के कन्धे पकड़ कर एक दम घुमा कर उसे अपने सामने ले लिया और अपनी पीठ मेज़ की ओर करके सुबोध को शीघ्रतापूर्वक धकेल कर आगे ले जाने लगा। तभी ज़ोर से 'भट्' की ध्वनि हुई और फ्लास्क का उबलता हुआ द्रव रमेश की पीठ पर गिर पड़ा······

जिसने कभी अम्लों से कार्य किया है अथवा उनके गुणों से परिचित है, वह समझ सकता है कि उबलता हुआ तीव्र गन्धकाम्ल क्या कुछ नहीं कर सकता। यहीं तक नहीं, साथ में अलकोहॅल जो थी। उबलती हुई अलकोहॅल जैसे ही फ्लास्क से बाहर निकली, उसने आग पकड़ ली और जहाँ जहाँ भी गिरी जलने लगी। रमेश की पीठ पर भी अलकोहॅल जल रही थी। जिस स्थान पर अम्ल का छपाका पड़ा था वहाँ कपड़े तो साथ ही साथ गल ही गये, नीचे का माँस भी गल गया। पीड़ा से आर्त्तनाद करके रमेश औंधा गिर पड़ा और भूमि पर लोटने लगा। मेज़ पर अलकोहॅल जल रही थी।

एक साथ यह गड़बड़ देख कर लड़कों के हाथ पैर फूल गये। प्रयोगशाला में धड़ाके और आग से उथल-पुथल सी मच गई। लड़के अपना अपना स्थान छोड़ कर दौड़े। किसी को जल्दी ही सूझी। एक ने मेज़ पर से उठा कर सोडियम कार्बोनेट की शीशी रमेश की पीठ पर और जहाँ जहाँ द्रव पड़ा था— उलट दी और एक लड़के ने अपना कोट उतार कर रमेश के चारों ओर लपेट दिया जिससे आग बुझ गई। दो चार आर्त्तनाद करके रमेश पीड़ा के कारण संज्ञा-शून्य हो गया।

---

* लीबिग कन्डेन्सर: किसी द्रव की वाष्प को ठंडा करके फिर द्रव में परिवर्तित करने का उपकरण।

४

गाँव का कुआँ भी एक आश्चर्यजनक वस्तु होता है। सरसरी दृष्टि से देखने पर उसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं मिलता। कहा जा सकता है कि कुआँ वह गड्ढा है जिसे लोगों ने अपनी जल की आवश्यकता-पूर्ति के लिये अधिक गहरा करके पक्का बनवा लिया हो। और उसका आकार यद्यपि निश्चित नहीं होता फिर भी साधारणतः वह गोल ही होता है और उस गोलाई का व्यास अधिक नहीं होता। चौकोर हो जाने से वह बावड़ी हो जाता है, फिर भी, चौकोर कुएँ भी पाए जाते हैं आदि आदि ······ परन्तु संसार में मनुष्य के विचारों तथा उसके भेदों का मूक साक्षी जितना अधिक कुआँ है उतना कदाचित् ही और कुछ हो।

भगवंतपुर गाँव का पुराना कुआँ भी वहाँ के किसी भी वर्तमान निवासी के जन्म लेने से पहले से ही गाँव के निवासियों के अगणित भेदों का मूक साक्षी रहता चला आया था। उसकी जगत पर बैठ कर गाँव की वृद्धाएँ कपड़े अथवा पुराल का हींडुवा (सिर पर पानी का बर्तन ठहराने के लिये गोलाकार गद्दी) सिर पर रक्खे और अपने सूखे-सूखे हाथों को, जिनकी खाल अवस्था के प्रभाव से माँस से अलग हो कर झूलने लगी थी, नचा-नचा कर अपनी बहू बेटियों की चर्चा करती थीं तथा विभिन्न गाँवों के मरे-जीतों की सूचना एक-दूसरी को देती रहती थीं। बड़े-बूढ़े, बैलों को पानी पिलाते समय, आजकल के नवयुवकों की तुलना अपने समय के युवकों से करते थे। एक दिन पंडित कन्हैयालाल ठाकुर बिसनसिंह से कह रहे थे, 'अरे बिसना भाई, अब वो दिन नहीं रहे जो बेटे बाप का कहना मान लें। अब तो सरम-मरजाद ही आँखों से निकल गई। काम इनसे नहीं होता। अब तो बस बालों में पावभर तेल डाल लिया और बेसवाओं की तरह पत्ते निकाल लिये। इन्हें कसरत से काम नहीं, कुश्ती-दंगल से मतलब नहीं। राम राम, क्या समा आ गया है! किसी का बदन ही नहीं दिखाई देता। गुरसल की सी छाती लिए फिरते हैं········तुझे याद है जब हम राधे के बाग़ वाले अखाड़े में बद-बद कर हज़ार पाँच सौ डंड रोज़ लगा लेते थे? अब तो कोई पाँच डंड लगा लेगा तो तीन दिन खाट से नहीं उठेगा······हरे कृष्ण! हरे कृष्ण!'

'उन दिनों वाली बात कहाँ रही कन्हैया भाई! मेरी वाली मुग्दर की जोड़ी अब लाख कीड़ों ने खा ली फिर भी गाँव के किसी जवान से नहीं हिलती।'

युवकों के लिये कुआँ दिल के फफोले फोड़ने का सबसे उपयुक्त स्थान था। अकेले रहने पर वे कुएँ के पास की झाड़ियों या पेड़ों के झुरमुट में बैठ कर किसी की प्रतीक्षा करते और कई आदमियों के साथ होने पर वहीं अपने बल की बड़ाई और बुड्ढों की बुराई करते। कहते, 'बुढ़ापे में बुद्धि मारी जाती है, सठिया जाते हैं। कोई भी बात कहो, उल्टी ही लगेगी। मेले में जाने को कहा था तो बस उसी पर बिगड़ पड़े जैसे अपने दिनों में तो गये ही नहीं थे— और ऊपर से एक बोझ चरी कुट्टी काटने के लिये रख दी.........' या फिर 'आजकल तो 'अ' की लौंडिया पर रंग आ रहा है। जिधर से निकल जाती है सबको 'कतल' करके धर देती है। 'ब' की तक़दीर अच्छी है। चांद सी लुगाई हाथ लगी है। पर है साला हूर की बग़ल में लंगूर........।' और युवतियों की बातें ? बहुएँ—यदि सब बहुएँ ही होतीं, जैसा कि बहुधा कम ही होता—तो— अपनी-अपनी सास, ननद, देवरानी, जेठानी की नक़लें उतारी जातीं। सावित्री की बहू घड़ा भूमि पर रख, पीठ पर हाथ रक्खे, झुकी-झुकी खाँसती आती और कहती, 'अरी बहू ! कहाँ अलोप हो गई ? आह......ऊह। भाई, मेरा तो अब तेल जल लिया, मुझसे तो अब चला फिरा नहीं जाता...... ज़रा एक गिलास 'चहा' दे दे... मुझसे तो काम नहीं होता, पर क्या करूँ मेरे तो भाग ही खुल गये। ऐसी सुलच्छनी पल्ले पड़ी कि न कूटने की न पीसने की। चक्की की न चूल्हे की। बस जब देखो माँग-पट्टी। दोपहर होने पर तो पटरानी सो कर उठती हैं। मैं अपने आप न मरूँ तो क्या करूँ ? हे राधाकिसन जी अब तो मुझे बुला लो.........' और युवती कुमारियाँ एक-दूसरे से 'गबरू जवानों' की बातें करतीं,— कैसे, कौन, कब उसकी ओर देखकर मुस्कराया था और कैसे गाना गाया था, 'चुरा ली गर किसी की चीज़ तो क्या आप की हो ली' और कैसे उसकी भाभी ने उसके भैया को बिल्कुल मदारी का बन्दर बना लिया है आदि ....।

केवल हँसी-खुशी के उद्गार, युवक, युवती, बाल-वृद्ध की आलोचना-समालोचना ही वह कुआँ नहीं सुनता आया था बल्कि राधा की दुखिया बहू, सुमेरा की कुँवारी छोकरी— जिसके गर्भ में बच्चा होने का सन्देह किया जाता था—, और बुढ़िया मगनदेई के डूब कर मरने का भी वह कुआँ साक्षी था।

भगवन्तपुर में दो-एक घर चमारों के छोड़ कर शेष सब सवर्ण हिन्दुओं के थे। गाँव में दो कुएँ थे, उनमें से एक कुआँ ज़मींदार ने कुछ ही दिन पहले अपनी हवेली के पास बनवाया था। ज़मींदार की हवेली गाँव से अपेक्षाकृत दूर होने के कारण और कुछ ज़मींदार के कारिन्दों अथवा मज़दूरों के कारण जवान बहू-बेटियाँ अथवा स्त्रियाँ इस कुएँ पर कम ही जाती थीं। लड़के अथवा बड़े-बूढ़े उस पर अवश्य चले जाते थे। गाँव की अधिकांश जनसंख्या पुराने कुएँ से ही पानी भरती थी। चमारों के दो एक ही घर होने के कारण वहाँ पर उन लोगों के लिये अलग कुआँ नहीं था। इससे

उन्हें बड़ी कठिनाइयाँ सहनी पड़ती थीं। इस विषय में उन्हें एक दम दूसरों की दया पर निर्भर रहना पड़ता था। जब कोई कुएँ पर होता तो वह उनके घड़े में पानी डाल देता, नहीं तो बेचारों को प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ता था। इसी बात को ध्यान में रखकर शंकर ने कई बार सोचा कि वह गाँव छोड़कर पास ही के गाँव लछमनपुर चला जाय जहाँ चमारों की काफ़ी बस्ती थी और जहाँ उनके लिये अलग कुआँ था। परन्तु वह सदा सोच कर ही रह गया। आश्चर्य है कि शंकर ने जीवन के उतने वर्ष वैसी कठिनाई में कैसे व्यतीत कर दिये थे; कजरी तो उतने ही दिनों में इससे तंग आ गई थी। यद्यपि उसे कभी-कभी ही पानी लेने जाना पड़ता था फिर भी उतने ही दिनों में उसका मन विक्षोभ से भर उठा था। प्रत्येक बार जब वह पानी लेने जाती, बड़बड़ाती ही जाती। कदाचित् यही एक ऐसा कार्य था जिसे वह अत्यन्त अनिच्छा-पूर्वक करती थी।

एक दिन संध्या के समय जब सूर्य जल्दी-जल्दी, कदाचित् किसी से भेंट करने के लिये भाग रहा था और पीछा करते हुए अंधकार की ओर क्रुद्ध दृष्टि से देखता हुआ पश्चिम की पहाड़ियों की ओट में छिपा जा रहा था, कजरी घड़ा लेकर कुएँ की ओर चली। भाग्य की बात— उस समय कुएँ पर सब स्त्रियाँ ही थीं। गाँव की युवतियाँ विशेष रूप से, परन्तु वास्तव में सभी स्त्रियाँ—जमींदारनी को छोड़ कर— चमार की इस लड़की से कुछ द्वेष रखती थीं। युवतियाँ उससे इसलिये जलतीं कि चमार की लड़की हो कर भी वह उतनी सुन्दर तथा आकर्षक थी और कभी-कभी उसके विषय में युवकों में होने वाली चर्चा घट-बढ़ कर विभिन्न मार्गों द्वारा उनके कानों तक पहुँच ही जाती थी। इसके अतिरिक्त पानी ही नहीं लगभग सभी बातों में उनकी— द्विजातियों की— आश्रित होने पर भी कजरी में वह दीनता नहीं थी जो अवर्णों— विशेषतः ग्रामीण अवर्णों— में पाई जाती है। कजरी बोलती बहुत कम थी। उसकी चुप्पी को— जो चाहे किसी भी कारण रहती हो— वे लोग उसके गर्व का चिह्न समझती थीं। कजरी जब उनसे दो-चार इने-गिने शब्दों में, बिना अनुनय-विनय या दीनता प्रकट किये कहती तो ऐसा प्रतीत होता मानो वह अपना अधिकार, अपना प्राप्य, मांग रही है। उसकी आवाज़ धीमी-सी फुसफुसाहट से ऊपर कदाचित् ही कभी उठती हो परन्तु वह अपनी मुद्रा से कहती प्रतीत होती थी, 'तुम मेरा घड़ा भर कर मुझ पर कुछ दया नहीं कर रही हो। तुम लोगों ने हमें जो कुआँ छूने से मना कर रक्खा है उसके बदले में ही यह करती हो। उस प्रकार तुम अपना बड़प्पन बनाए रखना चाहती हो तो उसके लिये कुछ कार्य भी तो करो•• ••••' इस बात से वे और भी कुढ़ती थीं। कजरी उनकी हाँ में हाँ नहीं मिलाती थी। उसे औरतों के बीच में बैठकर इसकी बेटी, उसकी बहू, सरला की ननद और लीला की भाभी की नक़लों से घृणा थी।

तो कजरी कुएँ पर पहुँची। पंडित हरिशरण की लड़की शकुन्तला, जिसके विवाह की बात राजपुर में चल रही थी, बड़े मज़े से बतला रही थी कि किस प्रकार

उसका होने वाला पति उसे छिप कर देखने आया था। वह कह रही थी, 'अरी देख तो रोसी ! बाबू जी अपने आप को बड़ा चंट समझते थे। सोचते थे कि चार दिन शहर में क्या पढ़ लिये, दुनिया भर से चतुर हो गये। मैं कुएँ पर अकेली पानी भर रही थी कि आप उस पीपल के पेड़ के नीचे से निकले और सामने आ कर बोले, "पानी पिला दीजिये प्यास लगी है।"— सच एक बार तो मेरे हाथ से घड़ा छूटते छूटते बचा।'

'क्यों री, तुझे कैसे पता चला कि यह वही है ?' रोसी ने पूछा।

'मुझे पता चल गया था पहले ही।'

'किससे ?'

'रम्भा के भाई जी ने बतलाया था।'

यह सुनते ही सब खिलखिला कर हँस पड़ीं। रोसी ने कहा, 'अच्छा ...... यह बात है !'

'यह बात क्या री, चुड़ैल ?' शकुन्तला ने झूँठ-मूठ झुँझला कर कहा।

'कुछ नहीं बेचारे रम्भा के भाई जी के बारे में सोचती थी।'

सबको ज्ञात था कि रम्भा का भाई शकुन्तला से विवाह करना चाहता था और शकुन्तला भी असहमत नहीं थी परन्तु गाँव के गाँव में यह नहीं हो सका। रम्भा के भाई का विवाह दूसरे गाँव में हो चुका था और शकुन्तला की बात राजपुर में चल रही थी।

'हाँ तो फिर घड़ा नहीं फूटा ?' एक युवती ने पूछा।

'नहीं, बच गया। मैं भी पानी भर कर उसे पिलाने लगी। थोड़ी देर तो हाथों के ऊँजले में पानी डालती रही, फिर एक साथ खूब सारा पानी सिर और मुँह पर डाल दिया। वह उछल कर दूर हट गया और बुरी तरह घूरने लगा। तब मैंने कहा, "बाबू जी, फिर किसी लड़की को देखने मत जाना" वह खिसिया कर चुपचाप चला गया।'

इस पर बड़ी देर हँसी होती रही। रोसी ने कहा, 'बेचारा तेरी याद में दिन-रात घुल रहा होगा।'

'हट कलमुँही ! मेरी याद में क्यों घुलता !'

कजरी तब तक उनकी इन व्यर्थ बातों को सुन रही थी। वह धीरे धीरे अशान्त होने लगी थी। अंधेरा हो चला था। गाय घर आ गई होगी। सुखवा भी खेल-खाल कर आ गया होगा। रोटी बनानी है। — यही विचार उसे तंग कर रहे थे। वह कुछ बेचैनी से बोली, 'बीबी जी, पानी डाल दो।'

'ओह ! तू खड़ी है कज्जो ?' रोसी ने कहा, 'बैठ जा ··· ······।'

'मुझे देर हो रही है बीबी जी। काम बहुत करना है।'

'ओहो ! हम तो जैसे घर से निकाले हुए हैं ! फ़ालतू ही हैं ! हमें तो काम करना ही नहीं है !'

कजरी ने मन में कहा, 'ढंग से तो ऐसा ही लगता है कि कुछ नहीं करना है।' परन्तु प्रकट कहा, 'तुम लोग बड़े आदमी हो, बीबी जी। काम करने वाले और बहुत ·········'

'ऐहै ! हमारे यहाँ और काम करने वाले देख कर तुझे क्यों जलन होती है री !' ठाकुर रामसिंह की बहू दुर्गा ने कहा।

कजरी अपने होंठ काट कर चुप रह गई। थोड़ी देर ठहर कर कहा, 'बीबी जी, देर हो रही है। पानी डाल दो।'

शकुन्तला, जो फिर अपने होने वाले दूल्हे की बात आरम्भ कर चुकी थी, उसका हस्तक्षेप सहन नहीं कर सकी। वह चाहती थी कि खूब रोचक बना कर अपने उस छोटे से रोमांच का वर्णन करे। तिनक कर बोली 'ओहो ! बड़ी रानी बनी है, आज्ञा देने वाली ! ऐसे आज्ञा देनी थी तो राजा के घर पैदा हुई होती न, चमार के घर क्यों हुई ? हम क्या तेरे बाप·········' परन्तु कुछ सोच कर आगे नहीं कहा।

कजरी समझकर भी खून का सा घूँट पीकर अनजान बन गई और शकुन्तला की पहली ही बात का उत्तर दिया, 'बीबी जी, अमीर-ग़रीब के घर पैदा होना अपने बस का तो है नहीं और नहीं तो रानी होने को किसका जी नहीं करता ?'

कजरी सीधी थी अवश्य और बहुधा किसी से भी मतलब भी नहीं रखती थी फिर भी युवति-सुलभ प्रकृति-विशेष के कारण गाँव की युवतियों के विचार उसे पता चल ही जाते थे। यह बात ऊपर से सीधी थी परन्तु था शकुन्तला पर तीव्र व्यंग। शकुन्तला गाँव की कुमारियों में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों में थी और उसे अपने रूप पर उचित गर्व भी था। यद्यपि एक समय युवावस्था की झोंक में वह रम्भा के भाई से विवाह करने पर सहमत थी परन्तु उसकी कितनी एकान्त इच्छा थी कि उसका विवाह किसी भूपति-परिवार में हो। एक बार पहले जब गुजराड़ा के ज़मींदार के लड़के से उसके विवाह की चर्चा चली थी तब वह पहले ही बड़े गर्व से अपने आप को ज़मींदार घराने की बहू समझने लगी थी और बात-बात में 'उस घर' का निर्देश करने लगी थी। परन्तु किन्हीं अज्ञात कारणों से वह बात टूट गई थी। लोगों ने यही निष्कर्ष निकाला था कि पंडित हरिशरण कई गाँवों के पुरोहित और अच्छे खाते-पीते आदमी होते हुए भी गुजराड़े के ज़मींदार की तुलना में नहीं ठहर सकते थे। कुछ भी हो

शकुन्तला व्यंग को समझ गई और एड़ी से चोटी तक जल उठी। चिल्लाकर बोली, 'हे भगवान् ! नीच जाति को मुँह लगाने का ही यह फल है। कतरनी सी जीभ चलाए जा रहा है। आखिर है तो कमीन ही ....'

कजरी बरसों से भरी बैठी थी। अब सहन नहीं हुआ। वह भी स्वर को ऊँचा करके बोली, 'शकुन्तला बीबी, बहुत सुना, पानी देना हो तो दे दो नहीं तो ....'

'नहीं तो क्या री ?'

'मैं अपने आप कुएँ से पानी ले लूंगी।'

ओह ! हद हो गई ! आश्चर्य है धरती नहीं फटी, आकाश नहीं टूटा और वज्र नहीं गिर पड़ा। उपस्थित मंडली उस बात से एक बार ऐसी स्तब्ध रह गई कि किसी के मुँह से बोल ही नहीं निकला। वे केवल फटी आँखों से कभी एक-दूसरी की ओर और कभी चुनौती-देती-हुई-सी कजरी की ओर देखने लगीं। जिनको कई-कई पीढ़ियाँ उस गाँव में हो चुकीं थी उन्होंने भी कभी ऐसी अनहोनी बात नहीं सुनी थी। एक तो चमार की लड़की होकर सवर्णों के सम्मुख बोले, और फिर यह भी कह दे कि वह स्वयं कुएँ से पानी ले लेगी ! तब उन्हें प्रतीत हुआ कि वास्तव में घोर कलियुग आ गया है और संसार का नाश हुआ ही चाहता है। संसार में सूखा, अकाल, महामारी और युद्ध सब कजरी जैसों के ही पाप के कारण तो होते हैं।

जब वे इस दशा से कुछ उभरीं तो कला चाची, जो गाँव भर की चाची थीं, बोलीं, 'कज्जो ! कलजुग आ गया है कलजुग ! नीच जात हो कर इतनी ज़बान ठीक नहीं होती। पहले कोई नीच इतनी बात कह देता तो खड़े-खड़े जीभ निकलवा दी जाती ....'

'किसकी जीभ निकलवा रही हो चाची ?' पीछे से किसी का गम्भीर स्वर सुनाई पड़ा। उस स्वर को सुनते ही सब खड़ी हो गईं। किसी ने घूंघट खींच लिया और कोई मुँह फेर कर खड़ी हो गई। यह ज़मींदार का लड़का चन्द्रमोहन था।

'शंकर चमार की छोकरी कज्जो को छोड़ कर इतनी ज़बान गाँव भर में किसकी होगी भैया ?'

'क्या किया है कजरी ने ?'

'करती क्या, कहती है आप ही कुएँ से पानी खींच लूंगी।'

एक बार चन्द्रमोहन ने मन में कहा, 'भर लेती तो ठीक ही तो था।' परन्तु प्रकट कहा, 'उसके घड़े में पानी क्यों नहीं डाल दिया ?'

'पानी डालने को मना कौन करता है भैया ? हमेशा ही तो डालते आए हैं। पर रानी जी तो आईं और ऐसे जल्दी मचाने लगीं जैसे कहीं आग लगा कर आई

हों। किसी का हाथ ख़ाली नहीं था तो हज़ार बात सुनाईं और कहने लगी पानी डालना हो तो डाल दो नहीं तो अपने आप निकाल लूंगी। भैया तुम ज़मींदार बच्चे हो। तुम्हीं कुछ कह सकते हो। हमें तो बाबा एक की अठारह सुनाती है। इसके मुँह लग कर कौन नीच जाति से अपनी इज्ज़त उतरवाए।'

कजरी पत्थर बन कर इस सफ़ेद झूठ को सुनती रही। क्रोध के मारे न तो वह रो सकती थी और न उसके मुख से कोई बोल निकला। तभी चन्द्रमोहन ने धीरे से पूछा, 'क्या बात है कजरी?'

जब चन्द्रमोहन ने आत्मीयता से उसकी बात पूछी तो वह कजरी, जो गालियों की वर्षा के बीच दृढ़ खड़ी रही थी, अब अपने आप को न रोक सकी। उसने दाँतों से अपना होंठ इतना दबाया कि उसमें खून निकल आया फिर भी उसके आँसू न रुके और न रुके। उसकी आँखे बरसने लगीं। चन्द्रमोहन कला चाची को भी जानता था और कजरी को भी। ज़मींदारों के घर प्रायः सभी के आचार-विचार तथा स्वभाव पर कभी न कभी टीका-टिप्पणी हो ही जाती थी। फिर कजरी की रोती आँखों ने बतला दिया कि उस गुट्ट के आगे बेचारी को काफ़ी सहन करना पड़ा होगा। परन्तु वह कर ही क्या सकता था। बेबस था? उसने चाची से कहा, 'चाची पानी दे दो।'

'कौन मैं?' चाची ने कहा, 'ना बाबा, मेरे बस का नहीं। पानी भी दूँ और गाली भी खाऊँ। भैया बुरा न मानना, कला चाची इतनी पागल नहीं।'

चन्द्रमोहन कुढ़ गया परन्तु बोला कुछ नहीं। स्वयं एक लड़की का घड़ा उठाया और पानी भरने लगा। कुएँ की ओर मुँह और गुट्ट की ओर पीठ करके जब वह पानी भर रहा था तो उसने कनखियों से देखा कि चाची उस लड़की को अपना घड़ा ले लेने के लिये संकेत कर रही थी। परन्तु लड़की का इतना साहस नहीं हुआ कि बोले। तब चाची स्वयं ही बोली, 'भैया दूसरे का घड़ा छुआ जायगा तो.........'

'चाची!' चन्द्रमोहन ने कड़े स्वर में कहा। चाची का साहस फिर एक भी शब्द बोलने का नहीं रहा। चन्द्रमोहन ने पानी भर कर कजरी के घड़े में डाल दिया और कहा, 'जाओ।'

जब तक कजरी कुछ दूर नहीं चली गई, वह वहीं खड़ा रहा फिर उस लड़की को घड़ा देकर बोला, 'केसी! घड़ा छूत से बिगड़ गया हो तो हवेली से ले आना' और अपने मार्ग चला गया।

कजरी घर पहुँची और घड़ा रख कर फूट-फूट कर रोने लगी। शङ्कर गाय बाँध कर, उसके आगे घास डाल उसकी पीठ और गले के नीचे हाथ फेर रहा था। सुखवा कड़ुए तेल के एक दीपक के सामने— जिसमें एक पुरानी मोटी बत्ती के अति-

रिक्त दो मक्खियाँ और एक पतंगा भी पड़े थे— रीठों से खेल रहा था। कजरी की सुबकियों से वह चौंका। क्षण भर के लिये कोठरी में गया, फिर उसे रोती देख कर उल्टे पैरों शंकर के पास जा कर बोला, 'बाबा, कज्जो रो रही है।'

शंकर घबराया हुआ अन्दर आया और कजरी को हिलाता हुआ बोला, 'क्या हुआ री?'

'कुछ नहीं।'

'तो रोती क्यों है?'

कजरी चुप। शंकर फिर बोला, 'क्या हुआ, बोलती क्यों नहीं?'

'बाबा, मैं अब इस गाँव में नहीं रहूँगी।'

'अरी कुछ बता तो सही, क्या बात है?'

कजरी फिर चुप। कुछ देर पश्चात् सहसा बोली, 'बाबा, मैं चमार क्यों हूँ?'

शंकर पहले तो उसकी पागलपन की बात का कोई उत्तर ही नहीं दे सका। भला यह भी कोई बात हुई कि मैं चमार क्यों हूँ। बोला, 'चमार के घर में जन्म लिया, इसलिये चमार है।'

'मैं चमार के घर क्यों पैदा हुई?'

'अरी कुएँ के पास वाले पीपल के पेड़ पर कुछ दीखा तो नहीं था?'— शंकर ने कहा, 'कितनी बार कहा कि अंधेरे में वहाँ मत जाया कर। उस पर तो ऐसे-ऐसे भूत रहते हैं जिनका मारा पानी भी नहीं मांगता। ठहर, मैं ज़रा पंडज्जी से राख ......'

'मेरी बात का जवाब दो बाबा। मुझे राख-वाख कुछ नहीं चाहिये। मैंने भूत-चुड़ैल कुछ नहीं देखा।'

शंकर बेचारा इस बात का क्या उत्तर दे कि वह चमार के घर क्यों पैदा हुई। थोड़ी देर सोच कर बोला, 'बेटी, भगवान की मर्ज़ी! उसकी कारसाज़ी में किसका दखल? सब उसी के पैदा किये हुए हैं। कोई ग़रीब कोई अमीर, सब उसी की माया है।'

'बाबा! क्या चमार के घर पैदा होने से ही आदमी नीच हो जाता है?'

शंकर इस बात का उत्तर नहीं दे सकता। स्वयं उसकी समझ में यह बात कभी नहीं आई। वास्तव में उसने इस बात पर कभी सोचा ही नहीं था। जब से होश संभाला था यही सुनता आया था कि चमार नीच होते हैं, और कुछ लोग जो अपने आप को उनसे ऊँच मानते हैं, उनसे छूत करते हैं। इस बात को उसने तर्क की

कसौटी पर न कस कर— वह तर्क कर भी कहाँ सकता था— स्वयंसिद्ध मान लिया था। धीरे धीरे बोला, 'सब भगवान्.........'

'भगवान्! कैसा है तुम्हारा भगवान् बाबा? मैं सवेरे से रात तक काम करती हूँ। मैं किसी बात में उनसे कम नहीं हूँ..........'

'उनसे किनसे बेटी?'

'ये ही गाँव की लड़कियाँ। वे सारे दिन एक दूसरे की बुराई और गप्पबाज़ी करती रहती हैं, फिर भी वे ऊँच हैं और मैं नीच हूँ। कला चाची इतना सफ़ेद झूठ बोलती है फिर भी सब उसके हाथ का पानी पीते हैं, उसके हाथ का छुआ खाते हैं और हम लोग......' कजरी का गला फिर भर गया।

शंकर समझ गया कि उस दिन फिर किसी ने उसे कुएँ पर कुछ कहा होगा। पहले भी एक-आध बार वैसा हुआ था। तब भी वह ऐसे ही रोई थी, गुम-सुम पड़ी रही थी परन्तु शंकर कुछ भी नहीं कर सका था। वह कजरी की पीठ पर हाथ फेरता हुआ बोला, 'अपना-अपना भाग है बेटी ....'

''भाग-वाग कुछ नहीं बाबा। तुम एक दिन ज़बरदस्ती कुएँ से अपने आप पानी भर लो, फिर देखें क्या होता है।'

'होगा क्या! पहले तो गाँव वाले मार-मार कर प्राण निकाल देंगे और जो जीता बच भी गया तो गाँव छोड़ना पड़ेगा।'

'छोड़ना पड़ेगा तो क्या होगा? इसी गाँव में हमारे मुँह कौन से दूध के घड़े लगे हैं जिनका मोह हो? वही मेहनत-मजूरी करके यहाँ खाते हैं, मेहनत-मजूरी करके दूसरी जगह खाएंगे।'

'यह तो ठीक है बेटी, परन्तु सारी उमिर यहीं बीत गई। इस मढ़ैय्या से ऐसा मोह हो गया है कि अब छोड़ी नहीं जाती। और फिर दूसरे गाँव में भी तो यही बात होगी। ऊँच-नीच तो सभी जगह हैं बेटी।'

'दूसरे गाँव में अपने मेल के और घर तो हैं। यहाँ तो इन दो-एक घरों को छोड़कर और कुछ भी नहीं। नहीं बाबा, मैं अब इस गाँव नहीं रहूंगी। कल ही दूसरे गाँव में चलेंगे।'

'अच्छा तो देखेंगे। काम तो हो होते-होते ही होवेगा। एक दम तो बनजारों की तरह उठ कर चला नहीं जाता। आजकल काम मन्दा है। उस गाँव में जो हैं उनकी ही गुज़र मुश्किल है। हमारे जाने से न उन्हें खाने को मिलेगा न हमें। फिर तू ही देख अब बुढ़ापे में कहाँ कहाँ टक्कर मारता फिरूंगा। बहुत बीत गई थोड़ी और रही है; यह भी बीत जायगी। अब तो चिन्ता यही है कि किसी तरह तेरे हाथ पीले कर देता और सुखवा को बड़ा करके किसी हीले लगा देता, फिर तो मैं टाँग पसार लेता।

मेरे मरे पीछे जो सुखवा के जी में आएगा, करेगा— यहाँ रहेगा या कहीं और जायगा '········।'

शंकर की यह बात कजरी को सदा ही निरुत्तर कर दिया करती थी। वह चुप हो जाती। कभी-कभी उसे विचार आता— 'ठीक है। बाबा बूढ़े हुए, इन्हें अब दुखी नहीं करना चाहिये। इसी तरह कुछ दिन और बीत जायँ, फिर देखा जायगा।' परन्तु उसका हृदय अपने निचले स्तरों में सम्पूर्ण रूप से विद्रोही हो उठता। वह सोचती कि बाबा मरने से डरते हैं। यदि पानी भरने में जान चली ही गई तो क्या हो जायगा। दुनिया के सब चमार इसी तरह सो चलें तो ये ऊँचे लोग आख़िर कितनों को मारेंगे। फिर मरने वाले भी तो चुपचाप नहीं मर जायंगे। उनके भी तो हाथ-पैर हैं ········ काश वह लड़की न हो कर लड़का होती तो दिखा देती कि कि आन के लिये किस प्रकार मरा जाता है।

परन्तु संसार में कितने 'काश' पूरे होते हैं।

५

भगवंतपुर और उसके ग्रामपति ।

देहरादून से उत्तर-उत्तर-पश्चिम की ओर लगभग आठ मील की दूरी पर छोटे-छोटे टीलों के बीच— जिनसे हिमालय पर्वत-श्रेणी आरम्भ होने लगती है— एक सुन्दर घाटी में बसा हुआ यह ग्राम अपने बसाने वाले की बुद्धिमत्ता का परिचय देता है। ग्राम की पश्चिमी सीमा पर एक नदी बहती है जो बारह मास चलती रहती है। यद्यपि ग्रीष्म ऋतु में पानी बहुत कुछ सूख जाता है और नीचे जा कर रेत में बिल्कुल लोप हो जाता है फिर भी ग्रामवासियों की आवश्यकता-पूर्ति के लिये यथेष्ट रहता है। ग्राम को चारों ओर से घेरने वाले टीले साल के जंगलों से भरे हैं। इन जंगलों में रहनी, खैर, मदार के पेड़ भी बहुत हैं। पतझड़ के पश्चात् बसन्त के आगमन पर जब चारों ओर के जंगलों के वृक्ष लालिमा-मिश्रत हरितवर्ण, कोमल पल्लवों का परिधान पहन कर, बासन्ती समीर में सिर हिलाते हैं तो ग्राम की श्री कई गुनी बढ़ जाती है और वह कवियों द्वारा वर्णित आदर्श ग्राम प्रतीत होने लगता है। जंगलों में जब बाँसा फूलता है और उसके दो होंठों वाले श्वेत-पुष्पों के चारों ओर, फूल के निचले, नालिकाकार भाग में एकात्रत शहद के लोभ से मंडराती हुई, सहस्र-सहस्र मधुमक्षिकाओं के समूह का गुञ्जन ग्रामनिवासियों के कानों तक पहुँचता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं दूर से सितार की धीमी, मीठी झंकार आ रही है।

यह तो है भगवंतपुर ग्राम का ऊपरी दृश्य, जो दूर से तथा क्षणिक-दर्शक को मिलता, है परन्तु ग्राम के मध्य में पहुँचने पर वह कुछ दूसरी ही कहानी कहता मिलेगा।

गाँव में लगभग दो सौ घर हैं। दो-एक घर चमारों के छोड़ कर शेष सब ऊँचे हिन्दुओं के हैं। इनमें से आधे घर पक्के और टीन के हैं, शेष कच्चे और छप्पर के छाए हुए हैं। गाँव के पूर्वी कोने पर एक बड़ा-सा चौखूँटा कुआँ है जिसे बड़ी बावड़ी अथवा छोटा तालाब कहना अधिक उपयुक्त होगा। पानी तक पहुँचने के लिये पाँच छः चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ हैं। वर्षा ऋतु में और ग्रीष्म ऋतु को छोड़ कर अन्य ऋतुओं में कुएँ की सीढ़ियों के ऊपर तक पानी भर आता है और कभी

कभी कुएँ के चारों ओर की मुंडेर के ऊपर से हो कर बहता हुआ पास ही के खाले में गिर जाता है। यह खाला वर्षा ऋतु में चलता रहता है और तब पहाड़ी सोतों से आते हुए इसके निर्मल जल में ग्रामवासी स्नान करते तथा कपड़े धोते हैं। गर्मी में यह सूख जाता है, कुआँ भी सूख जाता है। उसकी तली में थोड़ा बहुत पानी भूमि से उगल कर निकलता है परन्तु वह गाँव वालों की आवश्यकता-पूर्ति के लिये यथेष्ट नहीं होता। तब उन्हें नदी की शरण लेनी पड़ती है। गाँव के उत्तर-पश्चिमी कोने पर ज़मींदार की खूब बड़ी पूर्वमुखी हवेली है। हवेली के पीछे जंगल है। यह हवेली दो-मंज़िली है और पुराने ढंग की दुर्ग जैसी बनी हुई है। कमरे, दीवार, दालान, किवाड़, लकड़ी का काम — सब पर प्राचीनता की स्पष्ट छाप लगी हुई है। बाहर के बड़े-बड़े और मज़बूत किवाड़ों वाले फाटक को पार करके दरबानों के रहने के लिये कुछ कोठरियाँ बीच के दालान के दोनों ओर हैं। फिर बड़ा-सा सहन है जिसके चारों ओर पशुशाला की कोठरियाँ हैं। इस सहन से लगभग आठ फ़ीट की ऊँचाई पर बने एक थले पर हवेली के मालिकों के रहने का भाग है। कहा जाता है कि पहले किसी समय पहाड़ के किसी छोटे से झरने का पानी गुप्त रूप से हवेली के अन्दर आता था परन्तु अब ऐसा कुछ नहीं है और ज़मींदार ने पानी की कठिनाई से बचने के लिये हवेली के पास ही एक स्रोत को खुदवा कर कुएँ का रूप दे दिया है।

शंकर तथा दूसरे चमारों के घर गाँव के दक्षिणी किनारे पर थे। गाँव के बीच में लगभग बीस बीघे भूमि ख़ाली पड़ी है। उसमें कुछ भाग बिल्कुल उजाड़ है जिसमें गाँव का धन (ढोरों का समूह) चरने जाने से पहले इकट्ठा होता है। इस उसर भूमि से कुछ दूरी पर एक अपेक्षाकृत लम्बा कमरा है। यह गाँव की धर्मशाला है। कुछ वर्ष पहले ज़मींदार द्वारा नियुक्त एक शिक्षक उसमें गाँव के बच्चों को पढ़ाता था। पीछे उस स्कूल का प्रबन्ध डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने ले लिया था। तब वह धर्मशाला स्कूल, पंचायत-गृह, बारात ठहरने का स्थान आदि सब का काम देती थी। कुछ समय पश्चात् एक शरद्-ऋतु में ग्रामवासियों का शिक्षा-प्रेम कदाचित ठंड से जम गया और बड़े दिन की छुट्टी समाप्त होने पर कुछ दिन लड़कों के आने की प्रतीक्षा करके वह शिक्षक महोदय डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की पुरानी मेज़, साढ़े तीन टाँग की कुर्सी, फूटे शीशे वाली आलमारी और श्याम-पाट एक गाड़ी पर लदवा कर देहरादून ले गये। तब से शिक्षा-प्रसार का कोई प्रयत्न गाँव में सफल नहीं हुआ। सफल नहीं हुआ, क्योंकि लोकप्रिय मन्त्रिमंडल के समय तथा बाद में भी कई प्रयत्न हुए परन्तु ख़ैर ......

गाँव की अधिकांश गलियाँ अंधेरी, बदबूदार, धूल, कीचड़ तथा उसके बीच से झाँकते हुए ऊबड़-खाबड़ पत्थरों से भरी थी। वर्षा-ऋतु में उन गलियों में से हो कर चलते हुए पिंडली तक कीचड़ में धँस जाना और कभी-कभी छिपे हुए पत्थरों से

ठोकर खाकर गिर पड़ना तो ऐसी बातें थीं जिन पर गाँव वाले ध्यान भी नहीं देते थे।

शंकर के घर से लगभग आध मील आगे दूसरे भूमिपति की भूमि में कई गाँवों की सर्वनिष्ठ बारी थी।

ग्रामपति पं० अम्बादत्त अत्यन्त प्रजापालक थे। ज़मींदारी उनकी कई पीढ़ियों से चली आती थी। ग्रामवासियों के कथनानुसार उनकी पीढ़ियों में अब तक जितने भी ज़मींदार होते चले आए, उनमें बेटा बाप से एक पग बढ़ कर ही दयालु, सहिष्णु, तथा गुणवान होता था। पंडित जी प्रातःकाल नहा, धो, पूजा-पाठ किये बिना जल भी नहीं पीते थे। प्रजावत्सल ऐसे थे कि रात-बेरात जब किसी का जी चाहे, उनके पास जाकर अपना दुखड़ा कह सकता था। प्रतिदिन संध्या को उनकी हवेली के सहन में गाँव के बड़े-बूढ़ों की मंडली जमती थी।

गृहिणी अपने पति के आदर्शों पर चलने वाली उनकी सच्ची सह-धर्मिणी तथा अर्धाङ्गिनी थी। दया और ममता की तो वे आगार थीं। ज़मींदार-पुत्र चन्द्रमोहन बड़ा सुशील तथा होनहार युवक था। उसने इंटरमीडिएट तक देहरादून कॉलेज में शिक्षा पाई थी। मस्तिष्क में सुधारों की आँधी थी। गाँव में बहुत कुछ करना चाहता था परन्तु उसके पिता दयालु तथा सहृदय होते हुए भी नई रोशनी के अधिक समर्थक नहीं थे। दोनों के विचारों तथा आदर्शों में मतभेद था फिर भी पिता ऐसा था जैसा कोई भी पुत्र इच्छा कर सकता है और पुत्र पिता का अक्षरशः आज्ञाकारी। पं० अम्बादत्त भगवंतपुर के अतिरिक्त ऊँतडी, खैराणी, तथा सलानगाँव के भी ज़मींदार थे। इन गाँवों में वे दूसरे-तीसरे दिन अपने सफ़ेद घोड़े पर चढ़ कर फेरा लगा आया करते थे। यह हुआ ग्रामपति-परिवार का परिचय।

कुएँ वाली घटना के दूसरे दिन प्रातःकाल लगभग आठ बजे शंकर का पड़ोसी बुधुआ चमार जो गाँव का बाल्दी (चरवाहा) था अपने झोंपड़े से तम्बाकू की थैली तथा लाठी लिये निकला और गलियों में 'डंगर खोल दो जी ......' की हाँक लगाता हुआ रेड़े (चरने जाने से पहले जानवरों के एकत्रित होने का स्थान) में जा खड़ा हुआ। उसकी हाँक अभी वायुमंडल में गूँज ही रही थी कि ऐसा प्रतीत हुआ मानो पूरा गाँव किसी तन्द्रा से जाग उठा है। घन-घन, टन-टन की ध्वनियों के साथ गलियों में से होकर गाँव के ढोर अकेले-अकेले अथवा कई-कई के झुण्डों में इकट्ठे आ-आकर रेड़े में एकत्रित होने लगे और लगभग आध घंटे पश्चात् बुधुआ विभिन्न नामों, पुकारों, ध्वनियों तथा गालियों से ही ढोरों को घेर कर चराने ले चला।

कला चाची अपनी दो गाएँ— जिन्हें वह प्रतिदिन नियमित रूप से सी (सिंह) तथा क़साई के यहाँ देने की प्रतिज्ञा करती थी— खोल कर थोड़ी दूर तक रेड़े के

रास्ते पर लगा आई जिससे वे रास्ते में भटक न जायँ। मार्ग में फ़कीरचन्द का घर पड़ता था। कला चाची ने उसके घर के सामने जा कर कहा, 'अरी बहू, क्या कर रही है ?'

चाची को देखकर फकीरी की बहू उठी, उन्हें 'पैरों पड़ना' कहा और पटरी देकर विनती की, 'बैठो जी * ।'

'अरी बैठूँ कहाँ, मुझे तो अभी सारा काम पड़ा है करने को !'

'कैसे आईं थीं ?' नारायणी ने डरते-डरते पूछा।

'ऊँह ! आई थी अपने सिर में। सी के देने को ये दो गौड़े मेरी छाती पर रक्खे हैं। न दूध के न गौंत के। बस मेहनत मेहनत इनके साथ है। उन्हें खोल कर धन में छोड़ने गई थी। तेरा भैया (बच्चा) बीमार था। मैंने कहा उसे भी देखती चलूँ। अब कैसा है उसका जी ?'

'जी अब तो सो रहा है। भाई कसम, सारी रात उसे गोद में लिये खड़ी-खड़ी फिरती रही। रो-रो कर एक हाल कर दिये उसने। वे तो रात को मक्का जुगालने गये थे। सुअरों ने उधम मचा रक्खा है। मेरा तो सारा बदन फोड़ा-सा दुख रहा है। अब सबेर-सार में इसकी आँख लगी है।'

'अरी तो किसी से कहा क्यों नहीं ?' चाची भर्त्सना करती हुई बोलीं, 'बगड़-पड़ोस और किस दिन के लिये होता है ? मुझे कह देती, मैं ही चली आती। अब फ़सल का मौक़ा है। तू भी उथल गई तो लेने के देने पड़ जायंगे ········ अच्छा, अब चलूँ।' चाची ने उठने का प्रयत्न करते हुए कहा, यद्यपि स्पष्ट प्रतीत होता था कि अभी उठने की उसकी इच्छा नहीं है।

'ए जी ठहर जाओ। थोड़ा सा मठा लेती जाना। बस दो-चार घमरेक और रह गये हैं, अभी मक्खन निकाल कर देती हूँ।'

'अरी रहने दे, कहाँ इतनी बिपता भरेगी ?'

'लो बस रहने दो तुम भी, इसमें बिपता किस बात की ? अभी देती हूँ, बस ज़रा सी देर और बैठ जाओ।'

'अरी बहुत काम पड़ा है·········'

---

* जी— देहरादून के आस-पास के लगभग सभी गाँवों में बहुएँ सम्बन्ध में अपने से बड़ी सभी स्त्रियों, जैसे सास, ननद, जेठानी, पुपस (पति की चाची), तायस आदि को केवल 'जी' कहती हैं। पहले पुरुष भी सास, बड़ी साली, तायस आदि को 'जी' कहते थे परन्तु अब यह 'जी' पुरुष तथा स्त्री दोनों वर्गों में बड़ी शीघ्रता से 'माता जी' 'चाची जी' आदि में बदलता जा रहता है।

'लो करते रहियो काम सारे दिन। थोड़ी ही देर तो है।'

चाची बैठ गई। फकीरी की बहू दालान के कोने में रक्खी चारपाई के पाए से रस्सी द्वारा अटकाई हुई रई से मठा बिलोने लगी और एक ही मिनट में सारा घर मट्ठे के मधुर घमर-घमर शब्द से गूँजने लगा। चाची थोड़ी देर बैठी रही। सोचती रही कि जो बात कहनी है उसकी भूमिका किस प्रकार बांधी जाय। थोड़ी देर पश्चात् मट्ठे के शब्द से ऊपर अपना स्वर नारायणी तक पहुँचाती हुई चाची बोली, 'अरी नरैणी, अब तो इस गाँव में बाह्मन-चमार सब एक हो जायंगे।'

'क्यों जी ? क्या हो गया ?'

'अरी तू गाँव में रहती है, कहाँ रहती है ? गाँव भर जिस बात को जानता है तू वह भी नहीं जानती ?'

'ए जी काम से ही फ़ुर्सत नहीं मिलती। अकेली तो घर में हूँ। वे तो खेत में ही रहते हैं। तुम जानो यही हमारी सारी कमाई-धमाई है। सारा काम आप ही करना पड़ता है। किसी के पास उठने-बैठने का बगत (वक़्त) ही नहीं मिलता।'

'तो ऐसा भी वारा क्या काम! घर से फ़ाल्तू कौन है ? काम तो सभी को है, पर बात तो सुनी ही जाती है।

'क्या हुआ ?'

'क्या कहूँ', चाची ने नारायणी की उत्सुकता को और बढ़ने का अवसर देते हुए कहा, 'कुछ कहा ही नहीं जाता, कैसा कलजुग आ गया है!'

नारायणी झुँझला गई। हाथ रोक कर बोली, 'जी तुम तो बूझने बुझवाया करती हो। अब बताओ भी क्या बात हुई।'

'हुआ क्या, यह संकरू की छोरी है न कज्जो ? ऐसी जालम आफत की पुड़िया है कि क्या कहूँ। कालसी की मिरच है पूरी ....'

नरैणी भी आख़िर स्त्री ही थी। कार्य स्थगित करके वह चाची की बात सुनने लगी। चाची कहती रही, 'अब उसने ज़मींदार के चन्दरमोहन को फाँसा है।'

'कैसे ?' नारायणी ने पूछा।

'तुझे तो कुछ पता ही नहीं।' चाची ने नारायणी के घोर अज्ञान पर दया करके हँसते हुए कहा, 'कज्जो कल साँझ कुएँ पर पानी भरने गई। वहाँ मैं भी थी। बस लगी लाट साहबनी सी हुकम चलाने कि जल्दी मेरा घड़ा भर दो। थोड़ी सी देर हो गई तो कहने लगी कि मैं अपने आप कुएँ पर चढ़ कर पानी भर लूंगी ......'

'जी तुम बुड्ढी हो गईं पर ठिठोली करने की तुम्हारी आदत गई नहीं।'

'अरी दुर् कलमुँही ! मैं तेरे साथ ठिठोली करूंगी ? जिस बात को सारा गाँव जानता है, वही तुझे बतला रही हूँ।'

'अच्छा फिर ?'

'फिर क्या ? उसी वगत चन्दरमोहन कहीं से आ गया। बस उसे देखते ही लगी फफक-फफक कर दीदे फोड़ने, और कहने लगी कि ये मुझे पानी नहीं देते।'

'ओहो ! इतना मकर !'

'अरी यहाँ मत समझ तू उस चमार की धी को। उसके लच्छन तो बाबा रे ! जो उसने संकरू की सात पीढ़ियों की नाक न कटाई तो कला को बाह्मनी नहीं भंगिन कह देना...... हाँ तो चन्दरमोहन को भी इस छोरी ने ऐसा मोह रखा है कि पहले तो मुझे कहने लगा कि चाची तू भर दे। मैंने तो साफ़ अठारह आने का जवाब दिया कि ना बाबा, इस नीच जात की हज़ार-हज़ार बात सुन कर मैं तो पानी भरने से रही ....'

'हाँ ठीक ही तो है।' नारायणी ने बढ़ावा दिया।

'फिर उसने केसी.........'

'केसी कौन, चन्दन की बहिन ?'

'हाँ। तो उसने केसी का घड़ा ले कर अपने आप कज्जो के घड़े में पानी डाल दिया और जब तक वह चली नहीं गई, वहीं खड़ा रहा और केसी से कहा कि घड़ा छुआ गया हो तो हवेली से ले लेना।'

'अच्छा.......... ?'

'और क्या ! मुझे तो लगे इन दोनों में पहले से ही साँठ-गाँठ है।'

'ना जी, चन्दरमोहन तो बड़ा ही सीधा लड़का है, यह तो मैं कहूँगी।'

'अरी बस चुपकी रह। ये दीखने के ही सीधे दीखते हैं। इनके पेट में दाढ़ी होती है दाढ़ी। वैसे भी सहर का पढ़ा हुआ है। इस अंगरेजी ने तो बस 'जुलम' ही कर रक्खे हैं...... अरी हो गया तेरा मट्ठा ?'

'अरे ! बातों-बातों में उसका तो ध्यान ही नहीं रहा। बस अभी हुआ जाता है घड़ी भर में।' मट्ठे की मटकी का ढक्कन नारायणी ने रई सहित उठा कर देखा कि मक्खन रई के फूल पर आ गया था और मट्ठे के ऊपर तैर रहा था। नारायणी ने कहा, 'लो हो तो गया। बस मक्खन निकाल लूँ।'

'ना बस मुझे बड़ी देर हो गई है।' चाची ने उठते हुए कहा।

'बस घड़ी भर और बैठ जाओ जी, हाथ जोड़ूँ। देर नहीं लगेगी।'

'अरी रहने भी दे। मट्ठे की ऐसी क्या तवाई।' चाची ने कहा और चल दी। नारायणी बेचारी बड़ी लज्जित हुई। उसने पुकार कर कहा, 'ए जी! घर ही रहियो, मैं मट्ठा ले कर आऊँगी।'

कला चाची फकीरी के घर से निकल कर गली में आईं तो चैतराम पटवारी की बहू ने कहा, 'जी पैरों पड़ूँ।'

'बूढ़ सुहागन हो, साईं जीता रहे, बेटे पूतों.........' चाची ने आशीर्वाद दिया और आगे के शब्द बुदबुदाने में खो गये।'

'कहाँ गईं थी?' चैतराम की बहू ने पूछा।

'अरी ज़रा नरैणी के भैया को देखने गई थी। कल से बीमार था।'

'अब कैसा है?'

'अब तो अच्छा है।'

और दोनों अलग हो गईं। चाची भी अपने घर गई। घर पर अपनी चौदह-वर्षीया मातृ-पितृ-विहीना पौत्री सुमन को घर का सारा काम पूरा न कर रखने के लिये कई दर्जन गालियाँ सुनाईं, 'इतनी बड़ी बछेड़ा सी हो गई, काम की न धाम की। दोपहर तक सोना, घड़ी भर घूट लेना, और वक्त सिर सो जाना। तेरे साथ की लड़कियाँ अपने घर-बार का, छोटे भाई-बहिनों का काम सँभालती हैं। दुनिया में सबको मौत है पर तुझे नहीं। माँ-बाप को तो पैदा होते ही खा गई अब मुझे भी खाने को मेरी छाती पर बैठी है.........'

बेचारी सुमन चुपचाप रोती रही। अपनी दादी की आदत वह जानती थी। वह जल्दी से उठी और काम करने लगी। थोड़ी देर बाद नारायणी मठा ले आई। चाची ने उसे बैठने को कहा भी परन्तु 'घर खुला छोड़कर आई हूँ।' कह कर नारायणी मट्ठे की ख़ाली मटकी— जिसमें चाची ने चावल के कुछ दाने डाल दिये थे*— लेकर चली गई।

खाना बनाने की तैयारी करते-करते चाची सोचने लगी— 'जल्दी-जल्दी काम निबटा लूँ। दोपहर में ज़रा ज़मींदारनी के पास जाना है।'

* * * * * *

दोपहर का खाना खाकर ज़मींदार गृहिणी सरस्वती देवी आराम कर रही थीं तभी चाची का आगमन हुआ। ज़मींदारनी को चाची कभी 'बहू' और कभी 'सरसुती' कहा करती थी। आते आते बोली, 'कहाँ है बहू?'

---

* गाँवों में दूध, दही, मठे के बर्तन ख़ाली नहीं लौटाए जाते। यदि और कुछ न हो तो चावल के ही दाने डाल दिये जाते हैं।

'आओ चाची', कहती हुई सरस्वती देवी उठीं और चाची के सामने आने पर उन्हें 'पैरों पड़ना' कहा और एक आसन उन्हें देकर एक पर स्वयं बैठ गईं।

'कहो चाची जी, कैसे आना हुआ?'

'कुछ नहीं बहू, बहुत दिन हो गये थे तुझे देखे। आज सोचा जाकर देख ही आऊँ।' सरस्वती देवी बेचारी सीधी-सादी, अत्यन्त दयालु महिला थीं। अधिक बात-चीत न तो उन्हें पसन्द थी और न उन्हें आती थी। चाची की बात का उन्होंने कुछ उत्तर न दिया और उत्तर देतीं भी क्या?

'चन्दरमोहन कहाँ गया?' चाची ने कुछ ठहर कर पूछा!

'यहीं कहीं होगा।'

'और अम्बा कहाँ गया?'

'वे तो ऊँतड़ी गाँव गये हैं।'

फिर कुछ देर मौसम की, ढोरों की, तथा दूसरे गाँवों की बातें होती रहीं। फिर चाची ने सहसा पूछा, 'बहू चन्दरमोहन का कहीं किया ठीक?'

'अभी कहाँ जी.........'

'तब फिर कब करेगी जब बुड्ढा हो जायगा?'

'ए जी नाते-रिश्ते आ तो रहे हैं बहुत जगह से पर उनकी कहीं समझ में ही नहीं आता और चन्द्रमोहन तो कहता है कि अभी ब्याह करूँगा ही नहीं।'

'अरी लौंडों का क्या? वे कभी अपने मुँह से थोड़े ही कहेंगे कि ब्याह कर दो। वे तो हमेशा ना ना ही करेंगे और जो अपने मुँह से कहेगा वह कुलायक है। वह तो जिसकी आँख का पानी मर गया वही करेगा। हमारा चन्दरमोहन हज़ारों में एक है।'

'जी हाल की घड़ी तो तुम्हारी दया से लड़का ऐसा है कि मैं या वे कह दें कि सारी रात एक टाँग पर खड़ा रह तो राम का बन्दा चूँ नहीं करेगा, आगे की भगवान जाने।'

'बहू यह हाल तभी तक है जब तक दूसरे की जाई नहीं आई। जिस दिन आ जाएगी उस दिन भी माँ-बाप के कहे में रहेगा तब समझना कि हाँ कुछ है। आजकल की छोरियाँ तो आते ही छोरों के सिर में भगवान जाने क्या डाल देती हैं कि माँ-बाप कहें बेटा पूरब जा तो बेटा जायगा पच्छिम!'

'ना भाई अभी तो उसके विचार ऐसे हैं नहीं, फिर की किसने देखी? और फिर जैसा हमारे भाग में होगा। बहू-बेटे का सुख भाग में होगा तो देख लेंगे नहीं तो भगवान की इच्छा।'

'हाँ भाग तो बड़ी चीज़ है ही.........पर मुझे तो इन गाँव वालों की बात पर सोच होता है कि ये किसी को फूटी आँख भी नहीं देख सकते।'

'क्यों, क्या हो गया?'

'होता क्या? कुछ कुलमुँहियाँ चन्दरमोहन का नाम ही बदनाम कर रही हैं.........'

बेचारी सरस्वती देवी दुश्चिन्ता से घबरा उठीं और बोलीं, 'क्या कहती हैं?'

'ऊँह कहती हैं अपने बाप का सिर......... वह है नहीं कज्जो?'

'कौन शंकर की लड़की?'

'हाँ वही। गाँव में यह बात फैल रही है कि चन्दरमोहन और कज्जो कुएँ पर मिलते हैं।'

सरस्वती देवी का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। वे अपने पुत्र पर यह लाँछन सहन नहीं कर सकती थीं। फिर वे कज्जो को भी जानती थीं और उसकी सिधाई तथा उसका कम बोलना उन्हें बहुत ही पसन्द था। बल्कि कई बार उनके जी में यह गुप्त इच्छा उत्पन्न हुई थी कि काश वह कजरी चमार के घर जन्म न ले कर किसी सवर्ण हिन्दू के घर पैदा हुई होती ....। वे कुछ चिड़चिड़े स्वर में बोलीं, 'चाची जी, बिना सोचे-समझे मुँह से कुछ निकालना ठीक नहीं होता।'

चाची एक बार तो सिटपिटा गईं फिर बिल्कुल भोला-सा मुँह बना कर बोली, 'ले बहू गुस्सा क्यों होती है? मैं अपने मन से तो यह बात कह नहीं रही हूँ। मुझसे तो किसी ने कहा है। बल्कि इसी बात पर मेरी उससे नकाचकी भी हो गई। मैंने उसे खूब लताड़ा कि बिना देखे-भाले किसी को बदनाम करेगी तो नरक में पड़ेगी। बिना बात किसी को दोस लगाना ठीक नहीं। पर मेरे कहने से क्या होता है......... ?'

'पर तुमसे कहा किसने?'

'ना बहू, उसका नाम मैं नहीं बताऊँगी। अब तुम से बुरी बनी। तुम भी गाली दे रही होगी और समझती होगी कि मैं ही ये बातें सबसे कहती हूँ। पर बहू दोस किसी का नहीं, सब मेरे फूटे भागों का है। यह भाग ही फूटे न होते तो क्यों राँड होती और क्यों जवान हाथी-सा बेटा जाता.........' यह कह कर चाची अपने धोती के पल्ले से आँखे मलने लगीं। सरस्वती देवी इसके लिये तैयार न थीं। वे कुछ देर के लिये किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गईं। अन्त में उन्होंने कहा, 'जी तुम तो बेकार बुरा मान गईं। मैंने तुम्हें थोड़ा ही कुछ कहा था। ईश्वर साक्षी, जो मैंने तुम्हें कुछ कहा हो तो मेरी जीभ कट जाय.........'

'ना बहू, तेरा क्या क़सूर, सब मेरे ही फूटे कर्मों का फल है। मैं काल की मारी तो इसलिये आ गई थी कि जो बात गाँव के घर-घर में हो रही है उससे तुम्हें सचेत

उस दिन मंडली का प्रधान विषय कजरी ही थी। यद्यपि उन लोगों ने उस कहानी को सुना किसी और ही रूप में था परन्तु जिस रूप में सुना था उसमें प्रकट करने का वे साहस नहीं कर सकते थे। कहते हैं 'ग़रीब की जोरू सब की भावज'। सारा दोष बेचारी कजरी के माथे मढ़ा जा रहा था। उन लोगों का विचार था कि नीच बहुत सिर चढ़ गये हैं। अब ऊँच-नीच का भेद ही जाता रहा। शर्म, लाज और मान-आदर तो संसार से उठ ही गये। देखो उस नीच छोकरी का साहस! कहती थी कि घड़े में पानी न डालोगे तो स्वयं भर लूँगी। अब न कोई ब्राह्मण रहेगा न क्षत्रिय। सब एक दम चमार बन जायँगे और यदि ज़मींदार महोदय ने उस दुष्ट शंकर तथा उसकी सिरचढ़ी छोकरी को कोई दण्ड नहीं दिया तो धर्म सीधा रसातल पहुँच जायगा। उनका विचार था कि शंकर को अगले ही दिन गाँव से निकाल दिया जाय क्योंकि उसकी वह 'छप्पन-छुरी' छोकरी जब इतनी बड़ी बात मुँह से निकाल सकती है तो कर भी सकती है .... ग्रामपति चुपचाप सुनते रहे। उन्हें आश्चर्य था कि शंकर और उसकी सीधी-सादी पुत्री सहसा इतने टेढ़े कैसे हो गये।

बड़ी रात गये ज़मींदार महोदय मंडली समाप्त कर अन्दर गये और चन्द्रमोहन से बात करने का विचार उन्होंने अगले दिन के लिए स्थगित कर दिया।

अगले दिन प्रातःकाल चन्द्रमोहन को बुलाकर उन्होंने पहला प्रश्न यही किया, 'यह मैं तुम्हारे विषय में क्या सुन रहा हूँ?'

'क्या पिता जी?'

'यही तुम्हारे और कजरी के विषय में।'

'मेरे और कजरी के विषय में! मैं आपकी बात समझा नहीं।'

'क्या तुमने कजरी का घड़ा स्वयं भरा?'

'ओह! यह बात है,' चन्द्रमोहन ने कहा और मन में समझ गया कि उन तक बात पहुँचाने वाले ने खूब नमक-मिर्च लगा कर यह बात उनके कानों तक पहुँचाई होगी अन्यथा किसी का घड़ा भरना ऐसी अनहोनी घटना नहीं जिसके लिए उत्तर माँगा जाय। कुछ देर चुप रह कर उसने पूछा, 'परन्तु आपसे कहा किसने?'

'इसकी चिन्ता न करो कि मुझसे किसने कहा। जो मैंने पूछा है उसका उत्तर दो।'

'यदि आप यही जानना चाहते हैं तो यह ठीक है कि मैंने स्वयं कजरी के घड़े में पानी डाला, परन्तु तभी जब कोई और उसका घड़ा भरने को तैयार नहीं हुआ।'

'मुझे यह बिल्कुल पसन्द नहीं कि तुम ज़मींदार के बेटे होकर किसी के घड़े भरते फिरो।'

'परन्तु पिता जी मैंने 'किसी' का घड़ा नहीं भरा, चमार की लड़की का घड़ा भरा है जिसे भरने को कोई तैयार नहीं था।'

'परन्तु आख़िर क्यों ?'

'यदि आप मेरी बात सुनना चाहें और उस पर विश्वास करें तो ....'

'विश्वास करने का आश्वासन पहले देने की आवश्यकता मुझे नहीं। तुम अपनी बात कह सकते हो।'

'बात यह है कि कल शाम मैं कुएँ की ओर जा निकला तो देखा कि बहुत-सी स्त्रियाँ कुएँ की सीढ़ियों पर खड़ी थीं और कजरी घड़ा लिये नीचे खड़ी थी और चाची ....'

'कौन ? कला चाची ?'

'जी। कला चाची कजरी की जीभ खींच कर निकालने की बात कह रही थीं। वह बेचारी रो रही थी। मैंने कारण जानना चाहा तो ज्ञात हुआ कि वे लोग कजरी का घड़ा भरने को तैयार नहीं। अँधेरा घिर रहा था, उसे देर हो रही थी। उसने एक-आध बार कहा होगा ....'

'मैं सम्भावनाएँ नहीं पूछता कि उसने क्या कहा होगा और क्या नहीं। जो कुछ तुम्हारे सामने हुआ वही कहो।'

'जी वही कहता हूँ। कला चाची कजरी को कोस रही थीं और कजरी रो रही थी। मैंने कला चाची से घड़ा भरने को कहा परन्तु उन्होंने साफ़ ना कर दिया ; और कोई भी तैयार नहीं हुआ। तब मैंने स्वयं केसी का घड़ा लेकर कजरी के घड़े में पानी डाल दिया। चाची ने इसमें भी बाधा डालनी चाही और केसी को मुझसे घड़ा ले लेने के लिए कहा ....'

'तो कला चाची वहीं थी ?'

'जी हाँ।'

'अच्छा, तुम जा सकते हो .... परन्तु मुझे तुम्हारा शाम को कुएँ पर घूमने जाना पसन्द नहीं।' ज़मींदार जी ने कहा। चन्द्रमोहन ने चुपचाप सुन लिया परन्तु वहीं खड़ा रहा। उसे खड़े देख उसके पिता को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा, 'क्या बात है ?'

'जी, मैं यह कहना चाहता हूँ कि गाँव में तीन घर चमारों के हैं परन्तु उनके लिए कुआँ एक भी नहीं है। इससे उन्हें बड़ी कठिनाई ....'

'मुझे मेरे गाँव की स्थिति समझाने की तुम्हें आवश्यकता नहीं। जाओ।'

इस घटना के चौथे दिन शंकर ज़मींदार पं० अम्बादत्त के सम्मुख खड़ा था। शंकर की 'पालागन' का उत्तर न दे वे बिगड़ कर बोले, 'क्यों रे शंकरू, तुम लोगों का इतना साहस कि अब अपने आप कुएँ पर चढ़ कर पानी लेने लगे ? मैंने तुम लोगों को कभी कुछ नहीं कहा उसका यह फल है ?'

'नहीं मालिक, ऐसी खता तो कभी नहीं की ।'

'की कैसे नहीं ? कज्जो ने गाँव की औरतों के सामने कहा कि वह अपने आप कुएँ से पानी भर लेगी ।'

'मालिक ! अव्वल तो मेरी कजल ने ऐसी अधरम की बात कही नहीं होगी। तुम तो जानते ही हो मेरी कज्जल बिल्कुल गऊ है। जबान तो उसके है ही नहीं। वह तो उस दिन आप ही कुएँ पर से बिसूरती हुई आई थी। मैंने बहुतेरा पूछा पर टस से मस नहीं हुई। बस फकर-फकर रोती रही ·········'

'कहा कैसे नहीं ? सारा गाँव जो कहता है।'

'कहा होगा तो खता हुई मालिक। बच्चा है। माफी कर दो। मैं उसे समझा दूँगा।'

'हाँ उसे समझा देना और देखो आज से तुम लोग उस बड़े साल के पेड़ के नीचे से पानी भरना। कुएँ पर कोई मत जाना। दूसरे घरों में भी कह देना। वह ओगल तो तेरे घर के पास ही है ?'

'हाँ सरकार है तो पास ही पर वह तो बहुत छोटी है। बहुत दिन से उधर गया भी नहीं। सैद है सूख भी न गई हो।'

'बस कुएँ पर मत जाना नहीं तो याद रखना ·········'

शंकर मरे मन से 'पालागन' करके कजरी को कोसता हुआ चल दिया। उसे कजरी पर बड़ा क्रोध आया। वह बुदबुदाने लगा, 'मैं पहले ही कहता था कि यह छोकरी ज़रूर कुछ न कुछ झगड़ा करेगी। भला कहाँ ऊँच जात के मुँह लगी ! जब लोगों की कई पीढ़ियों से काम चल रहा था तो इसे ही क्या दिक्कतदारी हो गई थी। अब देखो न, उनका तो कुछ नहीं बिगड़ा यहाँ बेफ़जूल प्यासे मरे। ज़रा सी ओगल है। पास तो है पर तीन दिन में घड़ा भरेगा। कटोरी या लुटिया से वैसे भरना पड़ेगा। घर में फूटी लुटिया भी नहीं, साबित की कौन कहे। आप तो कल को दूसरे घर चली जायगी और सबको प्यासा मार जायगी ·········' उसने पूरा निश्चय कर लिया कि वह कजरी को इतना डाटेगा कि वह रोने लगेगी।

परन्तु उसी दिन सन्ध्या को बड़े साल के नीचे वाली ओगल पर जा कर उसकी छाती अपनी कजरी के लिये गर्व से फूल उठी : पेड़ के नीचे ओगल के स्थान पर हाल की बनी हुई एक बड़ी सुन्दर छोटी सी बावड़ी थी।

६

धड़ाका और रमेश की चीख़ सुन कर प्रयोग की कक्षा में काम करने वाले शिक्षक दौड़े आए। एक लड़का दौड़ कर रसायन विभाग के अध्यक्ष को बुला लाया। धड़ाका सुन कर विभाग के और भी बहुत से शिक्षक आ गये। अध्यक्ष महोदय ने जल्दी से प्राथमिक उपचार किया।

इसी बीच सुबोध ने एक पर्चे पर जल्दी-जल्दी कुछ पंक्तियाँ घसीटीं और एक चपरासी को देकर अपने घर जाने को कहा। चपरासी उसका घर जानता था। वह साइकिल उठा कर भागा और कुछ ही देर पश्चात् सुबोध की कार प्रयोगशाला के सामने आ गई। तब तक रमेश का प्राथमिक उपचार समाप्त होकर उसके पट्टी बाँधी जा चुकी थी। कई लड़कों ने मिल कर संज्ञाशून्य रमेश को कार में डाला। सुबोध तथा एक अन्य छात्र ने उसे दोनों ओर से संभाला और ड्राईवर गाड़ी ले चला।

घर पहुँचते ही सुबोध ने अपने शयनागार में पलंग पर खूब मोटा-सा गुदगुदा बिस्तर बिछवा कर रमेश को लिटा दिया और अपने डाक्टर को अविलम्ब आने के लिये फ़ोन कर दिया। कुछ ही देर पश्चात् डाक्टर महाशय अपनी मोटर में आए। उन्होंने रमेश को देखा। पट्टियाँ ठीक थीं और उस समय के लिये पट्टियों तथा दवा पर विश्वास किया जा सकता था। उन्होंने रमेश के हृदय की गति की परीक्षा की और सिर हिला कर बोले, 'हृदय बहुत दुर्बल हो गया है। उत्तेजक औषधि का इंजेक्शन देना होगा।'

शीघ्र ही खौलते पानी और फिर लाल दवा (पोटैसियम परमैन्गनेट) के पानी से सुई को धोया गया और रमेश की बाँह में दवा का इंजेक्शन दे दिया गया। थोड़ी देर पश्चात् डाक्टर साहब इंजेक्शन का प्रभाव देख कर तथा 'होश में आने पर मुझे सूचित करना' कह कर चले गये। सुबोध ने सोचा कि जब तक रमेश को होश नहीं आता तब तक उसके घर सूचना देना ठीक नहीं क्योंकि उसकी बेहोशी की बात सुन कर अथवा यहाँ आकर उसे बेहोश देख कर उसकी माता जी बहुत घबरा जायँगी। फिर चार बजे तक तो निश्चिन्त रहा जा सकता है, तब तक उसे होश भी आ जायगा।

सरोज कॉलेज गई थी और उसके पिता काम के सम्बन्ध में कहीं बाहर गये थे। घर पर सुबोध की माता जी तथा नौकर-चाकर ही थे। सुबोध की माता जी को जब यह ज्ञात हुआ कि रमेश की वह दशा केवल सुबोध को बचाने के लिये ही हुई थी और यदि रमेश चाहता तो स्वयं साफ़ बच सकता था तो उनका हृदय इस त्यागी युवक के प्रति अत्यन्त वात्सल्य से भर गया। रमेश के प्रति उनके हृदय में पहले ही से अच्छा स्थान था, अब तो वे उसे देवता से भी बढ़कर समझने लगीं। वे और सुबोध उसकी चारपाई से लगे बैठे रहे। उन्होंने कई बार सुबोध से रमेश के घर सूचना दे देने के लिये कहा परन्तु सुबोध हर बार कहता रहा, 'पहले उसे होश में आ जाने दो।'

उस दिन सरोज की कक्षाएँ केवल दो बजे तक थीं। उसने ड्राइवर से दो बजे गाड़ी लाने के लिये पहले ही कह दिया था। ड्राईवर जब उसे ला रहा था तो उसने सरोज को दिन की सारी घटना बतला दी। वह मन ही मन घबरा उठी परन्तु रमेश के वीरत्वपूर्ण युवकोचित कार्य का बखान सुन कर उसका हृदय गर्व तथा आदर से भर गया।

* * * * *

जब रमेश की चेतना लौटी तो उसने सबसे पहले अपनी पीठ तथा भुजा पर अत्यन्त जलन का अनुभव किया। वह धीरे-से कराहा और उसने आँखें खोल दीं। वह पेट के बल लेटा था तथा उसका मुख तकिये पर एक ओर रक्खा था। आँख खुलते ही उसे अपने सामने सुबोध तथा उसकी माता जी दिखाई दिये। सरोज पलंग के दूसरी ओर थी। रमेश ने आँख खोल कर देखा तो सही परन्तु कुछ समझा नहीं। उसका मस्तिष्क चक्कर काट रहा था और उसमें एक अनोखा-सा कुहरा जैसा छा रहा था। कुछ भी बात स्पष्ट याद नहीं आ रही थी। उसने सुबोध तथा उसकी माता जी के प्रश्न को भी नहीं सुना। केवल आँखें फाड़ कर उनकी ओर देखता रह गया। सुबोध ने एक-आध बार और रमेश को पुकारा परन्तु उससे कोई उत्तर न पा कर उदासी से सिर हिलाया और अपनी माता जी से कहा, 'मेरा विचार है कि अब इसके घर कहलवा देना चाहिये।'

'अभी कुछ देर और देख लें', सुबोध की माता जी कुछ हाँ और ना के बीच सोचते हुए कहा। सुबोध ने सोचा कि एक बार और डाक्टर से सम्मति ली जाय और वह चला गया। उसकी माता जी रमेश के हाथ-पैर सहलाती हुई बैठी रहीं। उससे रमेश को कुछ आराम प्रतीत होता था। लगभग चार बजे नियमानुसार वे चाय के साथ कुछ खाने की चीज़ बनाने के लिये उठीं। वहाँ केवल सरोज ही बैठी रही। थोड़ी देर वह चुपचाप रही। क्षण भर के लिये उसके मन में विचार उठा कि अपनी माता की भाँति रमेश के हाथ पैर सहलाए या फिर माथा ही दबा दे परन्तु यह विचार उसी क्षण दूर हो गया। वह ऐसा नहीं कर सकती थी— उसने

नहीं किया। परन्तु वह वहाँ से उठ भी नहीं सकती थी। बीमार के पास किसी का बैठना भी आवश्यक था। वह उठी, एक पुस्तक ले आई और अपने स्थान पर बैठ कर पढ़ने लगी।

थोड़ी देर पश्चात् रमेश धीमे-से कराहा। कुछ देर रुक कर वह फिर कराहा। उसने ज़रा सा सिर उठाना चाहा परन्तु कष्ट की एक आह भर कर फिर वैसे ही तकिए पर सिर रख लिया। सरोज पुस्तक छोड़ कर उठी और पूछा, 'अब कैसा जी है आपका ?'

'हैं ······ ?' रमेश एक दम चौंक पड़ा और कष्ट का ध्यान किये बिना उसने एक दम सिर उठाना चाहा परन्तु तुरन्त ही कष्ट की एक ज़ोर की आह के साथ फिर चुपचाप पड़ रहा। सरोज घबरा गई। जल्दी से रमेश के मुख की ओर आकर कहा, 'लेटे रहिये। उठने का प्रयत्न न कीजिए।'

रमेश ने चुपचाप सुन लिया। एक बार आँख खोल कर सामने खड़ी सरोज को देख लिया और एक ऐसी मुस्कान मुस्काया जो प्रसन्नता की अपेक्षा करुणा का ही संचार अधिक करती थी। वह बोला कुछ नहीं। सरोज बड़े असमंजस में पड़ी। रमेश होश में आ गया था परन्तु बोलता न था। चुप्पी बड़ी भद्दी लग रही थी। परन्तु वह क्या कहे कुछ समझ नहीं पा रही थी। कुछ देर सोच कर उसने फिर अपना प्रश्न दुहराया, 'अब कैसा जी है ?'

'सारे शरीर में दर्द है।'

अब बात कुछ आगे बढ़ाई जा सकती थी। सरोज ने पूछा 'यह सब हुआ क्या ?'

'मुझे कुछ पता नहीं।' रमेश ने उसी करुण मुस्कान सहित कहा।

बातचीत का ताँता फिर टूट गया। सरोज ने सोचा कि जब और कुछ कहने को नहीं है— कहने को कुछ नहीं था, यह बात ग़लत है। वास्तव में तो कहने को इतना था कि सरोज समझ ही नहीं पा रही थी कि किस प्रकार उतना कहे, भविष्य में भी किस प्रकार कभी कह सकेगी, यह भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था— तो वह अपनी माता जी को ही सूचित कर दे कि रमेश फिर होश में आ गया है। वह जाने के लिए मुड़ी ही थी कि रमेश कुनमुनाया और धीमे से कराहा। सरोज रुक गई और कोमल स्वर में बोली, 'क्या बात है ?'

रमेश के होंठ एक बार थोड़े से फड़फड़ाए परन्तु उसने कुछ कहा नहीं। सरोज ने कहा, 'कहिये, आप कहते-कहते चुप क्यों हो गये ?'

'सुबोध कहाँ है ?'

'वह तो शायद डाक्टर के पास गये हैं।' सरोज ने उत्तर दिया परन्तु वह समझ गई कि वास्तव में रमेश कुछ और चाहता है और संकोच अथवा लज्जावश कहना

नहीं चाहता। उसने कुछ दुःखी स्वर में कहा, 'आप संकोच क्यों कर रहे हैं। आपको क्या चाहिए? कुछ कहिये तो।'

'देखिए मेरी गर्दन में दर्द हो गया है। कदाचित् बहुत देर से ऐसे ही पड़ा हूँ। मैं दूसरी ओर मुँह करना चाहता हूँ परन्तु मैं सिर उठा नहीं सकता ......' रमेश कहता-कहता रुक गया।

सुन कर सरोज असमंजस में पड़ गई। वह क्या करे? विचार आया कि अपनी माता को बुला कर कहे परन्तु उससे कदाचित् रमेश बुरा मान जाता। फिर प्रिय पात्र की एक सेवा करने का अवसर जाता था। वह संकुचित भी हुई परन्तु सकोच दूर कर आगे बढ़ी। उसने एक हाथ धीरे-धीरे रमेश की छाती के नीचे डाला और उसे धीरे-से ऊपर उठाया। रमेश को छूने मात्र से ही जो कम्पन उसके शरीर में हुआ वह बढ़ता ही गया। उसके कपोलों पर अरुणिमा उदित हो कर ग्रीवा तक फैल गई। उसकी कनपटियाँ धमकने लगीं तथा हृदय की गति इतनी तीव्र हो गई कि वह उसकी धक्-धक् ध्वनि स्पष्ट सुनने लगी। रमेश को उठाने के लिये उसे नीचे झुकना पड़ा और उसकी उष्ण श्वास रमेश के सिर के अव्यवस्थित बालों को चूमने लगी। परन्तु कदाचित् रमेश यह सब अनुभव करने की स्थिति में नहीं था। सरोज के थोड़ा ऊपर उठा देने से जो सहारा मिला था उसी में अपने सिर को बड़े कष्ट से दूसरी ओर घुमाने में ही उसका सारा ध्यान था। दूसरी ओर सिर करके रमेश ने एक लम्बी साँस छोड़ी। इतने ही परिश्रम से वह बहुत थक गया था। वह आँख मूँद कर चुपचाप लेट रहा। सरोज अपनी माता जी के पास चली परन्तु उसने सोचा कि उसके आरक्त कपोल तथा तीव्र श्वास-प्रश्वास को देख कर वे न जाने क्या समझेंगी। सरोज ठहर गई। इस विचार से, कि माता जी न जाने क्या समझें, वह और लाल हो गई और उसका मन .... खैर, यदि अभी उसके मन की चिन्ता न की जाय तो विशेष हानि नहीं।

सरोज फिर पुस्तक लेकर बैठ गई परन्तु दो-चार पंक्तियाँ पढ़ने के उपरान्त ही अक्षर उसके आगे अपनी पहिचान खो देते, फिर पूरा पृष्ठ चितकबरा हो जाता और धीरे-धीरे एक अनोखी धुंध-सी में सब खो जाता। ऐसे ही वह बड़ी देर बैठी रहीं तभी सुबोध आ गया। उसने आते ही रमेश को देखा और सरोज से पूछा, 'कैसा जी है इसका?'

'अब होश में हैं।'

'अच्छा, होश आ गया?'

'हाँ।'

'कुछ बोला?'

'नहीं।'

सुबोध पलंग के पास गया और पुकारा, 'रमेश!'

'हूँ।'

'कैसा जी है?'

उत्तर में रमेश ने धीरे-से सिर हिला दिया जिससे कुछ भी अर्थ नहीं निकला।

सुबोध ने फिर पूछा, 'दूध पियोगे?'

रमेश ने संकेत से बतलाया, 'नहीं।'

सुबोध रमेश के घर चल दिया। जैसे ही वहाँ पहुँचा रमेश की माता जी ने पूछा, 'अरे आज कहाँ रह गये थे तुम लोग?'

'ऐसे ही ज़रा देर हो गई।'

'रमेश कहाँ है?'

सुबोध क्षण भर के लिये विचलित हुआ, परन्तु संभल कर बोला, 'रमेश के ज़रा चोट लग गई है।'

'चोट!' रमेश की माता जी ने अस्फुट स्वर में कहा और वे इतनी घबरा गईं कि सुबोध को इस बात का दुःख हुआ कि उसने सत्य बात कहने के बदले कोई बहाना क्यों न बना दिया। फिर सोचा कि बात कितनी देर दबी रहती। आगे, पीछे कहना तो पड़ता ही, इससे यही अच्छा हुआ कि अभी कह दिया। 'परन्तु', सुबोध ने जल्दी से कहा, 'घबराने की कोई बात नहीं।'

'तो वह घर क्यों नहीं आया?'

'डाक्टर ने पट्टी बाँध दी है और आज-आज के लिये घूमने-फिरने से मना किया है।'

'वह है कहाँ?'

'हमारे घर है।'

'तो क्या घर भी नहीं आ सकता?'

'कल आएगा।'

'तब तो उसके ज़्यादा ही चोट लगी होगी। पर चोट लगी कैसे?'

'ऐसे ही कॉलेज में काम करते-करते लग गई।'

रमेश की माता जी बेचारी और न कह सकीं न सोच सकीं। वे यह भी न कह सकीं कि वे रमेश को देखना चाहती थीं। घबराहट ने उन्हें एक दम बौखला दिया। उनका मुख रोने को हो गया। तब सुबोध ने ही कहा, 'आप उसके पास चलना

चाहें तो चलिये।' तब जैसे उन्हें सहसा ध्यान आया। वे हड़बड़ा कर उठीं और कहा, 'थोड़ी देर ठहरो भैया, मैं अभी चलती हूँ।'

रमेश के पिता जी तब तक अपने दफ़्तर से नहीं लौटे थे। इन्दु को आवश्यक बातें समझा कर और महेश को, जो उनके साथ जाने के लिये हठ कर रहा था, दीदी के साथ घर रहने के लिये कह कर, उसे पढ़ाई की छुट्टी तथा मिठाई का लालच देकर वे सुबोध के साथ चल दीं।

उन्होंने रमेश की अवस्था अपने अनुमान से भी अधिक ख़राब पाई। वे रोने लगीं। सुबोध, सरोज तथा उनकी माता— तीनों उन्हें समझाने लगे। सुबोध की माता जी उन्हें यह कहते हुए दूसरे कमरे ले जाने लगीं कि उनके रोने से रमेश की तबीयत और ख़राब होगी। पुत्र के पास से हटने के डर से वे आँसू पीकर चुपचाप बैठ गईं। सुबोध डाक्टर को बुला लाया। डाक्टर ने देख कर कहा, 'इस समय अवस्था पहले से कहीं अच्छी है। डर की कोई बात नहीं है। पट्टियाँ कल ही बदली जायँगी। अब मैं एक और इन्जेक्शन देता हूँ। इन्हें आराम तथा शान्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। सवेरे तक ये मज़े में सोयेंगे। तब फिर मैं आऊँगा।' इसके पश्चात् रमेश की माता जी को सान्त्वना के दो-चार शब्द कह कर डाक्टर चला गया। सुबोध डाक्टर को कार में छोड़ने जाकर लौटते समय रमेश के पिता जी को सारी स्थिति संक्षेप में समझा कर घर लौट आया।

रात को सुबोध तथा सरोज ने जागने की इच्छा प्रकट की परन्तु दोनों प्रौढ़ाओं ने उन्हें हठपूर्वक सुला कर स्वयं जागरण किया।

७

दूसरे दिन प्रातःकाल सोकर उठने पर रमेश की अवस्था, अत्यन्त दुर्बलता होने पर भी, साधारणतः अच्छी थी। डाक्टर आया। उसके आदेशानुसार रमेश के लिये सफ़ाई का प्रबन्ध किया गया। फिर उसने पहले दिन की पट्टियाँ उतार, दवा लगा कर घावों पर नई पट्टियाँ बाँध दीं और कहा, 'अब इनके लिये चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। संकट दूर हो गया, किन्तु अब इन्हें आराम और पौष्टिक भोजन की अत्यन्त आवश्यकता है। दुर्बलता बहुत है। अच्छा तो यही होगा कि दूध तथा फलों का रस ही दिया जाय। अधिक हिलें-डुलें नहीं। और एक बात— शारीरिक अथवा मानसिक आघात से इन्हें अत्यन्त सावधानी से बचाना चाहिये।'

उस दिन किसी कारण से स्कूलों तथा कॉलिजों की तो छुट्टी थी परन्तु रमेश के पिता जी को दफ़्तर जाना ही था। रमेश की माता जी उनके तथा बच्चों के लिये खाना बनाने तथा घर का कुछ काम-काज देखने के लिये, शाम को आने को कह कर, घर चली गईं। एक बार उन्होंने दबी ज़बान से रमेश को घर ले जाने का प्रस्ताव रक्खा परन्तु इस प्रस्ताव के सफल होने की आधी भी आशा उन्हें स्वयं ही नहीं थी। सुनते ही सुबोध ने आश्चर्य से आँखें माथे पर चढ़ा कर कहा, 'वाह! भला यह भी कहीं सम्भव है! अभी तो डाक्टर कह गया है कि इसे बिल्कुल हिलाना-डुलाना नहीं।' परन्तु इसके कई दिन उपरान्त जब रमेश का सावधानीपूर्वक हिलाना-डुलाना सम्भव हो भी गया, तब भी सुबोध ने रमेश को घर नहीं जाने दिया, जिसका कारण लगभग स्पष्ट ही है— रमेश के घर केवल पचास रुपये में पूरी गृहस्थी चलती थी और सुबोध के घर पैसे को पैसा न समझा जाता था। डाक्टर, औषध तथा पौष्टिक भोजन का उतना व्यय जितना रमेश के लिये तब आवश्यक था, रमेश के परिवार के लिये कभी सम्भव नहीं था। इसके अतिरिक्त भी सुबोध तथा उसका परिवार रमेश के स्वास्थ्य के लिये आवश्यकता से अधिक चिन्तित था। वैसे तो रमेश और सुबोध लगभग दूध और शक्कर थे और साधारणतः रमेश के बीमार पड़ जाने पर उसका अच्छा हो जाना सुबोध की एकान्त इच्छा होती परन्तु उस बार यह इच्छा अधिक बलवती हो गई थी। यह सब सोच कर सुबोध ने रमेश को घर नहीं जाने दिया।

उस दिन सुबोध जब रमेश की माता जी को उनके घर छोड़ कर वापस आने लगा तो महेश पीछे पड़ गया कि भाई जी के पास जाऊँगा। सब ने समझाया परन्तु वह कब मानने लगा। अन्त में सुबोध को उसे साथ लाना पड़ा।

जब सुबोध और महेश घर पहुँचे उस समय सुबोध की माता जी दूध गर्म कर रही थीं। सरोज अपने कमरे में बैठी पुस्तक पढ़ रही थी और रमेश आँखें मूँदे छाती के बल लेटा हुआ था। सुबोध नहाने चला गया।

महेश पहले तो रमेश की चारपाई के पास जाकर सहमा हुआ-सा खड़ा रहा। वह समझ गया कि उसके भाई जी को ज्वर आया है क्योंकि उसकी समझ से ज्वर आने पर ही लेटा जाता है। कुछ देर में उसने धीरे से पुकारा, 'भाई जी!' रमेश ने आँखे खोल दीं और मुस्करा कर कहा, 'अरे तू! तू कब आया?' तब तक महेश सहमा-सा गम्भीर खड़ा था। रमेश को मुस्कराता देख कर वह भी खिल गया और बोला, 'मैं तो अभी आया।'

'किसके साथ?'

'सुबोध भाई जी के।'

'अच्छा ......'

'तुम क्यों पड़े भाई जी?'

'ऐसे ही।'

'बुख़ार आ गया?'

'नहीं।'

महेश चुप हो गया। उसे आश्चर्य हुआ। जब बुख़ार नहीं तो फिर पड़े किस खुशी में हैं। महेश सोच में पड़ा हुआ था, उसी समय सुबोध की माता जी रमेश के लिये दूध ले आईं। महेश ने उन्हें नमस्ते की। वे उसे देख कर बोलीं, 'अरे तू कब आया?'

'अभी आया सुबोध भाई जी के साथ।'

उन्होंने रमेश का दूध मेज़ पर रख दिया और महेश के लिये भी दूध लाकर उसे दिया और फिर रमेश को दूध पिला दिया।

सुबोध नहा कर तथा कपड़े बदल कर आया, नाश्ता किया, थोड़ी देर रमेश के पास बैठा रहा और फिर बाहर चल दिया। महेश बहुत देर तक रमेश से विभिन्न बातें करता रहा। अपनी पढ़ाई, खेल, इन्दु, रमा, पिताजी का हुक्का ...... और न जाने क्या-क्या। तभी सरोज कमरे में आई और महेश को देखकर चिढ़ाती हुई बोली—

'ओहो, महेश घी आए हैं!'

'मैं आपको नमस्ते नहीं करूँगा ।'

'महेश घी नाराज़ हो गये ?'

'मैं भाई जी से कह दूँगा ।'

'मैं तुम्हारे भाई जी से डरती हूँ क्या ?'

'तो मैं आप से नहीं बोलूँगा ।'

अच्छा अब नहीं चिढ़ाएंगे ।'

महेश थोड़ी देर सोचता रहा कि सरोज की बात पर विश्वास किया जा सकता है या नहीं, फिर सहसा उसे एक बात सूझी । उसने सोचा कि जिस बात का उत्तर रमेश से नहीं मिला शायद सरोज से मिल जाय । उसने पूछा, 'भाई जी क्यों पड़े हैं ?'

'खुशी के मारे ।'

'ऊँ ···· ऊँ ··· ऊँ ····'

'यह कौनसा सवाल है जी ?' सरोज ने पूछा ।

'जाओ हम नहीं बोलते ।'

'तुम्हारे भाई जी के चोट लगी है ।'

'चोट किसने लगाई ?'

'मुझे क्या पता ?'

'हाँ आपने ही लगाई है । तभी तो भाई जी आपके यहाँ पड़े हैं ।'

रमेश तब तक चुपचाप पड़ा इस वार्तालाप को सुन रहा था । अब हँस पड़ा और महेश से बोला, 'हाँ महेश, इन्होंने ही मुझे मारा है । तभी तो मैं यहाँ पड़ा हूँ ।' सरोज ने एक बार महेश की ओर देखा फिर रमेश की ओर, और स्वयं भी हँसने लगी । महेश आगे कुछ कहने जा ही रहा था कि सरोज ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसे खींच कर अपने कमरे में ले गई । कमरे में पहुँच कर उसने महेश से कहा, 'तुम बड़े शैतान हो जी ।'

'मैंने क्या किया ? आपने तो भाई जी को भी मार दिया बस ।'

'अच्छा तुम घर पर क्या करते रहते हो ?'

'घर पर मैं खेलता हूँ, पढ़ता हूँ और भाई जी से मार खाता हूँ ।'

इस अन्तिम दैनिक कार्य पर सरोज को बड़ी हँसी आई । पूछा, 'अच्छा, तुम्हारे भाई जी तुम्हें मारते भी हैं ?'

'हाँ बड़े ज़ोर से मारते हैं । जो आपके भी मार दें तो गाल ······'

'क्यों मारते हैं तुम्हें ?'

'मैं दंगा करता हूँ ।'

सरोज फिर हँसी । महेश न्याय-प्रिय व्यक्ति था । अपना अपराध भी स्वीकार कर लेता था । सरोज ने फिर पूछा, 'क्या दंगा करते हो तुम ?'

'भाई जी पढ़ने को कहते हैं तो मैं भाग जाता हूँ और रमा के साथ खेलने लगता हूँ ।'

'यह रमा कौन है जी ?'

'अच्छा आप रमा को नहीं जानतीं ?' महेश ने बड़े आश्चर्य से पूछा । उसकी समझ से तो रमा प्रत्येक व्यक्ति के निकट परिचित होनी चाहिये थी । उसने परिचय दिया, 'रमा हमारे घर के पास रहती है, मेरे साथ खेलती है । दुन्नी के साथ वह नहीं खेलती । दुन्नी उसे मारता है । मैंने दुन्नी को खूब मारा ......'

'तुम पढ़ते भी हो ?'

'हाँ मैं दूसरी बालपोथी पढ़ता हूँ ।'

'क्या पढ़ते हो ?'

'माधो पक्का किसान है । बक्त पर खेत बोता है । खेत में क्यारी बनाता है । क्यारी को पानी से सींचता है । पानी से खेत हरे रहते और बढ़ते हैं ...... और मैं सौ तक गिनती जानता हूँ और पहाड़े भी ...... आप भी पढ़ती हैं ?'

'हाँ ।'

'आप क्या पढ़ती हैं ?'

'किताब पढ़ती हूँ ।'

'कहाँ है आपकी किताब ?'

'ये रक्खी हैं ।' कह कर सरोज ने अपनी आलमारी का पल्ला खोल दिया । महेश उतनी सारी पुस्तकें देख कर प्रसन्नता से नाचने लगा । 'इतनी मोटी-मोटी किताबें ?' फिर ज़रा ठहर कर बोला, 'भाई जी के पास आपसे भी मोटी-मोटी किताबें हैं । भाई जी की किताबों में बड़ी अच्छी-अच्छी तस्वीरें हैं । आपकी किताबों में भी तस्वीरें हैं ?'

सरोज ने एक हिन्दी का उपन्यास निकाल कर महेश के आगे रख दिया । उसके मुख-पृष्ठ पर एक आकर्षक तिरंगा चित्र बना था । अन्दर भी कई चित्र थे । चित्र देखना समाप्त कर चुकने पर महेश ने पुस्तक बीच से खोली और एक स्थान पर एक-एक अक्षर बोल कर पढ़ने का प्रयत्न करने लगा ।

'...... घ - न आधा श - या - म— घनश्याम के च - ओ की मात्रा - चो - ट—चोट ल - ग—लग ग - ई— गई थ पर ई की मात्रा - थी । व - ह— वह

स - र - ल पर आ की मात्रा - ला— सरला क - ए— के घ - र— घर ब - ह पर छोटा उ - हु - त— बहुत द पर छोटी इ - दि - न— दिन त - क— तक प - ड़ आ - ड़ा— पड़ा रहा। सरला उससे प आधा र ए की मात्रा - प्रे - म— प्रेम क - र - ने—करने ल - गी— लगी ······ सरोज दीदी प्रेम क्या होता है ?'

सरोज एकबारगी लाल हो गई, फिर हँस पड़ी। उसने महेश के हाथ से पुस्तक ले ली। महेश थोड़ी देर तक मन ही मन कुछ सोचता रहा, फिर सहसा बोल पड़ा, 'सरोज दीदी! भाई जी के भी तो चोट लगी है। वह भी तुम्हारे घर पड़े हैं ······' सरोज समझ गई कि महेश आगे क्या कहेगा। लज्जा से लाल होकर वह उठने लगी, तभी महेश ने अपना वाक्य पूरा कर दिया, 'क्या आप भी रमेश भाई जी से प्रेम करने लगी हैं ?'

८

'क्या आप भी रमेश भाई जी से प्रेम करने लगी हैं ?' महेश के इस प्रश्न ने सरोज को चौंका दिया। थोड़ा-सा अव्यवस्थित भी कर दिया। जिस बात को वह जानती हुई तथा कभी-कभी अनुभव-सा करती हुई भी अनजान बनी रहने का प्रयत्न करती थी, अन्त में वह सम्मुख आ ही गई। सरोज सोचने पर बाध्य हुई— 'क्या वह वास्तव में रमेश से प्रेम करती है ?' वह उसके प्रति एक अनोखा आकर्षण तो अनुभव करती ही है जो प्रतिदिन तीव्र से तीव्रतर होता जाता है। इधर कुछ दिन से तो उसके हृदय में अनोखे ही विचार आ रहे हैं। कभी सोचती कि काश रमेश का सारा कष्ट, पीड़ा उसे (सरो को) लग जाय और वह स्वस्थ हो जाय। कभी सोचती कि हर समय रमेश के ही पास बैठी रहे और उसका मुख निहारती रहे— जो वह संकोच तथा लाज-वश नहीं कर सकती थी। 'तो क्या यही प्रेम है ?' उसने अपने आप से पूछा। उत्तर कभी 'हाँ' होता कभी 'ना'। 'यह तो आकर्षण मात्र है।' वह सोचती, 'रमेश ने भैया के प्रति इतना कुछ किया है, इसी लिये मैं उसके प्रति कृतज्ञ हूँ और मेरा हृदय उसका आभारी है। यह केवल कृतज्ञता है, प्रेम नहीं।' ········ 'तो फिर प्रेम क्या है ?' वह अपने आप से पूछती। परन्तु इसका उत्तर उसे कभी नहीं मिला — तब भी नहीं मिला। सोचते-सोचते उसका सिर घूमने लगा, फिर भी फल कुछ भी नहीं निकला। उसने अपने आपको कुछ कार्य तथा पढ़ने में लगाना चाहा परन्तु किसी भी कार्य में जी नहीं लगा। उसका जी चाहा कि कुछ देर रमेश से वार्तालाप करे परन्तु वह जा नहीं सकी। बहुत कुछ सोचा, अन्त में उसने अन्तरात्मा में अनुभव किया कि वह रमेश से प्रेम ही करती है। इस विचार के पहिचान जाने से सारे शरीर में अनोखा पुलक-कम्पन हुआ, कुछ गुदगुदी-सी हुई। उसने एक अंगड़ाई ली। उसे अपना सारा शरीर कम्पित होता हुआ प्रतीत हुआ। उसने अनुभव किया कि उसका मुखड़ा सारा लाल हुआ जा रहा है और शरीर उष्ण हो रहा है। उसने एक गिलास ठण्डा पानी पिया। सहसा एक प्रश्न उसके मस्तिष्क में (अथवा हृदय में ?) उदित हुआ— 'क्या रमेश भी मुझसे प्रेम करता है ?' इस प्रश्न के उठते ही उसका हृदय आशा-निराशा, सुख-दुःख का क्रीड़ास्थल बन गया। कभी सोचती, 'हाँ प्रेम करता तो है।' कभी उत्तर मिलता, 'नहीं, कैसी जली-जली-सी बातें करते

हैं। मुँह से बात निकली नहीं कि काट पहले ही देते हैं। इतनी बार मान किया है परन्तु कभी भी उन्होंने ········ ऊँह जाने भी दो, कोई नहीं प्रेम करता तो ज़बरदस्ती थोड़े ही है!' यह भी विचार उठता, 'जब उन्हें ही मुझसे प्रेम नहीं है तो मैं ही क्यों करूँ?' कभी उसके हृदय में इच्छा उठती कि क़ाश किसी भाँति पता चल जाता कि रमेश भी उससे प्रेम करता है अथवा नहीं। सोचती— उसकी परीक्षा ली जाय।

सरोज ज्ञात करना चाहती थी कि रमेश भी उससे प्रेम करता है या नहीं, परन्तु कभी-कभी वह मन में कह उठती, 'वे नहीं करते, न करें, मैं तो करूँगी ही। यह मेरे वश में कहाँ कि उन्हें प्रेम न करूँ?' परन्तु उसके ये उद्गार प्रसन्न आत्म-समर्पण की भावना से नहीं थे बल्कि एक प्रकार की निराशा-मिश्रित वेदना द्वारा उत्पन्न हुए थे। कदाचित् उसने तुलसी की यह चौपाई पढ़ कर भी समझी नहीं थी, 'जाकर जापर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू।'

* * * * *

तीन-चार दिवस उपरान्त रमेश इस योग्य हो गया कि थोड़ा-बहुत हिल सके। वह करवट के बल लेटने लगा था। लगातार छाती के बल पड़े-पड़े उसकी छाती में दर्द हो जाता था। उसकी माता जी प्रतिदिन नियमित रूप से आती थीं। सबकी सेवा तथा पौष्टिक भोजन से वह शीघ्र आरोग्य लाभ कर रहा था। इन्दु भी कई बार आई। इन्दु का सीधा स्वभाव और चुपचाप रहना सरोज को बहुत भाया। जितनी देर को इन्दु आती, सरोज उसे अपने पास से हिलने न देती। वह आती अपने भैया को देखने परन्तु देखती रह जाती सरोज को। एक दिन रमेश ने हँसते-हँसते पूछ ही लिया, 'इन्दु तू मुझे देखने आती है या इन्हें?'

'दोनों ही को भैया।'

सरल भाव से कही हुई इन्दु की इस बात को दोनों ने बहुत करके समझा। यद्यपि बात कुछ भी नहीं थी 'परन्तु चोर की दाढ़ी में तिनका'— सरोज लाल पड़ गई। रमेश ने एक बार सरोज की ओर देखा। लाल पड़ती हुई सरोज कितनी सुन्दर लग रही थी। जी चाहा कि यदि इन्दु न होती तो ······ पर यदि इन्दु न होती तभी वह क्या कर लेता? दोनों की दृष्टि मिली। सरोज के लिये वहाँ ठहरना कठिन हो गया। रमेश ने मुस्करा कर दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

इन्दु बच्ची नहीं थी। उसने दोनों को देखा तथा उनके भाव-परिवर्तनों को लक्ष्य किया। वह सरोज को देखकर मुस्कराने लगी। सरोज ने झेंप कर दृष्टि नीची कर ली और इन्दु को कुहनी मारते हुए कहा, 'चलो भाई, अब दूसरे कमरे में चलें।' परन्तु इन्दु इतनी सीधी नहीं थी और वैसे तो इन विषयों में सीधी-तिरछी सभी लड़कियाँ

एक जैसी होती हैं। वह बोली, 'ना बाबा, अब तो मैं भैया के पास से नहीं जाऊँगी। देखतीं नहीं, एक बार तो उलहना दिलवा दिया।'

'अच्छा तो तुम बैठो, मैं जाती हूँ।'

'अजी ठहरो भी, चाय-वाय पी कर जाना। ऐसी भी क्या जल्दी है?' इन्दु ने कहा। रमेश को आश्चर्य हुआ कि वह सीधी-सादी इन्दु जिसे वह तब तक भी बिल्कुल बच्ची ही समझता था, उतनी वाचाल कैसे हो गई। परन्तु वह उनकी नोंक-झोंक में आनन्द प्राप्त कर रहा था।

उत्तर देने में सरोज यद्यपि रमेश से हार जाती थी, फिर भी कम वह भी नहीं थी। एकदम इन्दु की बात का उत्तर दिया, 'अजी हम तो रोज़ ही पीते हैं आज ...'

'तो आज हमें ही पिलाइये।' इन्दु ने बात काटी। रमेश का आश्चर्य बढ़ता ही जाता था। वह सोच रहा था, 'इस सदा चुप रहने वाली इन्दु ने इतनी बातें कहाँ से सीख लीं? कहीं सरोज के साथ दो-तीन दिन की भेंट का ही तो यह प्रभाव नहीं है।'

'अच्छा तो यह क्यों नहीं कहती कि चाय पीने की इच्छा है?' सरोज ने कहा।

'भाई तुम्हें तो सूझी ही नहीं। पता नहीं किस प्रसन्नता में मग्न थीं कि चाय पीना-पिलाना भूल गईं ......'

परन्तु आगे की बात सुनने के लिये सरोज रुकी नहीं।

* * * * *

स्त्रियाँ स्वभावतः अतिरञ्जन-प्रिय होती हैं। अतिरंजन-प्रिय से तात्पर्य यह है कि जो बात जितनी है उतनी उन्हें ग्राह्य नहीं। प्रत्येक बात बढ़ा-चढ़ा कर ही लेंगी अथवा व्यक्त करेंगी। कोई बात न हो फिर भी रो-रो कर तकिया या अंचल भिगा डालेंगी, खाना छोड़ देंगी और भी न जाने क्या क्या करेंगी। यदि प्रसन्नता थोड़ी-सी भी होगी तो चलते-चलते बिना बात ठोकर लगती है, बरतन हाथ से छूट-छूट जाते हैं, ऐसा लगता है कि हाथ-पैरों में जान ही नहीं रही है। ज़रा-सी बात हुई। मुँह फुला कर बैठ गईं। लाख सिर पटका जाय परन्तु राम का नाम जो माथे के एक भी बल पर ज़रा भी अन्तर आ जाय ......

परन्तु अपवाद भी हैं। यही नहीं कि अपवाद हैं बल्कि बहुत बड़ी संख्या में हैं फिर भी संसार की स्त्रियों की संख्या के आगे अपवाद नगण्य ही हैं। परन्तु केवल इतने से ही स्त्रियों के विषय में कोई निश्चित धारणा बना लेना उचित नहीं है। और धारणा बना लेना सरल भी नहीं है। जैसे साधारणतः सोचा जाता है कि वीरता पुरुष का गुण है परन्तु ऐसे कायरों की कमी नहीं है जिनका सारा जीवन ही कायरता में बीतता है। स्त्री से वे डरते हैं, बच्चों से डरते हैं, अफ़सर से डरते हैं। सारांश यह कि कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, गधा, चूहा, साइकिल, मोटर, रेल, अंधेरा, आग, पानी,

बिजली— सभी से वे डरते हैं। सोचते हैं कि ये सब वस्तुएं उनकी ही जान लेने के लिये उत्पन्न हुई हैं अथवा बनी हैं। ऐसे मनुष्य एक नहीं अनेक— बल्कि बहुत बड़ी संख्या में— होते हैं, फिर भी वीरता पुरुष का आवश्यक गुण है। इसी प्रकार स्त्रियाँ यदि ठीक-ठीक तिल का ताड़ नहीं बना लेतीं फिर भी छोटी-सी बात को बहुत बड़ा बना लेती हैं। यह नहीं कि पुरुष ऐसा नहीं करते फिर भी बात बहुधा स्त्रियों पर ही लागू होती है।

एक बात और है कि आकर्षण, विकर्षण, स्नेह, प्रेम, घृणा आदि के विषय में स्त्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त कोई छठी इन्द्रिय भी होती है जिससे एक ही बार में उन्हें किसी पुरुष के अपने प्रति भाव स्पष्ट हो जाते हैं। परन्तु अपने आप इन भावों के गोपन में वे प्रवीण होती हैं। यह बात नहीं कि स्त्रियाँ इस विषय में धोखा नहीं खातीं, खाती अवश्य हैं परन्तु निश्चित रूप से पुरुषों की अपेक्षा कम। इस विषय में पुरुष— अधिकतर युवक— एकदम अयोग्य, मूर्ख होते हैं। किसी ने उनकी ओर देख भर लिया, बस सारा संसार उस एक ही दृष्टि पर ठहर जायगा। और यदि कोई मुस्करा दी, फिर तो क्या कहने!

इतनी लम्बी-चौड़ी भूमिका के पश्चात् यह कहना कदाचित् व्यर्थ-सा ही है कि यद्यपि सरोज तथा रमेश की दृष्टि निमेष मात्र के लिए मिली, उसी में सरोज ने बहुत कुछ देख लिया तथा प्राप्त कर लिया। उसी एक दृष्टि से निराशा का झाड़-झंखाड़ साफ़ हो गया तथा आशा की बगिया लहलहा उठी। तो निश्चय ही वह अकेली नहीं, रमेश भी उसे ······। वह प्रसन्नता से भर गई। किसी स्त्री के जीवन में कदाचित् इससे महत्त्वपूर्ण क्षण और कोई नहीं आता जब कि उसे प्रथम बार ज्ञात होता है कि कोई पुरुष उसे प्रेम करता है। रमेश, जिसे वह प्रेम करने लगी थी— नहीं, जिससे उसे प्रेम हो गया था— वह भी उसी का है। इस विचार से बड़ी सान्त्वना मिली, बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने एक-आध खुशी का गीत गुनगुनाना आरम्भ किया परन्तु अपनी प्रसन्नता के निःशब्द राग में अपना सशब्द गुनगुनाना बेसुरा लगा। उसे याद आया कि इन्दु ने चाय देने के लिये कहा था। रमेश के लिये भी फल, दूध आदि का प्रबन्ध करना था। वह रसोई में अपनी माता जी के पास गई। वे पहले ही नौकर को आदेश दे रही थीं।

उस दिन के पश्चात् सरोज रमेश के पास कुछ अधिक समय व्यतीत करने का प्रयत्न करने लगी— यद्यपि अधिक देर बैठना कठिन था और कदाचित् नैतिक दृष्टि अनुचित था। उसकी माता जी और सुबोध न जाने क्या समझते और यदि वे कुछ कह देते तो बहुत बुरी बात होती। दोनों में घनिष्ठता बढ़ती ही गई। उनके बीच का 'आप' न जाने कब 'तुम' में बदल गया। परन्तु यह उन्हीं तक सीमित था। किसी

तीसरे व्यक्ति के सामने वे निरपेक्ष भाव से एक दूसरे के लिये 'आप' का प्रयोग करते थे।

'आप', 'तुम' की सीढ़ी में स्त्रियाँ एक डंडा नीचे उतर सकती हैं परन्तु पुरुष दो। स्त्रियाँ 'आप' से अधिक से अधिक 'तुम' पर उतर आती हैं परन्तु 'तुम' के पश्चात् कभी-कभी पुरुष का जी चाहेगा ही कि 'तू' भी एक-आध बार कहा जाय। जैसे कभी-कभी सरोज कह देती, 'अब तो तुम्हें देखे बिना एक पल भी चैन नहीं पड़ता। देख भी लेती हूँ। परन्तु कुछ दिन बाद जब तुम चले जाओगे तब क्या होगा रामी?......' यह कहते-कहते उसका स्वर भारी हो जाता और आँखें डबडबा जातीं और वह आगे न बोल सकती। चुपचाप गर्दन नीचे डाल देती। रमेश कुछ देर तक करवट के बल पड़ा-पड़ा एक हाथ सिर के नीचे रक्खे हुए, दूसरा हाथ पलंग से नीचे लटकाए हुए मुग्ध दृष्टि से सरोज के नत मुख की ओर देखता रहता फिर हाथ बढ़ा कर सरोज की ठोड़ी ऊपर उठा कर कहना चाहता, 'कितनी पगली है सरो तू!' परन्तु मन की चाह दबा कर कहता, 'अरे तुम भी पागल ही हो सरोज!' वह उसे आँसू पोंछ कर मुस्कराने के लिये कहता। सरोज की आँखों में अश्रु-बिन्दु चमकते रहते और मुख पर मुस्कान खिल जाती। वर्षा में धूप निकल आती, जिसका स्वतन्त्र सौन्दर्य है।

और इस प्रकार मन भरने के साथ-साथ रमेश के शारीरिक घाव भी सूखते तथा भरते जा रहे थे।

६

और फिर नौ अगस्त उन्नीस सौ बयालीस का वह दिन आया जो भारतीय स्वतन्त्रता के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। आठ अगस्त को काँग्रेस के प्रमुख नेता इसलिये बन्दी बना लिये गये कि उन्होंने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास करके विदेशियों से कहा था कि हमें और हमारे देश को तुम लोग हमारे भाग्य पर छोड़ दो। तुम लोग जो बड़ी दया करके हमारे अभिभावक बने और हम जैसे जंगलियों को (जिन्होंने तुम्हें किसी समय जंगलों से नंगे निकाल कर वस्त्र पहिनना सिखाया, और तुम्हारा जानवरों का कच्चा माँस खाना छुड़ाकर सभ्य बनाया, एवं तुम्हें उच्च कोटि की भाषा, कला, विज्ञान देकर शिक्षित बनाया था) सभ्यता सिखाई, हमारे आपसी झगड़े दूर करने के प्रयत्न में रात-दिन सूखते रहे— तो अब अपने ऊपर से इस 'सफ़ेद आदमियों के बोझ' को उतार फेंको। तुम लोगों की हम पर अगणित कृपाएँ हैं। एक कृपा और करो— भारत से कृष्ण-मुख कर लो······ और फल हुआ, देशव्यापी गिरफ़्तारियाँ। इसके उपरान्त नौ अगस्त को तथा उसके पश्चात् जो कुछ हुआ वह संसार के प्रत्येक सभ्य देश के निवासी को ज्ञात है और भारत के तो बच्चे-बच्चे के हृदय पर स्पष्ट रूप से अङ्कित है। तब यद्यपि भारतवासी अपने प्रमुख उद्देश्य में असफल रहे फिर भी उससे बहुत कुछ बातें प्रकट हुईं। स्वतंत्र राष्ट्रों के निवासी— जो किसी भी भाँति यह नहीं समझ पाते थे कि चालीस करोड़ मनुष्यों को किस प्रकार मुठ्ठी भर आदमियों ने दास बना रक्खा है, और दास भी कैसे? निकृष्टतम श्रेणी के, जो करोड़ों की संख्या में भूखे मर जायेंगे, नंगे रह लेंगे, जूते खा लेंगे, अपने ही देश के प्रमोद-गृहों तथा स्नान-गृहों में 'भारतीय तथा कुत्ते को प्रवेशाधिकार नहीं' पढ़ लेंगे फिर भी रायबहादुर, ख़ानबहादुर, नवाब और राजा की पदवी पाने के लिये, नहीं बल्कि गोरे अधिकारी की केवल कृपा-दृष्टि पाने के लिये, उसे 'केवल सलाम करने' के लिये, जूते तथा पगड़ी द्वार पर उतार कर, बारह रुपल्ली के चपरासी के पैरों पड़ कर, साहब के कुत्ते को मुँह से प्यार करके, दिन में तीन बार जायँगे, डालियें भेजेंगे— वे लोग भी समझ गये कि भारतवर्ष केवल अपने पेट के लिये जीने वाले नारकीय कीड़ों से ही नहीं भरा है जो मुठ्ठी भर अधिकारियों के लिये लाखों गउओं की हत्या कराएंगे— गाय तो फिर भी पशु है—

अपने सहस्त्रों भाइयों का रक्त-शोषण करेंगे, उन्हें मृत्यु से भी भयानक यन्त्रणाएँ देंगे और फिर न कहने-सुनने योग्य बातें तथा कार्य करेंगे ; वहाँ ऐसे लोग भी हैं जो भारत को स्वतन्त्र देखने के लिये छटपटा रहे हैं। स्वतन्त्रता की वेदी पर जिनमें से कुछ ने अपने प्राण हँसते-हँसते उत्सर्ग कर दिये हैं, कुछ कर रहे हैं और कुछ सिर हथेली पर लिये फिरते हैं। संसार ने आश्चर्य से देखा कि बूढ़े भारत में भी— जो हृदय के लगभग निम्नतम स्तर तक दास बनाया जा चुका है , जो कुचला जा चुका है, जिसका लोहू चूसा जा चुका है— स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा उद्दाम वेग से प्रवाहित हो रही है। असफलता के अनेक कारण थे फिर भी इस आन्दोलन से भारतीयों को बल मिला, आत्मविश्वास मिला कि वे भी कुछ कर सकते हैं। और भारतीयों को नौ अगस्त पर गर्व है और सदा रहेगा। नौ अगस्त अठारह सौ सत्तावन का संस्करण है। इसमें भी भूलें रहीं, फिर भी नौ अगस्त उन्नीस सौ बयालीस का दिन भारत के सर्वश्रेष्ठ त्यौहारों से भी अधिक पवित्र तथा पूज्य होगा।

भारत की कदाचित् ही कोई शिक्षा-संस्था इस आन्दोलन के प्रभाव से बची हो। रमेश तो बीमार ही था, वह कॉलेज नहीं जाता था, परन्तु सुबोध जाता था। पहले दिन हुई नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार अगले दिन सारे देश में फैल गया। उस दिन स्कूलों, कॉलेजों तथा नगर में हड़ताल करने का आयोजन था परन्तु पुलिस इस हड़ताल तथा उपद्रव को रोकने पर तुली थी। सुबोध के कॉलेज के अधिकांश मुसलमान छात्रों को छोड़कर शेष सबने हड़ताल की और कॉलेज के मुख्य द्वार पर धरना दे दिया। कॉलेज-अधिकारियों ने बहुतेरा समझाया, प्रिन्सिपल ने प्रमुख भाग लेने वाले छात्रों को निकाल देने की धमकी दी किन्तु व्यर्थ। कुछ छात्रों को मुख्य द्वार पर छोड़ कर शेष छात्रों ने जलूस निकाला। जलूस कॉलेज से कुछ ही दूर पहुँचा था कि सामने घुड़सवार पुलिस तथा उसके पीछे सशस्त्र पैदल पुलिस खड़ी मिली। उस दुर्भेद्य दीवार को पार करके जाना कठिन था। दोनों ओर से ऊँचे स्वरों में प्रश्नोत्तर होने लगे। पुलिस ने छात्रों को तितर-बितर हो जाने की आज्ञा दी। छात्रों ने उत्तर में पुलिस से रास्ता छोड़ने के लिये कहा। थोड़ी देर तनातनी रही। इस बीच लड़कों की भीड़ में हलचल मच गई। निश्चय ही उतनी बड़ी भीड़ में सभी सिंह-हृदय नहीं थे। पीछे के कुछ लोग खिसकने का उपक्रम करने लगे। बीच के लोगों ने भी अपने स्थान कुछ बदलने आरम्भ किये। जो स्थिर-चित्त थे उन्होंने भी अपने पैरों के स्थान तथा दिशा कुछ बदली परन्तु भीड़ की आगे की पंक्तियाँ उत्तेजित थीं। अपनी धमकी का कुछ प्रभाव न पड़ता देख सफेद पुलिस अधिकारी ने लाठी बरसाने की आज्ञा दी। सवार पुलिस पीछे हटी। पैदल पुलिस के सिपाही लाठियाँ लेकर आगे बढ़े और दड़ादड़ लाठी बरसने लगी। आगे की पंक्तियों के लोग गिर पड़े। पीछे की पंक्तियों में भगदड़ मच गई। डर संक्रामक रोग

की भाँति फैलता है— अधिकांश भागते लोगों के बीच में। कुछ लोग ऐसे भी थे जो साहसी थे और जिन्हें अपनी शक्ति पर भरोसा था। वे पुलिस वालों पर टूट पड़े। उन्हीं से लाठियाँ छीनीं और पिल पड़े। साहस भी उतना ही संक्रामक होता है जितना भय। बहुत से भागते पैर रुक गये। वे लौटे और निहत्थे ही पुलिस वालों से भिड़ गये। सड़क युद्ध-स्थल में परिणत हो गई। परन्तु यह तो शारीरिक बल का युग नहीं, यन्त्र-बल का युग है। पलक झपकते ही धाँय-धाँय और तड़ातड़ गोलियाँ बरसने लगीं। छात्रों के ढेर सड़क पर बिछ गये। अब भीड़ नहीं ठहर सकती थी। जिधर जिसका सींग समाया, भाग चला और सड़क पर रह गया पुलिस तथा छात्रों के घायलों तथा मुर्दों का ढेर, मृत्यु-यन्त्रणा की चिल्लाहट, लाल धब्बे, ताज़े रक्त तथा बारूद के धुएँ की गंध…………

यह है दासता! मुट्ठी भर सफ़ेद कुत्तों के इशारे पर, उन्हीं के लिये कुछ भारतीयों ने अपने उन भाइयों पर गोली चलाई जिनका माँस, रक्त तथा शरीर उसी मिट्टी के बने थे जिसके उनके अपने शरीर थे, जिनके साथ उनका मान, अपमान, मरना, जीना— सब एक था।

सुबोध पास ही के बंगले में एक पेड़ की डाल पर बैठा यह सब देख रहा था। घंटों वह पेड़ पर बैठा रहा, क्रोध से उबलता रहा और अन्त में पेड़ से उतर कर छिपता-छिपाता, बाग़ की दीवार फाँद कर, दूसरे मार्ग से घर पहुँच गया। उसकी अनुपस्थिति से घर वालों के कलेजे मुँह को आ रहे थे। अपने आप को शान्त करने में उसे यथेष्ट समय लगा। तब भरे हृदय से उसने सारी घटना रमेश को सुनाई।

१०

सारे देश में आतंक का राज्य छा गया। प्रतिदिन पुल उड़ाने, रेलगाड़ियाँ लूटने, फ़ौजी लारियाँ जलाने, अंग्रेज़ अधिकारियों को मार डालने, और उनके निवास-स्थान जलाने के समाचार आते रहे। स्थान-स्थान पर बम फटने लगे। बहुत-से सरकारी भवन, दफ़्तर आदि जला दिये गये। कई स्थानों पर तो यहाँ तक हुआ कि आतङ्कवादियों का कई दिन तक राज्य रहा। फिर फ़ौजें बुलाई गईं। उपयुक्त संगठन तथा साधन न होने के कारण आतङ्कवादी हारे और उन्हें भारतीय सैनिकों, पुलिस के सिपाहियों तथा सफ़ेद चमड़ी वाले अधिकारियों के हाथों नारकीय यन्त्रणाएँ भुगतनी पड़ीं। आतङ्कवादियों ने सब कुछ किया— बहुत-से निर्दोष उनके हाथों मारे गये, उन्होंने सार्वजनिक भवनों को क्षति पहुँचाई, बहुत-से भारतीय भी उन्हें मारने पड़े, परन्तु एक भी स्थान से स्त्रियों के साथ— गोरी स्त्रियों के साथ भी— अत्याचार किये जाने का समाचार नहीं सुनाई पड़ा। इस व्यवहार ने आतङ्कवादियों— बल्कि सारे भारतीयों— का मान रक्खा। इसके विपरीत गोरे कुत्तों ने क्या किया? उन्होंने गोरी तथा कुछ कमीनी भारतीय फ़ौजें गावों में छोड़ दीं। बच्चे, बूढ़े, युवक, सब नृशंसतापूर्वक मारे गये। युवकों को यन्त्रणाएँ दी गईं। स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया तथा उनके कोमलांगों में पिसी हुई मिर्चों का प्रयोग किया! अगस्त १९४२ में भारतीयों पर किये गये अत्याचारों का ठीक-ठीक वर्णन किया जाना सम्भव नहीं। जो कुछ किया जा सकता है उसी से उन कमीने ग़द्दारों को लज्जा से डूबकर मर जाना चाहिए जिन्होंने अत्याचारियों के तलुए चाट कर अपने भाइयों के गलों पर छुरी चलाई।

विश्वासघात और कृतघ्नता भी अगस्त आन्दोलन की असफलता के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी थे।

सुबोध प्रतिदिन अपने कॉलेज, नगर, प्रान्त तथा देश के नये समाचार रमेश को देता रहता था। बात करते-करते उसका मुख तमतमा उठता, आँखों में ख़ून उतर आता और दाँत आपस में रगड़ खाने लगते। वह मुट्ठियाँ बाँध कर कमरे में इधर से उधर टहलने लगता। इन बातों को सुनते-सुनते, अपेक्षाकृत शान्त तथा शान्तिवादी रमेश का रक्त भी खौलने लगता परन्तु वह लाचार था। वह स्वयं उठ नहीं सकता

था। परन्तु वह आश्चर्य करता था कि सुबोध चुप क्यों है? वह कुछ करता क्यों नहीं? फिर भी रमेश सुबोध से कुछ कहता नहीं था— कहना चाहता भी नहीं था। ऐसी बातों में कहने न कहने से क्या होता है। जिसके हृदय में दासता के क्रूर जुए से छूटने की अग्नि धधक रही होगी वह स्वयं कुछ न कुछ करेगा। रमेश सोचता, 'काश वह अच्छा होता!' कुछ दिन में सुबोध ने उसे बताया कि उस दिन कॉलेज में लड़कों की सभा हो रही थी। प्रिन्सिपल ने लड़कों से सभा एकदम बन्द कर देने के लिये कहा परन्तु लड़के नहीं माने। प्रिन्सिपल ने घबरा कर पुलिस बुला ली। पुलिस एक बार कॉलेज के अहाते के अन्दर आ गई, फिर क्या था? जो कुछ हुआ वह कॉलेज के नाम पर सदा के लिये कलंक का टीका बन कर रहेगा। सभा पर लाठी चलाई गई। बहुत से छात्रों को सिपाही गालियाँ और धक्के देते हुए ले गये। सारे छात्रावास की तलाशी ली गई। बेचारे ऐसे लड़कों को भी, जो कमरा बन्द करके पढ़ रहे थे, वे लोग बलपूर्वक बाहर लाए और साथ ले गये। बन्द कमरों के ताले तोड़ डाले गये और सामान के साथ मनमानी की गई। और तालाशी लेने वाले ऐसे-ऐसे गधे थे कि क्या कहा जाय। एक इन्सपैक्टर साहब दो सिपाहियों और एक दारोग़ा को लेकर, एक बन्द कमरे का ताला तोड़ कर अन्दर पहुँचे। कमरा कला विभाग के किसी छात्र का था। दारोग़ा साहब अँग्रेज़ी की ए - बी - सी - डी पढ़ लेते थे। एक पुस्तक देख कर उछल पड़े। हाथ में लेकर इन्सपैक्टर से बोले, 'देखिये हुज़ूर 'पॉलिटिक्स' की किताब!'

'हैं ……' इन्सपैक्टर साहब चौंक कर बोले, फिर पुस्तक हाथ में ली, थोड़ी देर उलटी-पुलटी, शीर्षक पढ़ा, पन्नों को एक फर्राटे से उलट दिया और बोले, 'ओफ़्फ़ोह! किताब तो बड़ी ख़तरनाक मालूम होती है!'

'जनाब यह तो कोर्स की किताब है।' वार्डन बोले।

'म्याँ कुछ भी हो, है तो पॉलिटिक्स की किताब।' इन्सपैक्टर ने कहा और पुस्तक एक सिपाही के हाथ में थमा दी।

सभी पुलिस वाले एक से थे— यह कहना उन पर अन्याय करना होगा। बहुत से तो वास्तव में आपत्तिजनक वस्तु देख कर भी टाल गये। एक लड़के के कमरे में क्रान्तिकारी दल द्वारा प्रचारित इश्तिहार थे। एक में बिस्तर के नीचे टेलीफ़ोन और तार के तार काटने की क़ैंची थी। किसी में रेंच और हथौड़ा मिला ……

सुबोध प्रिन्सिपल पर इतना बिगड़ रहा था कि रमेश को आश्चर्य हुआ कि सुबोध उन्हें मार ही क्यों न आया।

* * * * * *

कुछ दिवस उपरान्त एक दिन सुबोध रमेश की चारपाई के पास कुर्सी पर बैठा हुआ किसी काम में बुरी भाँति जुटा था। उसके पास किसी रंगहीन तरल

पदार्थ से भरी एक बोतल रक्खी थी और पास ही कई ऐसी शीशियाँ रक्खी थीं जिनकी तली हटा कर उसके बदले मोटा काग़ज़ चिपका दिया गया था। प्रत्येक शीशी की तली में भिन्न काग़ज़ लगा था। सुबोध बारी-बारी से उन काग़ज़ के पेंदों वाली शीशियों में बोतल का तरल पदार्थ डाल देता था और घड़ी देखने लगता था। थोड़ी देर में काग़ज़ गल जाता और तरल पदार्थ नीचे रक्खे काँच के बर्तन में गिर जाता। उसी समय सुबोध एक पर्चे पर कुछ लिख देता। इस प्रकार उसने कई शीशियों के साथ किया। अन्त में सातवीं शीशी का काग़ज़ फटते ही उसने घड़ी देखी और काग़ज़ पर कुछ लिखा। उसके मुख पर चिन्ता के स्थान पर प्रसन्नता की रेखाएँ नाच उठीं और मुँह से अस्फुट स्वर में निकला, 'ठीक !'

रमेश तब तक पागल की भाँति सुबोध के कार्य को देखता रहा था। वह चुप ही रहा। कदाचित् सुबोध की अस्वाभाविक गम्भीरता इसका कारण रही हो। परन्तु उससे और अधिक नहीं रुका गया। बोला, 'क्या कर रहा है बे तू ?'

'देखा नहीं ?'

'देखा तो पर समझा नहीं।'

सुबोध मुस्कराया परन्तु बोला कुछ नहीं। रमेश ने फिर पूछा, 'इस बोतल में क्या है ?'

'तीव्र गन्धकाम्ल।'

'और शीशी की पेंदी पर क्या है ?'

'काग़ज़।'

'कैसा ?'

'कोरा।'

'क्या बकवास कर रहा है ?'

'ठीक कह रहा हूँ।'

'तो क्या गड़बड़ कर रहा था ?'

'देख रहा था कि ये विभिन्न काग़ज़ इस अम्ल (तेज़ाब) से कितनी-कितनी देर में गलते हैं।

'यह काग़ज़', सुबोध ने काग़ज़ों के नमूनों में से एक निकाल कर कहा, 'साढ़े तीन मिनट में तेज़ाब से बिल्कुल गल जाता है और इसकी मुझे आवश्यकता थी।'

'क्यों, किसी के ऊपर तेज़ाब फेंकेगा ?'

'इसका उत्तर शाम को मिलेगा।'

'तू आखिर कर क्या रहा है ?'

'कहा तो कि शाम को उत्तर दूँगा।' इतना कह कर सुबोध अपना सामान समेट कर उठा और यद्यपि रमेश उसे पुकारता रहा, वह बाहर चला ही गया ......

शाम को अँधेरा हो जाने के उपरान्त सुबोध लौटा। वह बहुत प्रसन्न प्रतीत होता था। रमेश ने उसे देख कर कहा, 'कहो !'

'सफल।'

'अब बतलाओ।'

'जो पूछो।'

'तुम सवेरे जो कुछ कर रहे थे उसका क्या मतलब था ?'

सुबोध का मुख गम्भीर हो गया। वह कुछ देर चुप रहा मानो सोच रहा था कि कहे या न कहे। फिर सहसा बोला, 'देखो रमेश जब तुम जानना ही चाहते हो तो सुन लो ! मैं अब तक बम बनाने का प्रयत्न कर रहा था और आज सफल हो गया हूँ।'

कमरे में ऐसी स्तब्धता छा गई कि यदि सुई गिरती तो उसका शब्द भी सुनाई दे जाता। उस स्तब्धता को रमेश ने तोड़ा। उसके मुख से अस्फुट स्वर में निकला, 'बम ?'

'हाँ बम।'

फिर कुछ देर चुप्पी रही। तब रमेश ने पूछा, 'कैसे बनाया ?'

'तुम रसायन पढ़ते हो।' सुबोध ने कहा, 'तीव्र गंधकाम्ल का पोटेसियम क्लोरेट पर क्या प्रभाव पड़ता है ?'

'शायद छोटी सी आग और थोड़ी चटक-पटक।'

'और यदि उसके साथ कोई आक्सीजन-ग्राहक (ऑक्सीडॉइज़ेब्ल Oxidisable) पदार्थ रख दें, तो ?'

'तो आग तेज़ हो सकती है।'

'ठीक। तो मेरा बम पोटेसियम क्लोरेट, चीनी, बारूद और गंधकाम्ल का बना है। गंधकाम्ल जब उपरोक्त वस्तुओं के मिश्रण के संसर्ग में आता है तो आग लगती है और बारूद तथा आग से विस्फोट हो जाता है— यह तो मैं जानता ही था। अब आवश्यकता केवल इस बात की थी कि दोनों को इस प्रकार अलग किया जावे कि जब तक हम न चाहें, तब तक वे संसर्ग में न आ सकें और हमारे चाहने पर मिल जावें। छेद वाली धातु की पत्ती से हमारा कार्य नहीं सरता था क्योंकि उसमें

थोड़ा-सा हिलाने-डुलाने में ही स्वयं प्रयोग करने वाले के लिये भय था। हम चाहते थे कि काम सीधा और सस्ता हो, और हम स्वयं कर सकें। मैंने यह किया कि काँच की एक छोटी शीशी के पेंदे में एक छोटा छेद किया और ऊपर से शीशी का मुख काँच की डाट से बिल्कुल बन्द कर दिया। शीशी में अम्ल इतना भरा, और शीशी को लिटाकर रक्खा कि थोड़ा-सा हिलाने पर भी वह बाहर न निकले। परन्तु सीधी करते ही तेज़ाब शीशी से निकल जाता। मैं यह नहीं चाहता था। शीशी के सीधा कर देने पर भी तेज़ाब को निकलने के लिये इतना समय लगना चाहिये था कि प्रयोग करने वाला उसे लक्ष्य पर रख कर दूर निकल सके। बहुत देर भी नहीं लगनी चाहिये थी, क्योंकि इस बीच शायद कोई देख ही ले ······ और इसी लिये मैं आज सवेरे उन काग़ज़ों पर प्रयोग कर रहा था। यही वस्तु आज तक मुझे चिन्ता में डाल रही थी। अब तो साफ़ ही है। तुम समझ गये होगे ·········।'

'कुछ ठीक नहीं ······ ', रमेश ने कहा।

'अरे अब बतलाने को रहा ही क्या है? भाई मैंने विभिन्न काग़ज़ों पर प्रयोग करके देखा कि उस तेज़ाब से कौन काग़ज़ कितनी देर में गल जाता है। मुझे एक काग़ज़ ऐसा मिला जो गन्धक के तेज़ तेज़ाब से ठीक साढ़े तीन मिनट में गल जाता था। उस काग़ज़ का टुकड़ा मैंने शीशी के छेददार पेंदे के बाहर चिपका दिया। शीशी में तेज़ाब भरा और काग़ज़ के बाहर थोड़ा सा पोटेसियम क्लोरेट, चीनी और बारूद का मिश्रण रख दिया और इस सब को एक डिब्बे में भली भाँति बन्द कर दिया। मेरा बम तैयार हो गया। अब इसका प्रयोग करने वाले को केवल इतना ही करना है कि इसे जैसा टेढ़ा है, वैसा ही ले जा कर इच्छित स्थान पर सीधा रख दे और सर पर पाँव रख कर भाग जाय। ठीक साढ़े तीन मिनट उपरान्त ·········'

'तूने प्रयोग कर लिया?'

'हाँ।'

'किस पर?' रमेश ने भय से आँखें फाड़ कर पूछा।

'अरे अभी 'किस' पर नहीं। भूतों का टीला जानता है?'

'अरे बाप रे! दस मील दूर जंगल में?'

'जी हाँ। छद्म वेश में जाना पड़ा वहाँ तक। परन्तु परिश्रम सफल हो गया। एक पत्थर के साथ बहुत सा धूल-कंकड़ भी उड़ गया।'

'परन्तु भई सुबोध मुझे तो तुम्हारी यह बमबाज़ी और मार-धाड़ बिल्कुल पसन्द नहीं।'

'मैं जानता हूँ। तुम गाँधीवादी हो और गाँधी जी ईसाई न होते हुए भी ईसा

के इस उपदेश के भक्त हैं कि यदि कोई तेरे दाहिने गाल पर चाँटा मारे तो तू बायाँ भी उसकी ओर फेर दे। जो तेरा कुर्ता लेना चाहे ······'

'देखो गांधीवादी और गांधी-प्रतिवादी की बात नहीं। सवाल यह है कि इससे लाभ क्या?'

'तुम पढ़े-लिखे होकर भी ऐसी जाहिली की बात करते हो रमी, कि मुझे आश्चर्य होता है। आज हॉलैंड, बेल्जियम, फ्रांस, आयरलैंड किसके प्रताप से स्वतंत्र हैं? रूस भी ज़ारशाही के लौह-बन्धन से किस प्रकार छूटा?'

'परन्तु तुम वहाँ के जनमत को क्यों भूल जाते हो', रमेश ने कहा, 'वहाँ के बच्चे-बच्चे के हृदय में क्रांति की लहरें थीं। प्रत्येक हृदय में देश-प्रेम तथा देश पर मर मिटने की भावना उद्दाम वेग से प्रवाहित हो चली थी। अधिक लोग वहाँ शिक्षित थे और शिक्षा क्रांति की रीढ़ है। और अब तनिक भारत की ओर दृष्टि डालो। हम में अनुशासन, संयम शिक्षा, स्वास्थ्य, नियम-पालन, देश-प्रेम— कुछ नहीं। हमारे देश की अधिकांश जन संख्या तो जानती भी नहीं कि आख़िर स्वतन्त्रता है क्या। वे एक स्वतन्त्र राष्ट्र और एक गुलाम देश में अन्तर ही नहीं समझते। आज जिसे दोनों समय भरपेट मिल जाता है, वह अपनी समझ से स्वर्ग-सुख भोग रहा है; उसे और कुछ नहीं चाहिये। हमारे यहाँ कुल चौदह प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित हैं और इन शिक्षितों में वे लोग भी सम्मिलित हैं जो अंगूठा लगाने के स्थान पर अपने हस्ताक्षर भर कर पाते हैं ······ और फिर देखो कितने आदमियों की सहानुभूति तुम्हारे साथ है। वे ही भारतीय, जिनके लिये— यद्यपि यह कहना भ्रमपूर्ण है कि उनके लिये, क्योंकि अधिकांश हम जो कुछ करते हैं, अपने ही लिये करते हैं, फिर भी— तुम लोग जान हथेली पर लिये फिरते हो, तुम्हें फूटी आँखों नहीं देख सकते। वे ही तुम्हारे जानी दुश्मन बने हैं। अवसर पाते ही वे तुम्हें फाँसी के फन्दे में लटकवाने से नहीं चूकेंगे। और ······'

'रामी! मैं यह सब जानता हूँ। परन्तु फिर किया क्या जाय? क्या तुम समझते हो कि हाथ पर हाथ रख कर बैठने से हमें कुछ मिल जायगा? यदि तुम ········'

'नहीं भाई, हाथ पर हाथ रखने से नहीं मिलेगा। मैं कब कहता हूँ कि ऐसे बैठे रहो ······'

'तो क्या करें?'

'जो इतनी सब बुराइयाँ हमारे अन्दर घर कर गई हैं और जिन्होंने हमारे सामाजिक जीवन को बिल्कुल खोखला बना दिया है, पहले उन्हें दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। हमें पहले देश की जनता को शिक्षित करना होगा। उन्हें समझाना

होगा कि स्वतन्त्रता किसे कहते हैं ; संसार में हमारी क्या स्थिति है ; संसार कहाँ पहुँच चुका है और हम कहाँ पड़े हैं।'

'पर भई यह काम तो सरकार ही कर सकती है।'

'भले आदमी, यदि सरकार को ही करना होता और वह करती तो भारत आज दासता की बेड़ियों में जकड़ा न होता और न तुम्हें बम बनाने की आवश्यकता होती।'

'परन्तु हम लोग करें कैसे ?'

'देखो सुबोध, हमारे देश की नब्बे प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में निवास करती है, इसलिये हमारे सुधार-कार्य पहले गाँवों से आरम्भ होने चाहियें, बल्कि मैं तो कहूँगा कि अभी हमें अपना सारा ध्यान अपने गाँवों की दशा सुधारने में लगाना चाहिये। भारत के सात लाख गाँव हमारी रीढ़ हैं, हमारी नींव हैं। पहले हमें अपनी नींव सुदृढ़ बनानी चाहिये। परन्तु वहाँ की दशा अत्यन्त ख़राब है। निश्चय ही कार्य कुछ सरल नहीं है। ...... तुम धनी हो सुबोध। गाँव तुमने केवल पिकनिक पर ही देखे हैं। दूर से वे तुम्हें हरे-भरे, सुखी-समृद्ध ही दिखाई दिये हैं। परन्तु मैंने वे पास से देखे हैं, वहाँ का जीवन देखा है— वहाँ रहा हूँ। मैं जानता हूँ गाँवों की दशा क्या है और मैं जानता हूँ कि बिना अपने गाँवों की दशा सुधारे हमारा निस्तार नहीं ....'

'परन्तु यह इतना लम्बा मार्ग मेरे वश का नहीं।'

'मुझे कहना होगा सुबोध कि इस समय तुम बच्चों जैसी बातें कर रहे हो।' रमेश ने कहा, 'लगभग एक शताब्दि से चली आती हुई दासता को तुम कुछ ही दिनों में उड़ा देना चाहते हो ? कार्य इतना लघु तथा सरल नहीं है। उसके लिये धैर्य तथा परिश्रम की आवश्यकता है।'

'तो क्या तुम समझते हो कि गाँव में पड़े रह कर मांगते रहने से स्वतंत्रता मिल जायगी ?'

'नहीं मांगने से स्वतंत्रता नहीं मिलेगी, मैं मानता हूँ। परन्तु तुम ग़लत क्यों कह रहे हो ? गाँवों में 'पड़ने' नहीं जाना है, बल्कि वहाँ भी लड़ने ही जाना है। लड़े बिना तो कुछ मिलेगा नहीं, परन्तु लड़ाइयाँ और उनके लड़ने की रीतियाँ तथा समय भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि अभी मेरी लड़ाई का समय है। अपनी बुराइयों से पहले लड़ लें, फिर तुम्हारी लड़ाई का भी समय आ सकता है ....'

'नहीं रमेश। हममें मतैक्य नहीं हो सकता। हमारे मार्ग भिन्न हैं ....'

'कोई चिन्ता नहीं। मतैक्य होना भी कोई वैसी आवश्यक बात नहीं। मार्ग भिन्न हैं तो क्या हुआ, लक्ष्य तो एक ही है न ? हमें हमारा लक्ष्य मिलना चाहिये।

परन्तु तुम्हारे मार्ग से हानि अपनी भी कम नहीं है ··· ·· पर हाँ, अब तुम क्या करोगे ? किसी को मारोगे क्या ?'

'कल पता चल जायगा ।'

'अरे भई कल क्या ?' रमेश ने घबरा कर पूछा ।

'देख लेना ।' कह कर सुबोध बाहर निकल गया ।

११

चन्द्रमोहन युवक था, शिक्षित था, साहसी था और उसके शरीर में बल था। व्यायाम करने का उसे बाल्यावस्था से ही चाव था। ज़मींदारी घर— खाने-पीने की कोई कमी थी ही नहीं। डट कर व्यायाम करना तथा उसी के अनुरूप खाना-पीना— यह उसका नियम था। शरीर सहस्रों में एक था। शरीर के साथ मस्तिष्क— बड़ा सुन्दर जोड़ था। इसके साथ-साथ उसके हृदय में देश-सेवा का भाव था। विचारों में आतंकवादी था। देहरादून के एक आतंकवादी दल से वह सम्बन्धित था। नगर की पूर्व-उत्तर-पूर्व सीमा पर बहने वाली रिसपना नदी से आगे एक गहरे तथा भयानक खाले में उनकी सभाएँ हुआ करती थीं। यह खाला जगत्वाले का खाला कहलाता है। कुछ ऐसी डराने वाली निस्तब्धता इस खाले में व्याप्त रहती है कि दिन में जाते हुए भी डर लगता है। तो ऐसे खाले में वे लोग मिलते थे। यद्यपि चन्द्रमोहन आतंकवादी दल का सदस्य था फिर भी वह कट्टर आतंकवादी नहीं था। वह यह भी अनुभव करता था कि कोरे आतंकवाद से काम नहीं चल सकता; उससे पहले और-और सुधारों की आवश्यकता है। सुधार में सबसे पहली आवश्यकता है शिक्षा तथा संगठन। वह चाहता था कि सुधार भी चले और साथ ही आतंक का कार्य भी शिथिल न रहे।

चन्द्रमोहन कुलदेवता को पूजकर दूसरे देवताओं को पूजने के पक्ष में था। वह अपने गाँव में सुधार करना चाहता था— उसमें सुधार के लिये यथेष्ट क्षेत्र था। वह बच्चों तथा वयस्कों को अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा देना चाहता था परन्तु अपने पिता तथा ज़िला बोर्ड के प्रयत्न असफल होते देख कर वह कुछ हतोत्साह हुआ— फिर भी उसने आशा को बिल्कुल ही नहीं त्याग दिया। हृदय में शिक्षा-प्रचार की उत्कट अभिलाषा होते हुए भी यह बात उसके वश की नहीं थी कि गाँव के बच्चों और बूढ़ों को लेकर उनके साथ माथा मारता। हाँ यदि कोई भी और मनुष्य इस कार्य को करने का भार अपने कन्धों पर लेने को तैयार होता तो वह उसकी सब प्रकार से सहायता करने के लिये तैयार से भी अधिक था। हाँ एक भार उसने भी स्वयं अपने कन्धों पर लिया और वह था ग्रामवासियों की शारीरिक उन्नति।

प्रत्येक ग्राम में थोड़े बहुत ऐसे युवक मिल ही जाते हैं जो शरीर के दृढ़ हों, साहसी हों और जिनमें कुछ करने की लगन हो। चन्द्रमोहन ने गाँव

में से कुछ ऐसे ही चुने हुए युवक इकट्ठे किये। आरम्भ में उसने केवल एक अखाड़ा खुदवाया। उसमें वह स्वयं भी कभी-कभी लंगोट कस कर उतर पड़ता और युवकों को ज़ोर कराता। धीरे-धीरे और युवक भी अखाड़े की ओर आकर्षित हुए और अखाड़ा एक अच्छी व्यायामशाला में परिवर्तित हो गया। चन्द्रमोहन ने उसमें व्यायाम करने का बहुत सा सामान मंगा लिया। चन्द्रमोहन के आकर्षक व्यक्तित्व तथा व्यवहार की छत्रछाया में व्यायामशाला अपने कार्य तथा लोकप्रियता में दिनों-दिन उन्नति करने लगी।

युवकों में व्यायाम का चाव उत्पन्न करने के पश्चात् चन्द्रमोहन ने उन्हें थोड़ी-थोड़ी साधारण बातें बतलानी आरम्भ कीं। फिर कुछ-कुछ समाज तथा देश के विषय में भी बतलाने लगा। भगवंतपुर गाँव शाक-भाजी के खेतों के लिये प्रसिद्ध है। वहाँ से प्रतिदिन कितने ही टोकरे शाक-भाजी शहर जाती थी। लोग संध्या को गाँव लौट आते थे। उन्हीं लोगों के हाथ चन्द्रमोहन दैनिक पत्र मंगवाया करता था और प्रति सप्ताह अथवा एक पखवारे में स्वयं भी शहर जाकर नये ताज़े समाचार प्राप्त कर आता था और फिर अपनी मंडली को बतलाता था। इस प्रकार गाँव के उस युवक-दल ने धीरे-धीरे इतनी उन्नति की कि उसके सदस्य देश की सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं में भी बड़ी रुचि प्रदर्शित करने लगे। चन्द्रमोहन उन लोगों को प्रतिदिन समाचारपत्र पढ़ कर सुनाता था, समस्याएँ उन्हें समझाता तथा उनसे वाद-विवाद करता था। उसने उन्हें भारत के स्वर्ण-युग की बातें बतलाईं, भारत के पुराने वीरों की कथाएँ सुनाईं, क्रान्तिकारी तथा आतङ्कवादी दलों के इतिहास तथा उनके अमर शहीदों की गाथाएँ बताईं, भारत के राजनैतिक आन्दोलनों का इतिहास समझाया। सब कुछ सुन-सुन कर उन युवकों की भुजाएँ फड़क उठतीं और वे कुछ करने के लिये बेताब हो जाते।

भगवंतपुर के लिये देहरादून से राजपुर, मसूरी जाने वाली सड़क से किशनपुर गाँव के पास से रास्ता कटता है। देहरादून से राजपुर तक तो सड़क सीधी ही है परन्तु राजपुर से मसूरी तक के पन्द्रह मील के मार्ग में सैंकड़ों मोड़ हैं। कहीं-कहीं तो एक के ऊपर एक लगातार तीन मोड़ इस प्रकार आ गये हैं कि चीज़ देखने से ही सम्बन्ध रखती है। मसूरी की ऊँचाइयों से देखने पर यह सड़क काले, बल खाये हुए फ़ीते जैसी लगती है। कुछ दिन पहले से सरकार की यह योजना थी कि इन मोड़ों की संख्या में, और यदि हो सके तो मार्ग की दूरी में, कुछ कमी की जाय। इसका एक ही उपाय था और वह यह कि नई सड़क बनाई जाय। इस बात को ध्यान में रखते हुए किशनपुर के पास से राजपुर रोड से एक उप-सड़क बनाने की योजना थी। यह नई सड़क, मसूरी की पुरानी सड़क में, राजपुर से कई मील आगे कोटाल गाँव नामक गाँव के पास मिलने वाली थी। इस सड़क का कार्य काफ़ी आगे बढ़ चुका था। बहुत से गोरी चमड़ी वाले, जिनकी कोठियाँ राजपुर रोड पर थीं, इस सड़क पर बहुधा घूमने

के लिये आ जाया करते थे। कभी-कभी दो-चार टॉमी शराब पीकर, 'औरत' की खोज में, इस नई सड़क के आस-पास के गाँवों में चले जाते थे। भगवंतपुर के उस युवक-दल से यदि ऐसी किसी मतवाली पार्टी की मुठभेड़ हो जाती— जैसा कि एकाधिक बार हुआ था— तो फिर टॉमियों की ऐसी हजामत बनाई जाती थी कि फिर वे लोग भूले-भटके भी उधर दिखाई नहीं पड़ते थे।

अगस्त आन्दोलन के समाचार भगवंतपुर में भी पहुँचे। ये लोग टॉमियों, देशी सैनिकों तथा सिपाहियों के जनता पर अत्याचार के हृदय-विदारक समाचार सुनते, भारतीय नारियों के अपमान की बात सुनते, तो उनका रक्त खौल उठता और यद्यपि चन्द्रमोहन ने उन्हें किसी भी ऐसे कार्य को करने से, जो सभ्यता के विरुद्ध हो, पूरी तरह मना कर दिया था फिर भी कुछ युवक एक दिन एक जवान गोरी छोकरी को कहीं से उठा लाए और वह छोकरी कई दिवस उपरान्त भगवन्तपुर गाँव से पन्द्रह मील दूर एक खाले में क्षत-विक्षत दशा में बेहोश पड़ी मिली थी। एक बार बड़ी हाय-तोबा मची। टॉमियों ने गाँवों के बहुत चक्कर काटे। कई स्थान पर अमानुषिक व्यवहार किये, फिर भी अपराधियों का पता नहीं चला। फिर भी इन अत्याचारों को देख-सुन कर उन युवकों ने समझ लिया कि चन्द्रमोहन ठीक कहता था : अत्याचार की दिशा में हमारा प्रत्येक कार्य हमें बीस गुना करके भुगतना पड़ेगा। एक गोरी स्त्री की इज्ज़त के बदले कई गुनी अधिक भारतीय स्त्रियों की इज्ज़त देनी पड़ेगी। और तभी वैसा कार्य उस युवक-दल का वह प्रथम तथा अन्तिम था। चन्द्रमोहन से भी यह बात बड़ी सावधानी से छिपाई गई थी।

बारह अगस्त को चन्द्रमोहन शहर गया था। उस दिन और रात वह वहीं रहा। तेरह को भी वह ग़ायब रहा। चौदह को वापस आया। लौटकर वह केवल दो युवकों से मिला। युवक थे दलीप और रूपराम। उस दल में ये सब से अधिक उत्साही, बलिष्ठ, चतुर तथा शिक्षित और विश्वासपात्र थे। चन्द्रमोहन ने दोनों को एकान्त में बुला कर कहा, 'अब माता की कोख को सफल करने का समय आया है। बोलो तैयार हो?'

उत्तर मिलने में क्षण भर का भी विलम्ब न हुआ।

'परन्तु यह भली भाँति समझ लो कि कदाचित् फिर तुम्हें इस संसार में आँख खोलने का अवसर न मिले।'

परन्तु व्यर्थ के शब्दों ने उन आवश्यक क्षणों की महत्ता को नष्ट नहीं किया।

'तो परसों ढोरों के लौटते ही इसी स्थान पर।' चन्द्रमोहन ने कहा।

दोनों ने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया।

* * * * *

उसी दिन चन्द्रमोहन फिर कहीं चला गया और तीसरे दिन लौटा।

जिस दिन चन्द्रमोहन लौटा, उसी दिन संध्या के धूमिल वायुमंडल में ज्योंही गाँव के चरवाहे बुधुआ की ऊँची पुकार 'ढँघर बाँध लियो जी ······' गूँजी, दलीप और रूपराम एक-एक अच्छी, लम्बी लाठी लिये अपने-अपने घर से निकले और जमींदार महाशय की हवेली के पीछे के घने जंगल में पूर्व-निश्चित स्थान पर पहुँचे। चन्द्रमोहन कुछ ही क्षण पहले वहाँ पहुँचा था, उन्हें देखते ही मुस्कराया और बोला, 'आ गये?' दोनों ने उत्तर में कुछ नहीं कहा। तीनों युवक कुछ देर चुप रहे, फिर चन्द्रमोहन ने ही चुप्पी तोड़ी। उसने कहा, 'देखो मैं एक बार फिर तुम दोनों को स्पष्ट बतला देना चाहता हूँ कि जिस काम पर मैं तुम्हें भेज रहा हूँ उसमें तुम्हारी जान जाने का पूरा भय है। वह काम करने के बाद अथवा पहले ही, सम्भव है कि तुम फिर कभी न लौट सको, और निश्चय ही कुछ दिन तो तुम्हें बाहर रहना ही होगा। बोलो तैयार हो?'

'भैया जी, क्या अभी तक हम पर विश्वास नहीं हुआ?' दलीप बोला।

'यह बात नहीं दलीप, परन्तु जो भय तुम्हारे लिये इस कार्य में है, उसे मैं रत्तीभर भी छिपाना अथवा छोटा करना नहीं चाहता। अच्छा तैयार हो तो थोड़ा और अन्दर चलो।'

उन्होंने अपने चारों ओर सतर्कतापूर्वक दृष्टि डाली, कुछ देर आहट लेते रहे और फिर थोड़ा और आगे बढ़े। एक बड़े पेड़ के नीचे पहुँचने पर वे रुक गये। पेड़ के नीचे कई पत्थर इधर-उधर पड़े थे। प्रतीत होता था कि वे पत्थर वहाँ पर वैसे ही नहीं आ गये थे बल्कि जान-बूझ कर लाए गये थे। तीनों उन पत्थरों पर इस प्रकार बिना सोच-विचार किये बैठ गये कि पता चलता था कि वह स्थान और वे पत्थर उन लोगों के लिये अपरिचित नहीं थे। चन्द्रमोहन ने बिना समय खोए कहा, 'तुम्हें रेल की एक पुलिया उड़ानी होगी ·················' इसके बाद वह कुछ देर तक अपनी बात का प्रभाव देखने के लिये रुका, फिर कहा, 'प्रतिदिन के समाचार से तुम्हें ज्ञात हो रहा होगा कि सब स्थानों पर तार काटने, पटरी उखाड़ने और रेल रोकने या उलटने के काम हो रहे हैं। परन्तु इससे तुम्हें इस कार्य को सरल नहीं समझना चाहिये। मैं तुम्हें फिर बतला रहा हूँ कि यह कार्य जोखों भरा है! परन्तु बिना जोखिम उठाए संसार में कुछ भी होना सम्भव नहीं है। ······ अजबपुर रेलवे हॉल्ट से तीन फ़र्लांग की दूरी पर बनी हुई सातवीं पुलिया तुम्हें उड़ानी है। फिर याद कर लो: अजबपुर रेलवे हॉल्ट से सातवीं पुलिया। एक छोटे से बरसाती नाले पर वह पुलिया है। कल रात को आठ बज कर चालीस मिनट पर एक फ़ौजी स्पेशल ट्रेन देहरादून स्टेशन छोड़ देगी और आठ बज कर छियालीस और अड़तालीस मिनट के बीच उस पुलिया पर से

गुज़रेगी। बस आठ बज कर पैंतालीस मिनट तीन सेकिंड से ले कर आठ बज कर छियालीस मिनट दस सेकिंड के बीच में यह काम हो जाना चाहिये। इस कार्य के विषय में और सूचना तुम्हें कल एक और स्थान से मिलेगी।' चन्द्रमोहन थोड़ी देर फिर रुका और दोनों को उतनी बातें भली भाँति समझने का अवसर दिया और फिर बोलने लगा, 'तुम दोनों ने ही सैन्ट्रल रैस्ट्राँ देखा है, जहाँ मैं शहर में शाम को मिला करता हूँ। तुम मुझसे एक पर्चा ले जाओगे और कल शाम को सात बज कर उनसठ मिनट पर रेस्ट्राँ के दरवाज़े पर पहुँचना होगा— याद रक्खो सात बज कर उनसठ मिनट। वहाँ तुम्हें एक आदमी खड़ा मिलेगा जिसके बाएँ गाल पर नीचे के जबड़े से आँख तक एक भद्दे चीरे का निशान है। तुम केवल उसके सामने जा कर खड़े हो जाना। वह तुम्हारे सामने एक सिगरेट निकाल कर चार बार अँगूठे के नाख़ून पर ठोकेगा और फिर जेब में रख लेगा। यही उसकी पहिचान है। तब तुम उससे कहना 'हवेली'; और वह तुम्हें रेस्ट्राँ के एक पीछे के कमरे में ले जायगा। वहाँ बैठे हुए आदमी को मेरा दिया हुआ पर्चा दे देना और उसके बाद जो कुछ वह कहे उसे ध्यान से सुनना और अक्षरशः उसका पालन करना। बस मुझे तुमसे इतना ही कहना है।'

कुछ देर पश्चात् चन्द्रमोहन ने पूछा, 'सारी बातें याद रहेंगी न?'

'एक-एक शब्द।' दोनों ने उत्तर दिया।

'एक बार फिर थोड़े में दुहराता हूँ। ध्यान से सुनो: कल शाम को सात बज कर उनसठ मिनट पर सैन्ट्रल रेस्ट्राँ के दरवाज़े पर ....' और अपनी बात समाप्त होने पर चन्द्रमोहन ने एक पर्चा, घड़ी और नोटों की एक गड्डी अपने हाथ में ले कर कहा, 'यह पर्चा है जो तुम्हें देना है। यह घड़ी तुम्हें चाहिये। इसके समय से चलना। और यह हैं दस-दस और पाँच-पाँच रुपये के नोटों में दो सौ रुपये की गड्डी। थोड़े-से छोटे नोट भी तुम्हें देता हूँ। बोलो किसे दूँ?'

'रूपराम को।' दलीप बोला और उसके साथ ही साथ रूपराम बोला, 'दलीप को।'

'एक दूसरे पर तुम्हारा विश्वास देख कर प्रसन्नता हुई परन्तु यह ग़लत होगा। देखो दोनों आधे आधे रुपये रखना। ईश्वर न करे, परन्तु यदि कहीं तुम साथ-साथ न भाग सके तो एक दूसरे की चिन्ता न करना।' यह कह कर चन्द्रमोहन ने उन्हें नोट देकर दिलीप को पर्चा दिया और रूपराम को घड़ी। इसके पश्चात् चन्द्रमोहन ने दोनों को एक-एक पिस्तौल देते हुए कहा, 'पिस्तौल चलाना मैं तुम्हें सिखा चुका हूँ। ठीक निशाने की चिन्ता न करो। मैं तुम पर विश्वास करता हूँ कि तुम वह भारतीय हो जिनके लिये मान और अपना भेद जीवन से कहीं अधिक प्रिय है ...... अच्छा बस। मैं कह चुका, ईश्वर तुम्हारे साथ रहे।'

कुछ देर पूर्ण स्तब्धता रही। जंगल के झींगुरों और कीड़ों के तीखे स्वर ही उस स्तब्धता को भंग कर रहे थे। तीनों कुछ देर चुपचाप बैठे रहे, फिर उठे और बिना एक भी शब्द बोले वापस हो लिये। हवेली के पास आ कर, जहाँ से उनके मार्ग अलग होते थे, चन्द्रमोहन ने दोनों को बारी-बारी गले से लगाया और उनसे अलग हो गया।

* * * * * *

'कितने बजे शहर चलेगा ?' रूपराम ने दलीप से पूछा।

'जब तुम कहो।' दलीप ने उत्तर दिया।

'तो कल तीन बजे चलना ठीक होगा।'

'परन्तु ······'

'परन्तु क्या ?'

'मेरा विचार है', दलीप ने कहा, 'हम दोनों का साथ जाना ठीक नहीं है।'

'फिर ?'

'मैं कल सवेरे यहाँ से गाँव-गाँव राजपुर जाऊँगा और वहाँ से देहरादून चला जाऊँगा। तुम सीधे देहरे जाना। वहीं हम लोग मिलेंगे।'

'किस जगह ?'

'परेड के फ़व्वारे के विषय में क्या कहते हो ?'

'ठीक। परन्तु समय ?'

'ठीक सात बजे।'

'अच्छा।' रूपराम ने कहा।

'कल शाम को सात बजे, परेड के फ़व्वारे पर।' दलीप ने दुहराया।

'बिल्कुल चौकस।' रूपराम ने कहा और दोनों अपनी-अपनी राह चल दिये······

१२

पूर्व-निश्चित योजना के अनुसार रूपराम और दलीप सात बजे परेड के फ़व्वारे पर मिले। वहाँ से चल कर वे पाँच मिनट में राजपुर को जाने वाली मोटरों के अड्डे पर आए। उनके पास फिर भी चव्वन मिनट शेष थे। उनको कार्य समाप्त करने में न जाने कितनी देर लगे और उसके बाद भी पता नहीं फिर कब तक खाना-पीना न मिल सके यह सोच कर उन्होंने पहले कुछ खाना-पीना निश्चित किया। वे दोनों 'पंजाब मिष्टान्न भंडार' में गये। वहाँ उन्होंने चाय तथा कुछ खाने की चीज़ें लाने की आज्ञा दी। रूपराम घड़ी देखता रहा। उनके पास समय था। वे आराम से खाते रहे। दलीप के मुख से कुछ चिन्ता तथा चंचलता टपकती थी; रूपराम ने उसे शान्त रहने का आदेश दिया। समय से दस मिनट पहले उन्होंने इधर-उधर देखकर अपनी-अपनी जेबों में रुपये तथा नोटों की गड्डी टटोली और फिर उठे, चाय के दाम चुकाए और सात बज कर अट्ठावन मिनट पर वे इलाहाबाद बैंक के सामने थे। वहाँ से सैन्ट्रल रैस्ट्राँ के दर्वाज़े तक पहुँचने में उन्हें मुश्किल से सात सेकिंड लगे होंगे। दर्वाज़े पर कोट-पतलून डाट कर खड़े हुए एक व्यक्ति को उन्होंने देखा। उसके बाँए गाल पर नीचे के जबड़े से आँख तक चीरे का निशान था। इन दोनों के द्वार के सामने ठहरते ही उसने बिना इनकी ओर देखे, पास की साइकिल वाले की दूकान के मालिक के लड़के से ठट्ठे की कोई बात कहते हुए जेब से एक सिगरेट निकाली, चार बार उसे बाँए हाथ के अँगूठे के नाखून पर ठोका और फिर जेब में रख लिया। उसके सिगरेट जेब में रखते ही रूपराम, जो ऊपर से देखने से तो दलीप के साथ वार्तालाप में मग्न था, परन्तु वास्तव में कनखियों से उस मनुष्य के कार्य को भली भाँति लक्ष्य कर रहा था— उस आदमी की ओर बढ़ा और धीरे से कहा, 'हवेली।'

'मेरे साथ आइये।' उस मनुष्य ने उन्हें अपने पीछे आने का संकेत करते हुए कहा।

वह मनुष्य उन्हें अपने साथ रैस्ट्राँ के आगे से ले चला और कुछ गज़ आगे जा कर इलाहाबाद बैंक के पास से बाँई ओर जाने वाली गली में मुड़ गया। गली में थोड़ी दूर चल कर वह फिर बाँए हाथ को मुड़ा, लकड़ी के एक बड़े फाटक में बनी एक पल्ले की छोटी खिड़की में से हो कर अन्दर एक बड़े चौक में घुसा और फाटक के

ठीक सामने, चौक के पार बने कमरों की ओर चला। पार बने उन कमरों में से सब से बाँए हाथ का कमरा वास्तव में रेस्ट्राँ का सबसे भीतरी कमरा था जो रसोई-घर के रूप में प्रयुक्त होता था। उस कमरे के पास बनी पक्की सीढ़ी से— जिस की सबसे निचली पैड़ी पर एक गंदा, लम्बे तथा उलझे बालों वाला परन्तु बलिष्ट युवक बैठा हुआ बीड़ी पी रहा था — हो कर ऊपर एक कमरे में पहुँचे।

इस कमरे में दो द्वार थे। एक तो वह जिससे ये प्रविष्ट हुए थे और दूसरा उसके ठीक सामने। परन्तु इस दूसरे द्वार के पल्ले बन्द थे। उस कमरे में एक शराबी-सा आदमी, बिना बिछावन की चारपाई पर लेटा हुआ सिगरेट पी रहा था। कमरे में सुल्फे की गन्ध भरी थी। प्रतीत होता था कि वह मनुष्य सिगरेट में भर कर सुल्फा पी रहा था। परन्तु उस आगे वाले आदमी को देख कर वह बड़ी आश्चर्यजनक फुर्ती से बैठा और उसे रोकने की मुद्रा में हाथ उठाया परन्तु आगे वाले मनुष्य ने कहा 'हवेली' जिसके उत्तर में उस रोकने वाले ने सामने का द्वार खोल कर उन्हें अन्दर जाने दिया और स्वयं फिर द्वार बन्द करके पहले की ही भाँति लेट रहा।

इस कमरे के अन्दर एक और कमरा था। उसमें बिस्तर बिछा हुआ एक पलंग, एक मेज़, दो कुर्सी और एक आलमारी थी। इसके अतिरिक्त उसमें थोड़े-से कपड़े भी टंगे थे। उस कमरे की दाहिनी दीवार में बने द्वार के पर्दे के पास खड़े होकर आगे वाले आदमी ने कहा, 'अन्दर आ सकता हूँ?'

'आओ।' अन्दर से रोबीले स्वर में उत्तर मिला।

इतने व्यापार में केवल पाँच मिनट लगे।

तीनों आदमी अन्दर गये। कमरे में सामान थोड़ा ही था परन्तु प्रत्येक वस्तु में सरलता, स्वच्छता तथा अनुशासन झलकता था। कमरे में एक बड़ी दरी बिछी थी जिसके एक ओर एक क़ालीन था। क़ालीन पर एक नीचे डेस्क के पीछे एक व्यक्ति बैठा था जिसका सारा शरीर— मुख तथा हाथों सहित— कपड़े से ढका था। गठन से शरीर में अपरिमित बल प्रतीत होता था।

'परिचय?' उस अज्ञात व्यक्ति ने पूछा।

'हवेली।' आगन्तुक ने उत्तर दिया।

'तुम लोगों को चन्द्रमोहन जी ने भेजा है?' कपड़े वाले व्यक्ति ने रूपराम तथा दलीप से पूछा।

'जी।' रूपराम ने कहा।

'तुम्हें मालूम है कि क्या करना है?'

'अजबपुर रेलवे हाल्ट से सातवीं पुलिया उड़ानी है।'

'ठीक। नीचे गाड़ी खड़ी है। उसमें तुम्हें एक बम रक्खा मिलेगा, वह घड़ी तथा बैटरी के संयोग से फटने वाला टाइम-बम है। यदि कोई त्रुटि नहीं होगी तो तुम्हारे लिये उसमें कोई भय नहीं है। तुम्हें केवल इतना ही करना है कि बम को रेल की पटरी से बाँध देना और जैसे मैं अभी तुम्हें बतलाऊँगा, वैसे बम, घड़ी और बैटरी के तारों को जोड़ देना और अपनी घड़ी से — जिसे तुम अभी मेरी घड़ी से मिलाओगे— बम वाली घड़ी को मिला कर आठ बज कर छियालीस मिनट के लिये सैट कर देना और उस स्थान से भाग जाना। परन्तु यह कार्य आठ बज कर चालीस से बयालीस मिनट के बीच में हो जाना चाहिये। फिर किसी भी प्रकार कोढ़ीखाने को जाने वाली सड़क पर बने नहर के पुल पर पहुँच जाना। वहाँ तुम्हें एक कार खड़ी मिलेगी। कार में रक्खे कपड़ों से अपने कपड़े बदल लेना। इसके पश्चात् तुम्हारा कार्य समाप्त हो जायगा। कार तुम्हारे गन्तव्य स्थान तक तुम्हें पहुँचा देगी ...... घड़ी मिलाओ ...... इस समय आठ बज कर चौदह मिनट सत्ताईस सेकिंड हुए हैं ...... जल्दी करो, समय नहीं है।'

रूपराम ने घड़ी मिलाई। इसके पश्चात् उस व्यक्ति ने डेस्क में से टाइम-बम, घड़ी, बैटरी निकाली और जल्दी से तारों के सम्बन्ध करके उन्हें दिखला दिया। रूपराम और दलीप ने सिर हिला कर प्रकट किया कि वे समझ गये हैं। फिर उसी व्यक्ति ने चौरे वाले को कुछ संकेत किया। उसने एक द्वार खोला और तीनों एक छत पर आ गये। फिर वे एक ऐसे कमरे की ओर बढ़े जो देखने में टट्टीघर प्रतीत होता था, परन्तु उसके अन्दर पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि वहाँ से रस्सी की एक सीढ़ी लटकी हुई थी। तीनों आदमी नीचे उतरे। नीचे का द्वार बन्द करके वे एक गली में पहुँचे। वहाँ एक कार खड़ी थी। वे लोग कार में बैठे और कार चल पड़ी।

परन्तु उन्हें पता भी न चला कि पुराने नाले के पास के चौराहे से एक कार कब उनके पीछे लग गई!

१३

पंजाबी और गोरखा के समान स्वामिभक्त जातियाँ संसार में कहीं नहीं मिलेंगी। जब भी कभी भारतीयों पर गोली चलाने का अवसर आया, गोरखे तथा सिख फ़ौजी, टॉमियों से भी अधिक सहायक सिद्ध हुए। सन् अट्ठारह सौ सत्तावन में ही यदि गोरखों तथा सिक्खों ने अपनी अत्यन्त उच्च कोटि की स्वामिभक्ति का परिचय न दिया होता तो आज भारत का स्वरूप बिल्कुल दूसरा होता। उन्नीस सौ बयालीस में भी पंजाबी फ़ौजी जवान, उस समय को भूल कर जब जलियाँ वाले बाग़ में उन्हीं पर टॉमियों द्वारा गोलियाँ बरसाई गई थीं, सफ़ेद चमड़े वाली किसी स्त्री को मार डालने पर गर्भवती पंजाबी स्त्रियों को, तथा आज गुलामी में मज़े लेने वाले जवानों को पेट के बल रेंगकर एक गली में से हो कर जाना पड़ा था, टॉमी को ठीक से सलाम न कर पाने पर शरीर के भाग-विशेष पर ठोकरें खानी पड़ी थीं,— अपने भाइयों पर दमन-चक्र चलाने में अधिकारियों का साथ दे रहे थे।

इस स्वामिभक्ति से प्रभावित हो कर बयालीस के उपद्रव के दिनों में गोरखे तथा पंजाबी फ़ौजी टुकड़ियाँ रेल की पटरियों, पुलों तथा स्टेशनों पर पहरा देने के लिये नियत कर दी गई थीं और उन्हें आदेश था कि रेल की पटरी, टेलीफ़ोन और तार के तारों के पास किसी संदिग्ध व्यक्ति को देखते ही बन्दी बना लिया जाय और यदि मामला गम्भीर हो तो बिना सोचे-विचारे गोली मार दी जाय। देहरादून से काफ़ी दूर तक रेल की लाइन पर गोरखा फ़ौजें नियत थीं।

दलीप तथा रूपराम उस व्यक्ति के साथ ठीक सवा आठ बजे कार में बैठे थे। ड्राईवर ने गाड़ी सीधी अजबपुर की ओर नहीं छोड़ी। वह गाड़ी को पहले बहुत-सी चक्करदार सड़कों पर घुमाता रहा। इस प्रकार निरुद्देश्य मोटर घुमाते रहने के छठे मिनट में, गाड़ी में बैठे हुए उस चीरे वाले व्यक्ति ने— जो तब तक बार-बार पीछे मुड़ कर देख रहा था— आगे झुक कर ड्राईवर से कहा, 'हमारा पीछा किया जा रहा है। थोड़ा-सा चक्कर देकर फिर शिवालिक क्लब वाली सड़क पर पूरी तेज़ी से गाड़ी छोड़ दो। धर्मपुर में 'रमा औषधालय' के पास, जहाँ से अजबपुर को सड़क जाती है, केवल तीन सेकिंड के लिये गाड़ी रोकना और फिर तेज़ चल देना।' इसके बाद उस व्यक्ति ने रूपराम तथा दलीप से कहा, 'उतरने के लिये फ़ौरन तैयार हो जाओ।'

दलीप ने बम, बैटरी और घड़ी हाथ में ली तथा रूपराम ने पिस्तौल संभाली। लगभग चार मिनट बाद गाड़ी रमा औषधालय के सामने पहुँच कर ज़रा रुकी तभी रूपराम और दलीप गाड़ी से कूद पड़े और सड़क के किनारे बरसाती ऊँची घास से भरी नाली में लेट गये। गाड़ी चली गई। पहली गाड़ी के निकलने के लगभग तीस सेकिंड पश्चात् एक और गाड़ी तेज़ी से उधर से निकली। उस गाड़ी के जाते ही दोनों उठे और जल्दी-जल्दी नहर पर आए और नहर के किनारे-किनारे रेल की पटरी की ओर चले। नहर पर बने रेल के पुल पर पहुँचते ही दोनों का खून जम सा गया। पुल पर एक गोरखा राइफ़ल लिये खड़ा था। वे दोनों रुक गये। रूपराम ने घड़ी देखी। आठ बज कर अड़तीस मिनट हुए थे। केवल आठ मिनट शेष थे। रूपराम ने दलीप से कुछ कहा। रूपराम कुछ पीछे रह गया और दलीप आगे बढ़ा। वह सीधा गोरखे सन्तरी के पास पहुँचा और बोला, 'सूबेदार साहब, माचिस है?'

गोरखे ने अपनी छोटी-छोटी आँखों से घूरते हुए कुछ कहना चाहा परन्तु विद्युत्-गति से उछल कर रूपराम ने उसकी नाक पर अपना सिर मार दिया। एक छोटी-सी 'आह' करके संतरी राइफ़ल छोड़ कर लुढ़क गया। तब तक रूपराम भी आ गया। दोनों ने उसे उठाया और पास के मक्का के खेत में ले गये। उन्होंने उसके मुँह में उसी का कपड़ा फाड़ कर ठूँस दिया, ऊपर से पट्टी बाँधी और हाथ-पैर बाँध कर छोड़ दिया। अब खोने के लिये बिल्कुल समय नहीं था। दोनों पटरी-पटरी नीचे की ओर गये। सातवीं पुलिया दूर नहीं थी। एक छोटे-से खाले पर यह बनी थी।

जब दोनों उस पुलिया पर पहुँचे तो रूपराम ने अपनी वही चमकदार डायल वाली घड़ी निकाल कर हाथ में ली। आठ बज कर चालीस मिनट हो चुके थे। रूपराम और दलीप दोनों घुटनों तक पानी से भरे खाले में पटरी के नीचे बैठ गये और साथ लाए बम, घड़ी और बैटरी को पटरी से बाँध दिया। इस काम में डेढ़ मिनट लगा। आठ बज कर इकतालीस मिनट तीस सेकिंड हो चुके थे। दलीप ने बम के दोनों तार हाथ में पकड़ लिये। घड़ी और बैटरी पहले ही जुड़े थे। दोनों अपने कार्य में इतने लगे थे और घड़ियों पर ही दोनों की आँखें जम रही थीं कि उन्हें घड़ियों के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था और उन घड़ियों की टिक्-टिक् उन्हें अपने पैरों के नीचे बहते हुए पानी की आवाज़— जो उनके पानी में बैठने के कारण पैदा हो गई थी— से ऊपर स्पष्ट सुनाई दे रही थी। दोनों के लिये एक-एक क्षण युगों के समान बीत रहा था। उनके हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहे थे।

'हूँ······' रूपराम ने बम से सम्बधित घड़ी की सुइयों को अपनी घड़ी की सुइयों से अन्तिम बार मिलाते हुए कहा। दलीप ने घड़ी तथा बम के खुले तारों को जोड़ दिया और दोनों पटरी के नीचे से बाहर निकले। परन्तु बाहर निकलते ही उन्हें सुनाई पड़ा, 'हाथ ऊपर करो।' और टार्च का भरपूर प्रकाश उनके मुँह पर पड़ा।

दोनों के पैरों के नीचे की धरती खिसक गई। आगे भी मौत और पीछे भी। दोनों एक से अधिक एक भयानक। दलीप आगे था और रूपराम पीछे। पलक झपकते रूपराम ने जेब में हाथ डाला और क्षण भर पश्चात् टार्च की रोशनी से छः इंच दाहिनी ओर नली करके घोड़ा दबा दिया। परन्तु उसने कुछ क्षण की देर कर दी। उसकी पिस्तौल के प्रकाश में आने तथा गोली की आवाज़ के साथ ही साथ एक और गोली छूटने की आवाज़ हुई और टार्च वाले मनुष्य के साथ दलीप भी गिर पड़ा। रूपराम ने झपट कर घास पर पड़ी टार्च उठाई और दूसरे व्यक्ति पर डाली। वह कोई फ़ौजी अफ़सर था। सम्भवतः सिपाहियों को देखने के लिये गश्त पर निकला होगा। गोली उसकी छाती में लगी थी और वह मर चुका था। रूपराम दलीप के ऊपर झुक गया। मृत्यु-यन्त्रणा से उसका मुख विकृत हो गया था परन्तु रूपराम को अपने ऊपर झुके देख उसने बड़े कष्ट से मुस्कराने का विफल प्रयत्न करते हुए कहा, 'मैं नहीं बचूँगा रूपराम! तुम भागो। भैया जी से कहना मैंने अपनी माँ का दूध सफल किया है।'

वह भावुकता का समय नहीं था। रूपराम ने आती हुई रुलाई को रोका। एक क्षण सोच कर उसने अपनी पिस्तौल भूमि पर डाल दी और दलीप की पिस्तौल अपनी जेब में रख ली। सहसा गाड़ी की घड़घड़ाहट की ओर उसका ध्यान गया। गाड़ी की रोशनी भी दिखाई देने लगी थी। वह पानी में छुप-छुप करता हुआ खेत की ओर भागा।

कुछ ही दूर जा कर वह एक खेत में चढ़ गया और खेत के अन्दर घुस कर रुका। उसने घड़ी देखी। आठ बज कर ठीक छियालीस मिनट हुए थे। केवल दस सेकिंड और! रूपराम का हृदय उत्तेजना के कारण फटने को तैयार हो गया। वह साँस रोक कर प्रतीक्षा करने लगा। गाड़ी की घड़घड़ाहट प्रति क्षण पास आती जा रही थी........ पाँच सेकिंड!...... रूपराम के आसपास की भूमि हिल रही थी, मक्का के ऊँचे पौधों की पत्तियाँ सरसरा रही थीं......... चार सेकिंड!...... सामने कुछ दूरी पर एंजिन की तेज़ रोशनी से दिन का सा प्रकाश हो रहा था...... दो सेकिंड...... एक सेकिंड...... गाड़ी उस पुलिया पर से हो कर जा रही थी........ एक भयंकर विस्फोट हुआ। उसके साथ हृदय-विदारक चीत्कार तथा लोहे की खनखनाहट, खड़खड़ाहट आदि रूपराम को सुनाई पड़ी। एक बार तो रूपराम को प्रतीत हुआ कि उन शब्दों तथा चीत्कारों को सुनते-सुनते वह संज्ञा-शून्य हो जायगा, परन्तु वह संभला। उसे याद आया कि उसे कोढ़ीख़ाने के पास वाली नहर पर बने पुल पर पहुँचना है। वह खेतों में से हो कर हरिद्वार रोड पर पहुँचा और वहाँ से देहरादून की ओर चला। वह गाँव वालों जैसे कपड़े पहिने था। उस वेश में— जो उस पर प्राकृतिक-सा था—

उसे डरने की विशेष बात नहीं थी फिर भी वह सतर्कतापूर्वक जा रहा था। उस विस्फोट की ध्वनि को धर्मपुर तथा अजबपुर के निवासियों ने भी सुन लिया था। बड़ी अधिक संख्या में लोग भाग रहे थे। कुछ लोगों ने उससे प्रश्न भी किये कि वह ध्वनि उसने सुनी थी अथवा नहीं और क्या वह उसके विषय में कुछ बतला सकता था। वह संक्षिप्त उत्तर देकर अपने मार्ग चलता रहा और चुंगी के पास नहर पर पहुँच कर नहर के किनारे-किनारे अपने गन्तव्य स्थान की ओर चल दिया।

१४

जिस दिन सुबोध रमेश को अगले दिन कुछ बतलाने का वचन देकर घर से गया, उससे अगले दिन दस बजते-बजते सारे शहर में सनसनी फैल गई और धर-पकड़ का बाज़ार गर्म हो गया। देसी बम द्वारा कमिश्नर के दफ़्तर में आग लगा दी गई थी और एक नौकर घायल हो गया था।

सुबोध मुस्कराता हुआ आया और रमेश से बोला, 'कुछ सुना ?'

'हाँ। कमिश्नर का दफ़्तर जल गया है। तो क्या तुमने .... ?'

'ठीक मैं तो नहीं। हाँ ...... कुछ-कुछ ...... '

'कैसे किया ?'

'क्या करोगे पूछ कर ?'

'कुछ हर्ज न हो तो बतलाओ।'

'देखो आज सवेरे नित्य की भाँति नौ बजे भंगी दफ़्तर में झाड़ू लगा रहा था। चौकीदार दफ़्तर के कमरे खोल कर, भंगी से थोड़ी-सी बातचीत करने के पश्चात् अपने कमरे में जा चुका था। उसका खाना चूल्हे पर चढ़ा था और उसे पौने दस बजे तक खाना खा-पीकर दफ़्तर में पहुँचना था। सवा नौ बजे एक लड़का डाकिये की वर्दी में .... '

'वर्दी कहाँ से मिली ?'

'यह जानने से विशेष लाभ नहीं। हाँ तो डाकिये की वर्दी में वह लड़का गया और भंगी से कहा, 'दफ़्तर का यह पार्सल ज़रूरी है।' भंगी ने चपरासी को पुकारा परन्तु जब चपरासी एक-दो पुकारों पर नहीं बोला तो डाकिया बोला, 'मुझे देर हो रही है। मैं ही अन्दर रख देता हूँ।' वह अन्दर गया और काग़ज़ों के ढेर के बीच उस पार्सल को खड़ा करके रख आया और भंगी से यह कह कर कि मेज़ पर रक्खा है, साइकिल पर चढ़ कर चला आया। ठीक साढ़े तीन मिनट बाद...... '

'तो क्या तुम्हीं ?' रमेश ने पूछा।

'उसकी चिन्ता न करो।' रमेश ने मुस्करा कर उत्तर दिया।

कमिश्नर के दफ्तर के बम-काण्ड से कॉलेज भी अप्रभावित नहीं रहा। अधिकारियों का विचार था कि यह छात्रों की ही कार्यवाही थी और बम बनाने की सामग्री भी कॉलेज के रसायन-विभाग से ही गई थी। नगर में कई सरकारी दफ्तर फ़ास्फ़ोरस से जला दिये गये थे। इनके लिये कॉलेज का रसायन-विभाग दोषी ठहराया गया। पुलिस की ओर से एक जाँच-समिति नियत की गई जिसमें पुलिस के ऊँचे अधिकारी थे।

कॉलेज के रसायन-विभाग के अध्यक्ष डॉक्टर पाँडे पक्के राष्ट्रीय विचारों वाले तथा बड़े रोबीले और दबंग प्रकृति के मनुष्य थे। अनुशासन के सम्बन्ध में उनकी कठोरता प्रसिद्ध थी। अपने कार्य के पक्के थे। उनका कहना था कि मनुष्य अपना कार्य ठीक करता रहे फिर किसी से दबने की आवश्यकता नहीं।

पुलिस अधिकारी प्रिन्सिपल महोदय को साथ लेकर आए। प्रिन्सिपल महोदय ने कहा, 'डॉ० पाँडे! ये लोग आपकी प्रयोगशालाएँ तथा गोदाम देखना चाहते हैं।'

'बड़ी प्रसन्नता से।' डॉ० पाँडे ने उत्तर दिया।

'कहिये डॉक्टर साहब, आपका फ़ास्फ़ोरस कहाँ रक्खा है?' एक अफ़सर ने कहा।

'चलिये, देखिये।' डॉक्टर साहब ने कहा और उन लोगों को ले चले।

नगर के उपद्रवों का समाचार डाक्टर साहब को मिलता रहता था। वे किसी ऐसे ही 'देखना चाहने' की आशा कर रहे थे और पहले ही प्रबन्ध कर चुके थे। सारे ज्वलनशील पदार्थ तथा तीव्र अम्ल उन्होंने गोदाम के एक विशेष कमरे में दो-तीन तालों के अन्दर रखवा दिये थे। वे उन लोगों को उस सुरक्षित कमरे के द्वार तक ले गये। वहाँ बड़ा-सा ताला लटक रहा था। उस ताले को खोल कर द्वार को अन्दर की ओर धकेलते ही तीव्र गन्ध का ऐसा झोंका आया कि डॉक्टर साहब को छोड़ कर शेष सब व्यक्ति पीछे हट गये और खाँसने लगे। डॉक्टर साहब ने अन्दर की ओर बढ़ने का उपक्रम करते हुए कहा, 'इसमें है फ़ास्फ़ोरस, आइये।'

'ठीक है, ठीक है। खूब सुरक्षित है।' पुलिस अफ़सर ने नाक को रूमाल से दबा कर बाहर जाते हुए कहा।

बाहर आकर वह अधिकारी सहसा बोला 'डॉ० पाँडे, आप बतला सकते हैं कि पोस्ट ऑफ़िस में फ़ास्फ़ोरस से जो आग लगाई गई है, वह फ़ास्फ़ोरस कहाँ से आया?'

'जी नहीं, मैं नहीं बतला सकता।'

'हूँ.... आप नहीं बतला सकते ......' पुलिस अधिकारी उनकी बात को अन्य-मनस्क भाव से दुहराता हुआ बोला।

डॉक्टर पाँडे मन ही मन जल गये परन्तु जितना नितान्त आवश्यक हो उससे अधिक बोलना उनकी प्रकृति में नहीं था। वे चुप ही रहे। अधिकारी फिर बोला,

'डॉक्टर साहब ! यदि आपकी प्रयोगशालाओं के द्वार पर सिपाही रहें तो आपको कोई आपत्ति होगी ?'

'जी नहीं, मुझे कोई आपत्ति नहीं, परन्तु रसायन प्रयोगशालाएँ सब बन्द रहेंगी।'

'नहीं, नहीं, बन्द करने की आवश्यकता नहीं। लड़के काम कर सकते हैं।'

'परन्तु लड़कों का उत्तरदायित्व आप लेंगे क्या ?'

'कैसा उत्तरदायित्व ?'

'आप जानते हैं', डॉक्टर साहब ने कहा, 'लड़के हर प्रकार के तेज़ तेज़ाबों से काम करते हैं और तेज़ाब हर चार लड़कों के बीच में रक्खे होते हैं। यदि किसी लड़के ने चलते-चलाते आपके सिपाही के ऊपर तेज़ाब डाल दिया तो कौन उत्तरदायी होगा ? कम से कम मैं तो यह उत्तरदायित्व लेने के लिये किसी भी शर्त पर तैयार नहीं।'

'तो तेज़ाब हटवा दीजिए। लड़के बाक़ी चीज़ों से काम कर लेंगे...'

'महाशय, यह रसायन है ......।' डॉक्टर पाँडे ने अधिकारी की ओर कुछ देर व्यंगपूर्वक देखने के पश्चात् कहा। 'महाशय यह रसायन है ...' के पश्चात् जो कुछ उन्होंने नहीं कहा था, वह शेष व्यक्तियों के लिये समझना कठिन नहीं रहा। वह अधिकारी कुढ़ गया और बोला, 'ख़ैर तो जैसा आप चाहें कीजिए; पुलिस का पहरा यहाँ रहेगा।'

डॉक्टर पाँडे ने प्रधान चपरासी से प्रयोगशालाओं में ताले डलवाए और चाबियाँ प्रिन्सिपल महोदय को देकर यह कहते हुए चले गये कि जब तक पुलिस नहीं हटेगी प्रयोगशालाएँ नहीं खुलेंगी और प्रयोगशालाओं के किसी भी सामान का उत्तरदायी मैं नहीं रहूँगा।

विज्ञान-विभाग तो एक प्रकार से बन्द ही हो गया परन्तु कला-विभाग तथा विज्ञान की थियरी की कक्षाएँ खुली रहीं। यद्यपि कॉलेज में हड़ताल थी और नगर में गिरफ़्तारियाँ हो रही थीं फिर भी अधिकांश मुसलमान तथा कुछ ग़द्दार हिन्दू लड़के भी कक्षाओं में उपस्थित रहते थे।

प्रयोगशालाओं में ताला पड़ने के दूसरे दिन सुबोध को बहुत घबराया हुआ आते देख कर रमेश ने पूछा, 'क्या बात है ?'

'मैं कुछ दिन के लिये अभी घर से बाहर जा रहा हूँ।'

'क्यों, क्यों ?'

'एक लड़के ने सारा चौपट कर दिया। साले ने हॉल के आगे ही बम रख दिया।'

'कहते क्या हो !' रमेश ने आश्चर्य से आँखें फाड़ कर पूछा।

'अरे उसे बम इसलिये दिया था कि रसायन प्रयोगशाला की दीवार उड़ा दे। परन्तु वहाँ कल से पुलिस का पहरा लग गया है। वहाँ जाने का तो उसका साहस हुआ नहीं, उसने हॉल के सामने ताड़ के ढोल में बम रख दिया। कुछ समय पश्चात् विस्फोट के साथ वह मिट्टी तथा ताड़ के पेड़ से भरा टीन का ढोल कई फ़ीट ऊपर उछल कर गिरा और दो-एक छात्रों के चोट भी आ गई। वह लड़का पकड़ा गया है। यद्यपि ऐसे समय के लिये पट्टी तो खूब पढ़ा दी गई है फिर भी ऐसे मूर्ख से क्या आशा की जाय ? यदि पुलिस की यन्त्रणाओं के आगे उसने नाम बतला दिये तो मारे जायँगे इसलिये मैं अभी भाग रहा हूँ और यदि सप्ताह भर तक यहाँ कुछ बात नहीं हुई तो फिर आ जाऊँगा।

'तुम इस समय कहाँ जा रहे हो ?'

'यह अभी निश्चित नहीं परन्तु सरोज से तुम्हें सब ज्ञात हो जायगा। उसके बताए पते पर एक सप्ताह बाद चिट्ठी लिखना। अच्छा विदा।' सुबोध ने कहा और अन्दर जाकर उसने जल्दी-जल्दी थोड़े-से कपड़े और सामान एक सूटकेस में भरा और अपनी गाड़ी में कहीं चल दिया।

उसी दिन कॉलेज अनिश्चित समय तक के लिये बन्द कर दिया गया और इस आशय की सूचना भी अगले दिन हिन्दुस्तान टाइम्स, अमृत बाज़ार पत्रिका प्रभृति पत्रों में छपवा दी गई।

१५

जिस समय रूपराम और दलीप पंजाब मिष्टान्न भण्डार में बैठे थे, दलीप बड़ा घबराया हुआ दिखाई दे रहा था और बार-बार अपनी जेब पर हाथ लगा रहा था। उन दोनों की मेज़ से तीन-चार मेज़ हट कर, एक कोने में बैठा हुआ एक आदमी इनकी ओर देख रहा था। वह दलीप की घबराहट से कुछ संदिग्ध हो रहा था। फिर उसने रूपराम को दलीप से कुछ कहते देखा और देखा कि इससे दलीप की घबराहट बहुत कुछ दूर हो गई। वह इन दोनों को छिपे-छिपे लक्ष्य करता रहा। जब वे दोनों उठे और उन्होंने फिर एक बार अपनी जेबें टटोलीं और पैसे देकर बाहर आए तो वह मनुष्य भी इनके पीछे लग लिया। उसने इन दोनों को सैन्ट्रल रैस्ट्राँ से पीछे गलियों की ओर जाते देखा। वह पीछे गया, एक-आध मिनट बड़े फाटक के पास खड़ा रहा फिर गली से बाहर आया और सैन्ट्रल रैस्ट्राँ के सामने सड़क के दूसरी ओर खड़े एक आदमी से, जो वहाँ निठल्ला खड़ा प्रतीत होता था, कुछ कहा। वे दोनों साथ-साथ चले। पहले आदमी ने दूसरे को गली वाले बड़े फाटक के बाहर छोड़ा तथा कुछ समझा कर गली से बाहर आ गया और रैस्ट्राँ से पाँच-छः दूकानें छोड़ कर किशनलाल एण्ड सन्स, जनरल मर्चैन्ट्स, के यहाँ चला गया और कुछ देर तक व्यर्थ की वस्तुएँ देखने के उपरान्त बाहर आ गया। जैसे ही वह बाहर आया, उसने पास की गली से एक मोटर निकलती देखी जिसमें उसके पूर्व-परिचित होटल वाले तथा रैस्ट्राँ के सामने वाला व्यक्ति बैठे थे। वह उछल पड़ा। उसने पुराने नाले के पास के चौराहे से जाती हुई एक टैक्सी रुकवाई और ड्राईवर से अगली गाड़ी का पीछा करने के लिये कहा।

दलीप और रूपराम के साथी, चीरे के निशान वाले व्यक्ति, ने अनुभव किया कि उनका पीछा किया जा रहा है। उसने जल्दी से ड्राईवर को आदेश दिया। रमा औषधालय के पास उन दोनों को उतार कर उसने ड्राईवर से फिर गाड़ी तेज़ करने को कहा। ड्राईवर गाड़ी चलाने में निपुण था। थोड़ा आगे जाकर पीछे बैठे व्यक्ति ने घूम कर पीछे देखा और उसे पीछा करने वाली गाड़ी की आँखें दिखाई दीं। उसने आगे झुक कर ड्राईवर से कुछ कहा। गाड़ी सहसा और तेज़ हुई, रिसपना नदी के ढाल पर आई और बीच नदी में आकर बाँए हाथ को मुड़ गई। यद्यपि वर्षा

के पानी के कारण बजरी तथा चूना ढोने वाली गाड़ियों तथा ट्रकों की लीकें बहुत कुछ अस्पष्ट हो गई थीं फिर भी अभ्यस्त आँखों के लिये उन्हें देख पाना कठिन नहीं था। गाड़ी उन्हीं लीकों पर झटके खाती हुई दौड़ने लगी। गाल के निशान वाला व्यक्ति पीछे देखता रहा। पीछे आने वाली गाड़ी उनके मुड़ने के स्थान से काफ़ी आगे जाकर रुकी, फिर पीछे लौटी और तब पहली गाड़ी के हाल के बने निशानों पर चलने लगी। परन्तु रात्रि का समय, तथा रास्ता कठिन, और आगे वाली गाड़ी तेज़ जा रही थी— पीछा करना कठिन था। पीछा करने वाले काफ़ी पीछे छूट गये।

अगली गाड़ी रिसपना से मोहनी रोड पर मुड़ी और वहाँ से डालनवाला की विभिन्न सड़कों— कर्ज़न, म्युनिसिपल आदि— पर होती हुई ईस्टर्न कैनाल रोड से होकर सर्वे ऑफ़ इन्डिया के दफ़्तर के सामने से मुड़ कर 'परेड व्यू होटल' के सामने बड़ी परेड पर पहुँच गई और वहाँ से ओरियन्ट सिनेमा के पीछे एक गैरेज (मोटर रखने का स्थान) में बन्द कर दी गई। ड्राईवर ने गाड़ी की नम्बर प्लेटें बदल दीं और पहली प्लेटों को खूब गाढ़े रंग से एक-सा पोत कर गैरेज के एक कोने में मोटर के टूटे-फूटे भागों के नीचे दबाते हुए कहा, 'यह रहा सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस की मोटर का नम्बर!'

ड्राईवर तथा वह व्यक्ति दोनों बाहर आए। राजपुर रोड पर थोड़ी दूर नीचे आ कर दोनों 'दून व्यू होटल' में गये। निशान वाले व्यक्ति ने एक कमरा खोला। उसमें से एक बण्डल उसने ड्राईवर को दिया और कहा, 'चक्रौता रोड वाले गैरेज से पाँच सौ छियासठ को कोढ़ीख़ाने की सड़क पर ले जाना और पुल से दोनों को यहीं ले आना, परन्तु सावधान रहना। देखो इस समय साढ़े नौ बजे हैं। अभी चले जाओ। जब तक तुम पहुँचोगे, उन्हें भी पहुँच जाना चाहिए।'

ड्राईवर ने गाड़ी नहर के पुल से थोड़ी इधर खड़ी कर दी और स्वयं पुल पर बैठ गया। थोड़ी देर के बाद उसे नहर के किनारे-किनारे आता हुआ एक मनुष्य का छाया-चित्र (सिल्हूत) दिखाई दिया। छाया पास आती गई। जब वह पुल पर पहुँची तो ड्राईवर ने सहसा दियासलाई की एक तीली जला कर ऊपर उठाई। रूपराम का हाथ जेब की पिस्तौल पर गया परन्तु उसने ड्राईवर को पहिचान कर कहा—

'कौन?'

'सैन्ट्रल।'

'हवेली।' रूपराम ने कहा और पूछा, 'गाड़ी कहाँ है?'

'गाड़ी तो यहीं है परन्तु तुम्हारा साथी?'

'शहीद।'

'ओह!' ड्राईवर ने कहा। कुछ क्षण दोनों चुपचाप खड़े रहे फिर मोटर की ओर बढ़े।

रूपराम ने मोटर में से कपड़ों का बण्डल लिया, कपड़े बदले और अपने कपड़े मोटर की गद्दी के नीचे डाल दिये। कुछ देर पश्चात् गाड़ी 'दून व्यू होटल' के सामने रुकी।

रूपराम को कमरे में अकेले खड़ा देख कर निशान वाले व्यक्ति को पहले कुछ आश्चर्य तथा उद्विग्नता हुई परन्तु रूपराम के मुख पर एक ही दृष्टि डाल कर वह बहुत कुछ समझ गया। रूपराम मुर्दे की भाँति सफ़ेद पड़ गया था और उसके मुख पर उदासी की गहरी रेखाएँ थीं।

'तुम्हारा साथी शहीद हुआ ?' उस व्यक्ति ने पूछा।

रूपराम ने केवल सिर हिला कर हाँ बतलाया।

'शेष काम ?'

'पूर्ण सफल।'

रूपराम सामने से हट गया और कमरे में उपस्थित दूसरे व्यक्ति की ओर पीठ करके खिड़की के पास खड़ा हो गया। उसके कन्धे रह-रह कर हिल उठते थे। उस व्यक्ति ने धीरे-से रूपराम के कन्धे पर हाथ रक्खा और कहा, 'उसके लिये रोते हो जिसने इस देश में अपना जन्म लेना सफल कर दिया ? अभी से साहस छोड़ने से कैसे काम चलेगा। यह तो आरम्भ है। अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई में हमें पता नहीं कितने प्रिय-जनों से बिछुड़ना होगा। हमारा तो मार्ग ही बलिदान का है। हम तो सर पर कफ़न लपेटे इस काम पर निकले हैं।.........

'लेकिन मैं भैया जी को कैसे मुँह दिखाऊँगा ?'

'पागल !' वह व्यक्ति स्नेह भरे स्वर में बोला 'तुम अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हुए हो। तुम जाति-द्रोही, देश-द्रोही, ग़द्दार, मुख़बिर कुछ भी नहीं हो। तुमने तो अपने कर्त्तव्य-पालन द्वारा अपने आपको ऊँचा मस्तक करके खड़े होने योग्य सिद्ध कर दिया है, फिर मुँह न दिखाने की क्या बात ?'

'परन्तु दलीप .... ओह !

'भाई मेरे ! बन्दी भारत के लिये तो न जाने कितने दलीपों का बलिदान देना पड़ेगा। आज दलीप गया है। सम्भव है कि कल मेरा, तुम्हारा या किसी और साथी का वार आ जाय। हमें तो इसके लिये हर समय तैयार रहना चाहिये।'

परन्तु तर्क तथा सान्त्वना भरे शब्दों से रूपराम का दुख दूर नहीं हुआ। दलीप का उस पर भाई जैसा स्नेह था। वह स्वयं भी उसे कितना चाहता था ! कितना होनहार युवक था ! परन्तु प्यारी वस्तु प्राप्त करने के लिये उतनी ही प्यारी वस्तु को विदा भी तो करना पड़ता है। रूपराम पहले तो कुछ देर आँख फाड़े हुए

अपने बिस्तर पर पड़ा हुआ अशान्ति से करवटें लेता रहा फिर कभी खिड़की के पास खड़ा होकर बाहर आकाश में तारों की ओर देखने लगता। कभी कमरे में टहलने लगता। तारों को देख कर उसने सोचा कि कहते हैं मर कर लोग तारा बन जाते हैं। शायद उसका दलीप भी तारा बना होगा। परन्तु कौनसा तारा ? वह एक-एक तारे को बड़े ध्यान से देखने लगा कि कहीं उस मुखड़े की एक झलक दिखाई दे जाय जो संध्या तक उसके साथ था, जिसके साथ हँस-खेल कर उसने जीवन के कितने ही वर्ष बिताए थे।

फिर एक-एक करके स्मृति-पट पर उन घटनाओं के चित्र आते रहे जिनमें उन दोनों ने साथ-साथ भाग लिया था। गाँव में आम के बाग़ों में, अमरूद के बाग़ीचों में, कुएँ पर, मक्का के खेतों की रखवाली करते हुए, नदी किनारे, जंगलों में; फिर मेलों में, दंगलों में, सावन के त्योहारों में। कैसी-कैसी ऊँची उड़ानें मन में थीं! क्या-क्या करने की सोचते थे! परन्तु वे सब अन्त में स्वप्न सिद्ध हुए। स्मृति के चित्र ज्यों-ज्यों गहरे होते गये, वेदना घनी होती गई। रूपराम की आँखें बार-बार भर आतीं। अन्त में उससे और नहीं रुका गया। वह खिड़की की चौखट पर झुका हुआ, दोनों हाथों में अपना मुख लेकर, फफक-फफक कर रो पड़ा और उसकी प्रत्येक सुबकी से दलीप······दलीप की ध्वनि आती रही।

प्रातःकालीन सूर्य की प्रथम किरण ने रूपराम को दून व्यू होटल की पूर्वमुखी खिड़की वाले दूसरी मंज़िल के एक कमरे की खिड़की पर इस दशा में देखा। नीचे सड़क पर कोई-कोई आदमी चलने लगा था। भंगी कुछ देर पहले झाड़ू लगा कर जा चुका था। उसी समय गाल के निशान वाले व्यक्ति ने कमरे में आकर पीछे से रूपराम के कन्धे पकड़े, धीरे-धीरे उसे कुर्सी तक ले गया और जलपान से भरी मेज़ के सामने बैठा दिया। रूपराम ने बड़ी कठिनाई से दो-एक घूँट चाय के भरे। उसे याद आया कि पहले दिन संध्या को उसने दलीप के साथ अन्तिम बार चाय पी थी। इस स्मृति के साथ ही चाय का एक भी घूँट गले से नीचे उतारना उसके लिए सम्भव नहीं रहा। वह चुपचाप चारपाई पर लेट गया और करवट ले ली। दूसरा व्यक्ति कुछ देर रूपराम की ओर देखता रहा फिर धीरे से एक ठंडी साँस लेकर बाहर निकला। उसने कमरे का ताला बाहर से बन्द किया और होटल की सीढ़ियाँ उतरने लगा।

थोड़ी देर पश्चात् किशन— दून व्यू होटल का अध्यक्ष, गाल के निशान वाला व्यक्ति — जब ताला खोल कर कमरे में घुसा तो अन्दर उसने सामने की दीवार के सहारे रूपराम को एक जेब में हाथ डाले, सतर्क खड़े पाया। किशन को देखते ही उसने जेब से हाथ निकाल लिया परन्तु किशन के पीछे देखते ही उसका मुख श्वेत हो गया। किशन के पीछे चन्द्रमोहन था।

'कहो रूपराम, क्या समाचार है ?' चन्द्रमोहन ने पूछा ।

रूपराम ने सिर नीचा कर लिया ।

'उसकी चिन्ता न करो, मैं जानता हूँ। परन्तु जिस कार्य के लिये तुम गये थे ········· ?'

'वह सफल हुआ ।' और इसके पश्चात् रूपराम ने पूरी घटना ब्योरेवार सुनाई ।

'दलीप का जीवन धन्य हुआ जो मातृभूमि के काम आया। हमें हृदय नहीं खोना चाहिये रूपराम ! हमारा भी बार आ सकता है । खैर ··· चलो, यहाँ से अभी जाना होगा । यह स्थान सुरक्षित नहीं है ।'

तीनों नीचे उतरे । नीचे एक कार खड़ी थी । रूपराम और चन्द्रमोहन उसमें बैठ गये । कार चल दी । गाड़ी रिसपना नदी के किनारे बने चूने के भट्ठों के पास पहुँची। दोनों उतर गये । फिर वे पैदल ही आगे बढ़े । नालापानी गाँव में चन्द्रमोहन के सम्बन्धी रहते थे । वह रूपराम को वहीं ले गया और उससे कहा, 'तुम एक सप्ताह तक प्रतीक्षा करना । यदि इस बीच मैंने गृह-स्वामी के हाथ तुम्हारे पास कोई सन्देश भिजवाया तो उसी के अनुसार कार्य करना, नहीं तो यहाँ से लखौंड़, गुजराड़ा, और नागल के रास्ते राजपुर जाना और वहाँ से भगवंतपुर लौट आना । परन्तु सावधान ! छिप कर आना और आज से आठवें दिन शाम को दिन ढलने पर उसी पेड़ के नीचे मिलना ।'

इतना कह कर चन्द्रमोहन चला गया ।

* * * * * *

चन्द्रमोहन दलीप की मृत्यु की बात को लेकर व्यस्त था और साथ ही गाँव से रूपराम की लम्बी अनुपस्थिति पर भी गाँव में कुछ समय पश्चात् बातचीत चलनी आवश्यक थी। देहरादून से लौट कर उस दिन संध्या को चन्द्रमोहन नदी किनारे टहल रहा था और इन्हीं बातों पर विचार कर रहा था कि उसके जंगलों का रखवाला आया और बोला, 'भैय्या जी, खैरानी के जंगल में खूनी बाघ लगा है। उसने एक आदमी को मार डाला है ।'

'कौन आदमी था ?' चन्द्रमोहन ने पूछा ।

'एक शिकारी था ।'

'तुम्हें कैसे पता ?'

'वह शिकार खेलने आया था और उसने पहले मुझसे ही पूछा था । बाघ के खूनी हो जाने की बात तो मैं पहले ही जानता था । आस-पास के गाँवों में कई जानवर उसने मार भी दिये थे परन्तु आपके पास आने का समय ही नहीं मिला ।

वह जब मुझसे पूछने आया तो मैंने आपसे और बड़े पंडित जी (ज़मींदार) से पूछे बिना इसी विचार से उसे कह दिया था कि वह बाघ को मार देगा पर वह बेचारा आप ही बाघ का शिकार हो गया।'

'क्या वह अकेला था?'

'हाँ जी।'

चन्द्रमोहन कुछ देर चुपचाप सोचता रहा, फिर सहसा बोला, 'रामसिंह, किसी और से तो अभी यह बात नहीं कही?'

'नहीं तो।'

'अच्छा लाश को जलवा देना और अब किसी शिकारी का नाम मुँह से न निकलने पाए।'

रामसिंह 'अच्छा' कह कर चला गया।

अगले दिन भगवंतपुर और आस-पास के गाँवों में यह बात फैल गई कि भगवंतपुर के दलीप को खजपुर जाते हुए रास्ते में बाघ ने मार दिया, और उसी दिन रात को भगवंतपुर के ज़मींदार के जंगलों का रखवाला रामसिंह अपनी झोंपड़ी से अदृश्य हो गया और गाँवों में बात फैल गई कि रामसिंह भी खूनी बाघ का शिकार हुआ।

१६

सुबोध को घर छोड़े एक सप्ताह से ऊपर हो चुका था परन्तु उसका कोई समाचार घरवालों को नहीं मिला था। सुबोध के पिता जी अपने काम से लौट आए थे। उन्होंने सारे समाचार सुने परन्तु एक छोटी-सी 'हूँ...' के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा। अधिक बोलना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। एक तो उन्हें काम-काज से ही कम अवकाश मिलता था और फिर सुबोध भी बच्चा नहीं था। बच्चों के सम्बन्ध में सेठ जी बड़े उदार थे। एक निश्चित अवस्था तक तो वे बच्चों की कड़ी देख-रेख के पक्ष में थे और फिर उसके पश्चात् उन्हें बहुत कुछ स्वतन्त्र कर देना चाहते थे। उन्होंने एक दिन सरोज तथा सुबोध को बुला कर कह भी दिया था, 'तुम लोग अब सयाने हुए। अब तक मैंने अपनी इच्छानुसार तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा की परन्तु मैं समझता हूँ कि अब अपनी देख-रेख तुम स्वयं कर सकते हो। पिता के रूप में अब तक मैंने तुम्हें किसी भाँति के आक्षेप का अवसर नहीं दिया और तुम्हारी प्रत्येक उचित इच्छा को पूरा किया है। अब यदि मैं तुमसे यह आशा तथा इच्छा करूँ कि तुम भी मुझे आक्षेप करने का अवसर नहीं दोगे तो अनुचित नहीं होगा। तुम्हें अपना भविष्य स्वयं निश्चित तथा निर्माण करना है......' और फिर विशेषतः सरोज से अलग कहा, 'बेटी, तुम भी हर प्रकार अपना भला-बुरा सोचने योग्य हो गई हो। जो बातें मैं पिता होकर तुमसे कहने जा रहा हूँ, वे कदाचित् तुम्हें रुचिकर न जँचें और तुम शायद सुनने में भी संकोच करो और इसका कारण कदाचित् यह है कि आजकल माता-पिता अपना कर्त्तव्य भूल रहे हैं। वे अपने बच्चों को आवश्यक बातों से अंधकार में रखना चाहते हैं परन्तु उनसे बहुत कुछ पाने की आशा रखते हैं। यह बच्चों के प्रति अन्याय है। जीवन-मार्ग के गड्ढों से परिचित कराए बिना उनसे यह आशा करना कि वे शत-प्रतिशत बच जायेंगे— मैं इसके पक्ष में नहीं हूँ। मैं जो बातें तुमसे कह रहा हूँ, वे नई नहीं हैं। वे तुम्हारे मन में स्वयं उठती होंगी, तुम उन्हें अनुभव करती होगी, परन्तु अज्ञानवश जिन्हें तुम अधिक महत्त्व न देती होगी। मेरे मुँह से उन्हें सुन कर तुम, आशा है, उन पर अधिक गम्भीरतापूर्वक सोच-विचार करोगी। बेटी, तुम युवती हो, सुन्दरी हो। इस अवस्था में संसार में बहुत-से आकर्षण तथा प्रलोभन होते हैं। मैंने तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा इस ढङ्ग से

रक्खी है कि तुम अधिकाधिक स्वतन्त्रता से सोच सको। अब मैं यह नहीं पसन्द करता कि हर समय एक आदमी तुम्हारी देख-रेख के लिये तुम्हारे पीछे-पीछे छोड़ूँ। इस विषय में हम दूसरे देशों से आदर्श ले सकते हैं। तुम जहाँ जाना चाहो, जाओ; जिससे मिलना चाहो, मिलो; परन्तु इतनी बात ध्यान में रखना कि इस अवस्था में सोने तथा पीतल में भेद करना बहुत कठिन होता है। मैं चाहता हूँ कि तुम सोना ही लो। हम तुम्हारे माता-पिता हैं। हमसे अपनी कोई उलझन छिपाना शायद ठीक नहीं होगा। तुम्हारी किसी भी शारीरिक तथा मानसिक उलझन के सम्बन्ध में तुम्हें अपनी माता से योग्यतर निर्देशक नहीं मिलेगा। बस, मैं अधिक नहीं कहना चाहता।'

कम बोलने वाले सेठ जी बहुत दिन के बदले का उसी दिन बोल गये थे। उस दिन के बाद उन्होंने शायद ही कभी सरोज अथवा सुबोध से दो-चार वाक्यों के अतिरिक्त कुछ कहा हो और वह भी साधारण बातों के सम्बन्ध में। उपदेश के रूप में वे फिर एक शब्द भी नहीं बोले। यह भी कहा जा सकता है कि दोनों बच्चों ने भी उन्हें इसका कभी अवसर नहीं दिया। अपनी इस प्रकृति-विशेष के कारण सेठ जी ने सुबोध के जाने पर कोई विशेष सम्मति प्रकट नहीं की।

पिता हो कर भी सेठ जी चुप रह सकते थे परन्तु माता तो फिर भी माता ही थी। सुबोध की माता जी अपने पुत्र के लिये इतनी चिन्तित रहती थीं कि कुछ सीमा नहीं। यद्यपि वे ऊपर से शान्त तथा गम्भीर बनी रहने का प्रयत्न करती थीं और घर के नियमित कार्य-क्रम में बाल भर भी अन्तर नहीं पड़ने पाया था, फिर भी उनके हृदय की यह दशा थी कि खाने की कोई अच्छी चीज़ बना कर सब को खिला देतीं परन्तु स्वयं हाथ भी न लगातीं। उस समय सुबोध की याद बरबस ही उनकी आँखें गीली कर देती। वे केवल हाथ जूठा करके उठ जातीं। दिन भर तो वे चुपचाप काम-काज में लगी रहतीं परन्तु रात काटे न कटती। वे रात भर आँखों में आँसू लिये बिस्तर पर पड़ी रहतीं और सोचती रहतीं कि उनका बच्चा पता नहीं कहाँ होगा, किस दशा में होगा। और यद्यपि उन्हें पता नहीं था कि सुबोध एकाएक घर से इस प्रकार क्यों चला गया था परन्तु इतना वे समझ रही थीं कि वह इन्हीं उपद्रवों, हड़तालों आदि के सम्बन्ध में कहीं गया था। प्रतिदिन रमेश तथा सरोज से समाचारपत्रों में पढ़ी हुई खबरें सुन-सुन कर उनकी दुश्चिन्ता का वारापार न था।

हमारे लेखकों तथा कवियों ने पुत्र-वियोगिनी माता की उपमा उस गाय से दी है जिसका बछड़ा उससे बिछुड़ गया हो परन्तु वास्तव में यह उपमा उतना प्रकट करने में, जितना वास्तव में होता है, कहाँ समर्थ है! गाय एक प्रकार से परतंत्र होती है, परन्तु माता तो सब प्रकार से परतंत्र है। गाय रंभा सकती है, सबके सामने अश्रु पात कर सकती है, अनमनी होकर खड़ी रह सकती है, परन्तु माता किसी के सम्मुख रो नहीं सकती, चिल्ला नहीं सकती। इतना ही नहीं बल्कि सारे दुःख छाती

में छिपाए सारे कार्य नियमित रूप से करने पड़ते हैं। एक की चिन्ता में वह अनेक को नहीं छोड़ सकती, यद्यपि उसका मन उस एक में ही बसा रहता है। सुबोध कभी माता की आँखों से ओझल नहीं हुआ था। इस प्रकार, उतने भयंकर समय में उसके घर से भाग जाने पर उसकी माता जी की क्या दशा हो रही होगी— यह कोई माता ही समझ सकती है।

सरोज का कॉलेज, कई दिन की हड़ताल, धरना आदि के पश्चात्, अनिश्चित समय तक के लिये बन्द हो गया था। पुस्तकीय राजनीति में सरोज की कोई रुचि नहीं थी परन्तु देश की तत्कालीन परिस्थिति में उसे रुचि न हो, ऐसा नहीं था। वास्तव में उस समय तटस्थ रहना किसी भी भारतीय के वश में नहीं था। कुछ ने कार्य को सफल बनाने का और कुछ ने उसमें रोड़ा अटकाने का काम किया और जो केवल दर्शक रहे वे भी अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक कल की बाट जोहा करते थे।

सरोज का विश्वास केवल जेलों में भरे जाकर निठल्ले पड़े-पड़े जीवन बिता देने में नहीं था। उसके कॉलेज की बहुत-सी छात्राओं ने जलूस निकाला था और थोड़ी दूर जाकर पुलिस की लॉरी में बैठकर जेल चली गई थीं। नगर में भी कुछ स्त्रियाँ जलूस में गई थीं परन्तु अधिकाँश स्त्रियों ने तो केवल हास्यप्रद दृश्य ही उपस्थित किये थे। पहले तो पुलिस से बढ़ बढ़ कर बातें करती रहीं परन्तु जब जेल की ओर ले जाई जाने लगीं, तो रोने लगीं। एक रोकर बोली, 'मेरा मुन्ना!' दूसरी बोली, 'मेरी बच्ची!' कोई अपने 'उन्हें' याद करके रोती तो कोई बूढ़ी सास को याद करती। पुलिस वालों ने नगर से बाहर कुछ मील की दूरी पर छोड़ दिया। वहाँ से पैदल, पसीने से लथपथ, हाँफती, गिरती, पड़ती घर आ गईं। सरोज इस व्यापार से तटस्थ रही। वह कुछ ठोस कार्य करना चाहती थी। बल्कि उसकी बहुत कुछ सहानुभूति आतंकवादियों के पक्ष में थी। उसके विचारों को बनाने में सुबोध के विचारों का बड़ा भाग था। सरोज सुबोध के बहुत से कार्यों से परिचित थी। वह किसी कार्य में बहुत भाग लेना चाहती, परन्तु अपने विचारों को कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सकती थी। संस्कारों के प्रभाव को वह इतना दूर नहीं कर सकी थी कि स्वयं आतंकवादियों के बीच में जाकर पिस्तौल चलाती और बमबाज़ी करती।

विचारों से अलग, सरोज अष्टादश-वर्षीया, अत्यन्त सुन्दरी युवती थी— इतनी सुन्दरी कि रमेश की दृष्टि में उतनी सुन्दरी युवती और कहीं मिलनी असम्भव थी। यद्यपि रमेश की दृष्टि में अतिरंजन की मात्रा होनी सम्भव ही नहीं, कदाचित् निश्चित थी क्योंकि— ख़ैर यह 'क्योंकि' समझना तो बिल्कुल सरल है— फिर भी यह तो निर्विवाद है कि सरोज बहुत सुन्दरी थी। अपने कॉलेज की तो सौन्दर्य-साम्राज्ञी थी ही, अपने नगर की सुन्दरियों के क्षेत्र में भी उसकी यथेष्ट चर्चा थी। रमेश मुँहफट-सा था। हर समय सरोज की बात काट कर उसे चिढ़ाता रहता था और ऊपर से

अलग-थलग-सा प्रतीत होता था फिर भी जब कभी सहसा सरो का ध्यान आ जाता तो उसके एक-एक अंग की प्रशंसा में घंटों बैठा रहता। वह सोचता : 'सरो ! तुझे बनाते समय भगवान खूब अवकाश में रहा होगा और उसे देवताओं, देवदूतों अथवा मनुष्यों ने चिड़चिड़ा नहीं बना रक्खा होगा। ठीक है, उस समय संसार में शान्ति थी। कोई युद्ध, महायुद्ध नहीं था.........' और ऐसी ही अनेकों मूर्खता की बातें सोचता था— 'एक-एक अंग जैसे साँचे में ढला हुआ है। लम्बे, कुछ-कुछ घुंघराले बाल, धनुषाकार भवें, काजल-सी काली आँखें, नुकीली नासिका, भरे-भरे ओष्ठ, मोती-सी दन्त-पंक्ति, मृणाल-सी ग्रीवा, उन्नत वक्ष, सिंह-कटि— ऊपर से नीचे तक सौन्दर्यपूर्ण आनुपातिक शरीर.......'

सुन्दरी होने पर भी सरोज में गर्व नहीं था। वह बालक जैसे सरल स्वभाव की थी। किसी से कहना-सुनना तथा झगड़ना तो दूर, वह किसी की पेंचदार बात का उत्तर भी नहीं दे सकती थी— यह बात दूसरी है कि कभी-कभी तो वह रमेश को भी अपनी बातों से निरुत्तर कर देती थी। परन्तु वह तो कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि किसी युवक से बात करते समय लगभग प्रत्येक युवती की बुद्धि में अनोखा पैनापन आ जाता है। हाँ तो सरोज पढ़ी-लिखी थी, सरल थी, तथा घर के काम-काज में निपुण थी। उसकी माता जी की इस बात की ओर विशेष दृष्टि थी कि कन्या गुड़िया न बने जो पति की बाँह में बाँह डाल कर घूमने, मोटर पर चढ़ कर बाज़ार से ख़रीदारी करने तथा कुर्सी पर बैठ कर सामने की मेज़ से चाय पीने के अतिरिक्त इतना भी न कर सके कि अपने हाथ से लेकर पानी का एक गिलास भी पी ले। घर की सफ़ाई से लेकर भोजन, मिठाई, अचार, चटनी, मुरब्बे बनाने, कपड़े छाँटने, सीने तथा कसीदा काढ़ने तक की शिक्षा उसे दी गई थी। इसके अतिरिक्त गाने, नाचने तथा चित्रकला जैसी ललित-कलाओं से भी वह अनभिज्ञ न थी। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि सरोज एक आदर्श तथा अनुकरणीय युवती थी।

और ऐसी सरोज रमेश से प्रेम करती थी। यद्यपि अपने भैया की अनुपस्थिति तथा उसका कोई समाचार न मिलने से वह चिन्तित थी फिर भी रमेश ने अपने सामीप्य से उसका दुख बहुत कुछ बटा रक्खा था। सरोज का प्रेम पाकर रमेश फूला नहीं समाता था। उसकी समझ से उस समय संसार में उससे अधिक सुखी व्यक्ति और कोई नहीं था। रमेश की पीठ के घाव बिल्कुल सूख गये थे। दुर्घटना हुए बीस दिन से ऊपर हो चुके थे। सेवा, भोजन तथा चिकित्सा से शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ करने में वह सफल हुआ था। घावों पर पपड़ी जम गई थी। पट्टी खोली जा चुकी थी। वह थोड़ा-थोड़ा घूमने-फिरने लगा था। वैसे देखने में रमेश उतना हृष्ट-पुष्ट तथा स्वस्थ कभी नहीं था जितना तब हो गया था। नियमित तथा पौष्टिक भोजन, दूध, फल, आराम तथा प्रसन्नता आदि ने अपना कार्य किया और रमेश बड़ा स्वस्थ तथा सुन्दर दीखने लगा।

एक दिन संध्या की चाय पीकर वह अपने कमरे में बैठा कोई पुस्तक पढ़ रहा था, तभी सरो आई और उसके कमरे के द्वार तक आकर अन्दर आती-आती लौट गई। रमेश ने दृष्टि उठा कर ऊपर देखा और उसे लौटते देख कहा, 'आइये, आइये, सरोज जी, लौट क्यों गईं ?'

'ऐसे ही !' सरोज ने मुस्करा कर लौटते हुए कहा।

'ऐसे ही ! अजीब बात है।'

'देखिये मैं यह देखने आई थी कि आपने चाय पी या नहीं, परन्तु देखती हूँ आप तो पहले ही चाय पिये बैठे हैं।'

'माँजी कहाँ हैं ?' रमेश ने पूछा।

'रसोई में होंगी।' उत्तर मिला।

कुछ देर दोनों चुपचाप बैठे रहे। फिर जब सरोज कमरे से जाने के लिये उठने ही वाली थी तो रमेश ने कहा, 'सरो ! मैं जा रहा हूँ।'

'कहाँ ?'

'घर।'

'ओह !......' सरोज ने कहा और वह आगे कुछ बोल न सकी। रमेश की उपस्थिति में पिछले कुछ दिन इतनी शीघ्रता से उड़ गये थे और रमेश उनके घर तथा दैनिक कार्य-क्रम का ऐसा प्राकृतिक-सा अंग बन गया था कि उन दिनों शायद ही कभी सरोज को यह विचार आया हो कि रमेश अपने घर भी जायगा और उसके बिना भी रहना होगा। अब सहसा यह जो समाचार मिला उसने उसके विचारों का संतुलन बिगाड़ दिया। वह कुछ विशेष नहीं सोच रही थी, केवल एक ही विचार उसके मस्तिष्क में घूम रहा था : जब रमेश चला जायगा तब क्या होगा ? रमेश कुछ देर उसे चुपचाप देखता रहा फिर बोला, 'क्या सोच रही हो सरोज ?'

'कब जा रहे हो ?' सरोज ने काँपती आवाज़ से पूछा।

'आज ही या कल।'

'अब क्या होगा ?' जैसे सरोज ने अपने विचारों को ध्वनि का रूप दिया।

'अरे होना क्या है। मैं अपने घर रहूँगा, तुम अपने।' रमेश ने बात को हँसी का रूप देने का प्रयत्न करते हुए कहा।

'तुम्हारे लिये तो यह कह देना सरल है परन्तु मैं......' सरोज का स्वर भीग गया और उसकी आँखें छलछला आईं। रमेश अधिक देर बात को हँसी में नहीं टाल सका। उसने व्यग्र होकर सरोज का एक हाथ अपने हाथों में लिया। सरोज

वैसे ही चुपचाप बैठी रही। उसने अपना हाथ छुड़ाने का प्रयत्न नहीं किया। सरोज के सुन्दर हाथ की पतली-पतली लम्बी उंगलियों के प्राकृतिक गुलाबी नखों से खेलता हुआ रमेश बोला, 'दुःखी क्यों होती हो सरो ? एक न एक दिन तो मुझे जाना ही था। आख़िर और कब तक यहाँ पड़ा रहूँ ?'

'घर जाने की बड़ी प्रसन्नता हो रही है ?' सरोज ने विचित्र ध्वनि में कहा जिसे समझाना कठिन है। परन्तु इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उस ध्वनि में न व्यंग था, न ईर्ष्या और न उलाहना। प्रत्येक निराश व्यक्ति कभी-कभी एकदम असंगत-सी बात कह देता है जिसका तात्पर्य ही समझ में नहीं आता, परन्तु गहराई में इस बात का सीधा-सादा प्रयास होता है कि 'हमारे भाग्य में तो प्रसन्नता है नहीं, कदाचित् दूसरे की प्रसन्नता की बात से निराशा कुछ हल्की हो।' कदाचित् बात अब भी पूरी स्पष्ट नहीं हुई परन्तु उसके लिये कोई चारा नहीं।

'तुम ग़लत समझीं सरो', रमेश ने कहा, 'सच बात तो यह है कि मैं स्वयं ही नहीं समझ पा रहा हूँ कि इस समय प्रसन्न होऊँ अथवा दुखी ; हँसूँ अथवा रोऊँ। इतने दिन बाद घर जाना अच्छा तो लगेगा ही। तुम तो जानती ही हो कि मेरे बिना हमारे घर का कार्य कितना अव्यवस्थित हो जाता है। पिता जी, माता जी और भाई-बहिन— सभी के कार्यक्रम में मेरे बिना कितनी विशृंखलता उत्पन्न हो गई होगी, यह मैं समझता हूँ। उन सबके बीच फिर जाना निश्चय ही प्रसन्नता का कारण है, परन्तु तुमसे बिछुड़ना इस सारी प्रसन्नता को फीका बना रहा है। केवल तुम ही नहीं सरो, माँजी से बिछुड़ते हुए भी मुझे दुःख हो रहा है। मेरी उन्होंने जितनी सेवा-सुश्रूषा की है उसका कुछ ठिकाना है ? परन्तु सबसे ऊपर तुम्हें ......' आगे वह क्या कहता ! वह भी चुप हो रहा। जब कहने को अत्यधिक हो जाता है तो कुछ भी नहीं कहा जाता। सरोज ने चुपचाप गले में अटकते हुए रुलाई के गोले जैसे को बरबस रोकते हुए एक ठंडी साँस छोड़ दी। इतनी देर में रमेश ने अपने आप को भावुकता से ऊपर उठा लिया। मुस्कराने का प्रयत्न करके सरो के हाथ को थपथपाता हुआ वह बोला, 'लेकिन इतनी उदासी की बात नहीं सरो। मैं सदा के लिये थोड़े ही जा रहा हूँ और न कहीं दूर जा रहा हूँ। इसी शहर में तो रहूँगा। मैं तो तुमसे मिलने आता ही रहूँगा।'

'परन्तु ......'

'शायद तुम कहना चाहती हो कि उन थोड़े-से क्षणों में फिर इस प्रकार बातें कहाँ से हो सकेंगी, परन्तु एक उपाय है ......'

सरोज ने अपनी भवों को प्रश्नसूचक बना कर सुन्दर नेत्र ऊपर उठाए।

'हम एक दूसरे को पत्र तो लिख सकते हैं। जब मैं आऊँगा तो ......'

'अच्छा।' सरोज ने धीरे-से कहा और उठी।

'बैठो! अभी जल्दी क्या है?'

'नहीं, मुझे जाने दो। माता जी पता नहीं क्या सोचेंगी।' सरोज ने कहा और वह अपने कमरे में चली गई। रमेश थोड़ी देर वहीं बैठा रहा फिर रसोई के द्वार पर जाकर दोनों हाथ चौखट पर रख, अन्दर झाँकता हुआ बोला, 'माँजी, क्या कर रही हैं आप?'

'कौन, रमेश? कुछ नहीं बेटा, यही नित्य का काम। शाम के लिये साग बना रही हूँ।'

'ओहो!' रमेश ने रसोई में रक्खे हुए सामान को देखते हुए कहा, 'आज तो बड़ी तैयारियाँ है। कोई विशेष बात है क्या?'

'नहीं तो, विशेष बात क्या होती?'

'माँजी, आपको खाना बनाना खूब आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपका शौक़ ही यह है। कदाचित् आप हर समय यही सोचती रहती हैं कि कौन चीज़ किस नये ढंग से बनाई जाय। मेरे विचार से तो आपको पाकशास्त्राचार्या की उपाधि मिलनी चाहिये।'

माँजी मन्द-मन्द मुस्काने लगीं। उनके हाथ का करछुल कड़ाही में तले जाते परवलों के बीच और तेज़ी से चलने लगा।

मनुष्य को प्रोत्साहन तथा प्रशंसा की आवश्यकता प्रत्येक कार्य के लिये तथा प्रत्येक समय पड़ती है। ऐसे मनुष्य संसार में इने-गिने ही होते हैं जो बिना प्रोत्साहन पाए कार्य कर सकते हैं। प्रोत्साहन वह आश्चर्यजनक दान है जो पाने वाले को बहुत कुछ दे देता है परन्तु जिसमें देने वाले का कुछ भी नहीं जाता— बल्कि देने वाले को भी कुछ न कुछ मिलता है। दूसरे की शुभेच्छा, सद्भावना तथा आदर प्रोत्साहन देने वाले को सहज ही प्राप्य हैं, जिनका मूल्य कुछ कम नहीं। अपनी पाक-निपुणता की प्रशंसा माँजी को अच्छी लगी। उन्होंने कहा, 'परन्तु तुमने तो कभी खाया ही नहीं।'

'वाह, कई दिन से तो लगातार खा ही रहा हूँ और पहले भी कभी-कभी खा ही लेता था।'

कुछ क्षण माँजी के मुख पर मुस्कान खेलती रही फिर उस पर विषाद की गहरी छाया भी पड़ गई। उन्हें सुबोध की याद हो आई। वह भी उनके बनाए खाने की प्रशंसा करते न थकता था। आवश्यक था कि सुबोध की याद आते ही उनकी ओर मौन छा जाता। तभी रमेश फिर बोला, 'परन्तु माँजी, आपका बनाया स्वादिष्ट भोजन अधिक दिन मेरे भाग्य में नहीं है।'

'क्यों ?' माँजी चौंक कर बोलीं।

'मैं जा रहा हूँ।'

'कहाँ ?'

'घर।'

'कब ?'

'कल।'

'अजी हाँ! इतनी जल्दी कैसे जा सकते हो ? अभी तो तुम ठीक भी नहीं हुए हो।'

'अब तो मैं बिल्कुल ठीक हो गया हूँ। देखती नहीं आप कि इतना घूमने-फिरने लगा हूँ।'

'कुछ भी हो, अभी नहीं जा सकते। सुबोध उधर चल दिया, हम कैसे रहेंगे ?'

'यह तो ठीक है माँजी', रमेश ने कहा, 'परन्तु आप देखती ही हैं कि मेरे बिना सारे घर को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। पिता जी को अकेले सारा काम-धाम करना पड़ता होगा। माता जी को इधर-उधर आने-जाने में बहुत कष्ट होता होगा। इसलिये अब जाना तो पड़ेगा ही। और फिर देखिये न एक-आध दिन आगे-पीछे से क्या होता है। परन्तु आप चिन्ता न कीजिए, मैं नित्य आता रहूँगा।'

'अच्छा पहले वचन दो कि नित्य आओगे, तब जाने दूँगी।'

'देखिये माँजी, वचन देकर तोड़ना अच्छा नहीं लगता। कभी ऐसा भी तो हो सकता है कि मैं चाहने पर भी न आ सकूँ। हाँ नित्य आने का प्रयत्न अवश्य करूँगा।' इसके बाद कुछ देर और माँजी से बात करके रमेश रसोई से आगया और बाहर बग़ीचे की घास पर टहलता हुआ सरो के विषय में सोचने लगा।

'रमेश सरो से प्रेम करता था'— यह वाक्य कई बार लिखा जाकर भी कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव न डाल सका हो, यह सम्भव है, क्योंकि आजकल लोगों ने इस वाक्य को बहुत सस्ता बना डाला है। जहाँ किसी युवक ने एक सुन्दरी युवती देखी, वह 'हृदय थाम' लेता है, सोचता है और कहता है, 'मैं उससे प्रेम करता हूँ।' परन्तु चार दिन पश्चात् कोई और देखी तो फिर यही बात। इस प्रकार यह वाक्य दुहराया, तिहराया— बीसों बार बोला जाता है। परन्तु रमेश के विषय में निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह ऐसे 'बरसाती' प्रेमियों में से नहीं था। वह पूरी गम्भीरता से सरोज से प्रेम करता था।

मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं। एक दल यह सोचता है कि प्रेम केवल आत्मसमर्पण है। उसमें प्रतिफल की आशा नहीं होती और न होनी चाहिये और प्रेम का ध्येय विवाह अर्थात शारीरिक मिलन नहीं है। इसे आध्यात्मिक प्रेम कहते हैं। परन्तु इसके मानने वाले कम ही हैं। अधिक संख्या उस दूसरी श्रेणी के लोगों की है जो अन्तिम लक्ष्य शारीरिक मिलन के बिना प्रेम का महत्त्व स्वीकार ही नहीं करते। तर्क यह दिया जाता है कि यदि ऐसा न होता तो विरुद्ध लिङ्गों में इतना तीव्र आकर्षण क्यों होता। नारी तथा पुरुष का प्रेम और सभी प्रेम से भिन्न तथा एक अनिर्वचनीय तीव्रता, मादकता तथा अनुभूति-विशेष क्यों लिये होता। जब एक पुरुष एक स्त्री से 'प्रेम' करता है अथवा इसके विपरीत, तो उसके अन्तर में शारीरिक मिलन की भावना रहती ही है। इसलिये प्रेम का अन्तिम लक्ष्य विवाह है। वे प्रेम को ऊँची श्रेणी की व्यावसायिक वस्तु समझते हैं। रमेश इस दूसरी श्रेणी के मनुष्यों में से था।

रमेश के प्रेम का अन्तिम लक्ष्य विवाह था। सरोज तथा रमेश की जाति, उपजाति एक थी और दोनों में इस ओर से विवाह सम्भव था। परन्तु रमेश सरोज का पाणि-ग्रहण करने की इच्छा रखते हुए भी विशेष आशान्वित नहीं था क्योंकि दोनों के बीच एक दुर्भेद्य — अभेद्य नहीं — दीवार थी और वह थी पैसे की दीवार। पैसे की दृष्टि से दोनों की कोई तुलना नहीं थी। परन्तु रमेश यथेष्ट आशावादी था। उसे अपनी कार्य-शक्ति तथा मस्तिष्क पर विश्वास था। वह समझता था कि यदि बहुत नहीं फिर भी इतना तो वह कमा ही लेगा कि अपने परिवार तथा सरो को सुखी रख सके और उनकी आवश्यकताएँ पूरी कर सके। सरो के घरवालों के व्यवहार से भी कुछ-कुछ आशा थी। वह सोचता था कि उसके माता, पिता तथा भाई जो सरो को उसके साथ मिलने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे रहे थे तो क्या इसके यह अर्थ नहीं थे कि वे भी उसे पसन्द करते थे। सरो की माताजी तो अनुभवी तथा अवस्था-प्राप्त प्रौढ़ा थीं। इतने दिन तक दोनों के मिलन तथा साथ-साथ उठने-बैठने में कुछ भी हस्तक्षेप न करके क्या वे अलक्षित रूप से उन दोनों को प्रोत्साहन नहीं दे रही थीं।

अगले दिन रमेश अपने घर चला गया। वह घर क्या गया, वहाँ प्रसन्नता की बाढ़ साथ लेता गया। उस प्रसन्नता का वर्णन करने का व्यर्थ प्रयास न किया जाना ही ठीक है। उस घर का सारा कार्य फिर नियमित रूप से चलने लगा। रमेश यद्यपि तब तक शारीरिक शक्ति सम्बन्धी कार्य नहीं कर सकता था फिर भी घर के छोटे-मोटे कार्य तथा महेश और इन्दु की पढ़ाई— जो उसकी अनुपस्थिति से बहुत पिछड़ गई थी— पर ध्यान दे सकता था।

आरम्भ में तो रमेश की विचित्र दशा थी। शरीर घर रहता परन्तु मन हर समय सरो के पास रहता परन्तु धीरे-धीरे इसमें भी और बातों के साथ परिवर्तन हुआ। तब घर आने के चौथे दिन उसने एक पत्र लिखा और सरोज के घर चल दिया।

१८

कुछ मनुष्यों का जीवन ऐसा बन जाता है कि उन पर संसार की बड़ी-बड़ी उथल-पुथलों का भी बहुत कम प्रभाव पड़ता है। देश में अकाल हो, लड़ाई हो, बीमारी हो— अधिकांश की उन्हें ख़बर भी नहीं होती। शंकर भी ऐसे ही मनुष्यों में से था। वास्तव में यदि उसके ठर्रे के दामों में वृद्धि न होती तो उसे पता ही न चलता कि संसार में कहीं लड़ाई भी हो रही है। खाने-पीने की उसे विशेष चिन्ता नहीं थी क्योंकि गाँवों में लगभग सभी पंचायती सेवकों के लिये प्रत्येक घर से हर फ़सल पर कुछ न कुछ अन्न बँधा होता है और साल भर में न्यूनाधिक एक निश्चित मात्रा अन्न की मिल जाती है। अधिकांश तो शंकर की यही जीविका थी परन्तु उसे और भी आय थी। उसकी अपनी भी थोड़ी-सी भूमि थी जो वह दूसरे किसानों को हस्सल* अथवा आधे पर दे देता था। उससे भी थोड़ा बहुत अनाज आ ही जाता था। परन्तु कभी-कभी यह भूमि ख़ाली ही पड़ी रह जाती थी क्योंकि हल-बैल वाला भूमि को हस्सल पर लेना चाहता था और शंकर आधे पर देना चाहता था। अनाज की इस आय के अतिरिक्त शंकर अपने कार्य में अनुभवी तथा परिश्रमी था। उसके बनाये जूते अपनी मज़बूती तथा बाँकेपन के लिये आस-पास के गाँवों में प्रसिद्ध थे। इसलिये भगवंतपुर के ही नहीं, आस-पास के गाँवों के लोग तक उससे काम कराने आते थे। इससे शंकर की आमदनी खूब होने के जोग तो थे, परन्तु वह अकेला तथा बूढ़ा था और उसे ठर्रे की लत थी इसलिये कभी वह पैसे वाला नहीं हुआ।

---

* हस्सल = गाँवों में जिनके पास भूमि तो होती है परन्तु हल-बैल नहीं होते, वे लोग हल-बैल वालों से एक प्रकार का साझा कर लेते हैं। आधे पर देने में भूमि तथा बैल वाला, दोनों को बराबर कार्य करना होता है अर्थात् बीज, निराई, कटाई आदि, परन्तु हस्सल एक प्रकार से किराये पर उठाई हुई भूमि है। उसमें बीज से लेकर प्राप्त अनाज तक सारा काम बैल वाले को करना पड़ता है और भूमि वाले को प्राप्त अनाज का एक तिहाई मिलता है। बँटवारे से पहले अनाज तोला नहीं जाता बल्कि केवल अनुमान से आँक लिया जाता है। इसे 'कन' अथवा 'कण' करना कहते हैं। कण करने के लिये दोनों भागीदार किसी मान्य, अनुभवी व्यक्ति को नियुक्त कर लेते हैं।

शंकर अपने हाथ में बिल्कुल भी पैसा-टका नहीं रखता था— ठर्रे के दामों को छोड़ कर। वह कजरी के भरोसे सारा काम-काज छोड़ कर निश्चिन्त था। कजरी ही शहर जाने वालों से कह-सुन, विनती-चिरौरी करके आवश्यक वस्तुएँ मंगा लिया करती थी। शंकर के तम्बाकू से लेकर पहनने के कपड़े तक सबका प्रबन्ध वही करती थी। इसलिये जो कुछ मंहगाई-सस्ताई थी, उसका पता उसे ही रहता था।

शंकर का कार्य मज़े में चल रहा था। उसे कोई कठिनाई, कोई परेशानी नहीं प्रतीत होती थी। केवल एक बात उसे कभी-कभी तंग किया करती थी: सुखवा का भविष्य। सुखवा को अपने खेल से ही अवकाश नहीं मिलता था। शंकर बहुतेरा चाहता था कि सुखवा उसके पास बैठकर काम सीख ले। कई बार ज़बरदस्ती एक-आध थप्पड़ मार कर बैठाया भी परन्तु उसकी आँख बचते ही वह भाग जाता था और फिर तो बस खाने के समय ही दिखाई पड़ता था। परन्तु सुखवा के काम से इस प्रकार बचने में कजरी का भी हाथ था। वास्तव में कजरी सुखवा को वही मोची का मोची नहीं बनाना चाहती थी। वह चाहती थी कि सुखवा पढ़-लिख कर भला आदमी बने। परन्तु उसे पढ़वाती किससे? गाँव में स्कूल खुला था तो उसने ज़मींदार, ज़मींदारनी और मास्टर— सबसे विनती करके किसी प्रकार सुखवा को स्कूल में बैठा दिया था। उसके लिये पहली बाल-पोथी, पहाड़े-गिनती की पुस्तक तथा पाटी भी किसी प्रकार जुटा दी थी परन्तु कहावत है, 'कर्महीन खेती करे, बैल मरे सूखा पड़े'— वह स्कूल ही बन्द हो गया। तब से सुखवा दो ही काम करता था: खेलना और खाकर सो रहना। यदि कजरी चाहती तो सुखवा तो क्या उसकी परछाईं भी मोची का काम सीखती क्योंकि सुखवा यदि किसी से डरता था तो कजरी से। कजरी की चढ़ी भृकुटी देख कर सुखवा घर के अन्दर चूहे की सतर्कता तथा बिल्ली की चुप्पी से घुसता था और रोटी माँगने तक का साहस नहीं करता था।

सुखवा के भविष्य को छोड़ कर शंकर को कुछ चिन्ता नहीं थी। या उसके सीधे-सादे जीवन में गड़बड़ का अवसर तब आता था जब वह दारू पीकर डगमग पगों से घर आता था। परन्तु एक दिन तीसरे पहर दूसरे गाँव से एक चमार शंकर के पास आया। वह सलानगाँव का रहने वाला था। देहरादून से लौट रहा था और केवल शंकर को 'देखने' के लिये चला आया था, क्योंकि बहुत समय से उसे शंकर की 'खैर-खबर' नहीं मिली थी। शंकर ने उसे चिलम पिलाई और दोनों बातें करते रहे। बातों ही बातों में दूसरे चमार ने कहा, 'शंकर भाई, कज्जो का कहीं किया?'

अरे अभी? अभी तो वह बच्चा ही है।'

'कहाँ है तेरी मत? सारी बिरादरी में तेरी ही चर्चा है। हाल तो अब बिरादरी में तुझे लड़का मिलना मुसकिल है। कोई दुहेजू मिल जाय तो मिल जाय।'

'अच्छा ?' शंकर ने अन्यमनस्क भाव से कहा और सोच में पड़ गया। दूसरे गाँव का चमार कुछ देर और बैठा परन्तु जब देखा कि शंकर का ध्यान उस ओर नहीं है तो वह चल दिया।

उस दिन कजरी को देख कर शंकर को पहली बार प्रतीत हुआ कि कजरी बहुत जवान हो गई है। 'बहुत जवान'— क्योंकि गाँव की भाषा में जवान के माने हैं विवाह-योग्य। शंकर की जाति में, शारदा-नियम के होते हुए भी, लड़के-लड़कियों के विवाह आठ से बारह वर्ष तक की अवस्था में हो जाते थे, यह आठ से बारह तक की अवस्था तो तब है जब समय बहुत बदल गया है। आधी शताब्दी पहले तो गोद में बच्चे लेकर माता-पिता फेरे फेर दिया करते थे। कजरी तो अब की 'विवाह-योग्य अवस्था' को भी कभी की पार कर चुकी थी।

हमारे यहाँ कहावत है कि जिसके घर जवान बेटी हो वह आदमी पैर फैला कर नहीं सो सकता। परन्तु शंकर को जवान बेटी के विवाह के विचार के कारण पैर सिकोड़ कर सोने की आवश्यकता कभी प्रतीत नहीं हुई— हाँ ठंड के कारण बहुधा सिकोड़ लेता था। शंकर की इस निश्चिन्तता से उसके ही गाँव वालों को भी कम आश्चर्य नहीं था। उनकी समझ में ही नहीं आता था कि आख़िर शंकर उतनी बड़ी छोकरी का करेगा क्या। सम्भव है शंकर जान-बूझ कर कजरी की अवस्था के प्रति उदासीन रहा हो। जब से कजरी की माँ मरी थी तब से अपने हाथ से 'टीकड़े ठोंक कर' शंकर ने दोनों को पाला था और जब पकी-पकाई खाने का उसका समय आया तो कजरी को दूसरे घर दे देना शंकर की समझ में शीघ्र नहीं घुसा। इसके अतिरिक्त कजरी को उस घर का काम संभालते हुए इतने दिन हो चुके थे कि शंकर की समझ में ही नहीं आता था कि यदि कजरी चली जायगी तो सुखवा और वह कितने दिन जी सकेंगे। कभी-कभी वह अपने मन में उठते हुए प्रश्नों का उत्तर स्वयं देते हुए कहता, 'कौन मैं ? ना भाई, मेरे बस का तो अब है नहीं घर-बार संभालना। अब भला मेरी 'उमिर' रही है टीकड़े ठोंकने की ? याद का यह हाल है कि चीज़ कहीं रख दूँ तो मिलने का नाम नहीं लेती, फिर कैसे···' वह सुखवा के बड़े होने की बाट देख रहा था कि सुखवा का ब्याह करके रोटी बनाने के लिये बहू ले आए तो फिर कजरी को भी 'बिदा' कर दे। परन्तु भगवान जल्दी से सुखवा को जवान नहीं बना रहा था— पता नहीं कब का बैर निकाल रहा था बेचारे शंकर से।

जिस प्रकार देर तक सोने वाला उषा के प्रकाश को चाँदनी समझने का बहाना करके पड़ा रहता है परन्तु एकाएक सूर्य की धूप आने पर बहाने की कोई सम्भावना न रह जाने से उछल कर उठ जाता है उसी प्रकार दूसरे गाँव के चमार की बात सुन कर शंकर निश्चिन्तता छोड़ कर उठ गया। उसने कजरी को घबरा कर देखा। उसे प्रतीत हुआ कि वह उतनी देर में ही थोड़ी और बढ़ गई है। संध्या समय

शंकर ने अपनी वह पगड़ी बाँधी जिसे वह कभी-कभी केवल विशेष अवसरों पर ही पहिना करता था। कुर्ता भी बदल लिया। जूता पहना, लाठी संभाली और कजरी से कहा, 'ज़रा मैं लखौंड तक जा रहा हूँ। कल आ जाऊँगा। चौकस होकर रहियो और मैं बुधवा से कह दूँगा। वह रात को यहाँ सो जायगा।' इसके बाद वह चला गया।

कजरी ने अपने बाप और सलानगाँव के चमार की बातें सुनी थीं। उसके उपरान्त शंकर की बेचैनी भी देखी थी। इसलिये कपड़े बदल कर एक दम लखौंड जो वह गया— इसका कारण जानते कजरी को देर न लगी। एक बार एक अव्यक्त प्रसन्नता से उसका युवा-हृदय गुदगुदा उठा। काम में उसका जी न लगा। चलते-चलते ठोकर लगी। सुखवा उसे पुकारता रहा परन्तु आवाज़ उसके कानों तक पहुँच कर भी प्रभाव न डाल सकी। लीली के आगे घास डालने के बदले वह घास का पूला बग़ल में दबाए सीधी कोठरी में घुसती चली गई। जब सुखवा उसे देख कर हँसा तो उसका ध्यान टूटा। परन्तु प्रसन्नता की इस अनुभूति का वेग समाप्त होने पर वह शोकाकुल हो गई। सदा का जाना-पहिचाना वह घर जिसकी दीवार के एक-एक चिह्न से वह परिचित थी, जिसमें वह उतनी बड़ी हुई थी, वह घर छोड़ना पड़ेगा, इस विचार से वह बड़ी व्यथित हुई। उसके जाने के बाद शंकर और सुखवा की देख-भाल कौन करेगा, कौन उन्हें रोटी पका कर देगा, कौन उनके आराम— जितना भी उस दीन-हीन परिस्थिति में दिया जाना सम्भव था— का ध्यान रक्खेगा ? जिनसे वह कभी अलग नहीं हुई थी, उन भाई तथा पिता से बिछुड़ना होगा— यह विचार आते ही वह रो पड़ी। उसने सुखवा को छाती से लगा लिया और रोने लगी। सुखवा घबरा कर बोला, 'बीबी, क्या हुआ है ?'

'भैय्या, बाबा मुझे यहाँ से निकाल रहे हैं।'

'क्यों ?'

'पता नहीं।'

'तो रोती क्यों है ? मैं भी तेरे साथ चलूँगा। बाबा को यहीं छोड़ देंगे।'

'नहीं भैया, तू नहीं जा सकता।'

'नहीं, मैं तो यहाँ नहीं रहूँगा। जहाँ तू जायगी वहीं जाऊँगा।'

कजरी ने और ज़ोर से सुखवा को अपनी छाती से चिपटा लिया और उसका रोना भी बढ़ गया। कुछ तो घर तथा घरवालों से बिछुड़ने का दुःख तथा कुछ इस

बात का डर कि पता नहीं किन अपरिचित लोगों के बीच रहना होगा। कैसा उनका स्वभाव होगा, कैसा उसका पति होगा— आदि बातें ही कजरी की सारी रात की नींद ख़राब करने के लिये यथेष्ट थीं, परन्तु इन सबसे ऊपर एक दुराशा भी उसके रात्रि-जागरण का कारण बन गई।

१८

कई दिन तो चन्द्रमोहन रेल वाले उस उपद्रव के सम्बन्ध में बहुत व्यस्त रहा। परन्तु जब रूपराम के लिये कम से कम एक सप्ताह के लिये कुछ किया नहीं जा सकता था और गाड़ी के उड़ाए जाने से देहरादून में जो हाय-हाय मच गई थी उसके कारण वह शहर जाना नहीं चाहता था, तब उसके पास यथेष्ट समय था और वह अपने ग्राम तथा वहाँ के निवासियों के विषय में सोच सकता था। सबसे पहले उसे कुएँ की घटना तथा कजरी की याद आई— स्वाभाविक भी था। जिसके कारण उसे पिता के सामने जाना पड़ा था और उतनी बातें सुननी पड़ी थीं, उसका विचार न आता तो किसका आता? इसके अतिरिक्त और लोगों की भाँति उसके कानों में भी बावड़ी की बात उड़ती-उड़ती पहुँच गई थी। उसे प्रसन्नता हुई बावड़ी की बात सुन कर। उसके पिता उसकी एक बार कही हुई बात का इतना ध्यान रखते हैं—इस बात से चन्द्रमोहन की छाती गर्व से फूल उठी और अपने पिता के प्रति उसकी श्रद्धा में वृद्धि हो गई। जिस बावड़ी के साथ वह इस प्रकार अलक्षित रूप से बँधा हुआ था, उसे देखने की उसे इच्छा हो आई और साथ ही कजरी को देखने की भी।

पिछली रात खूब वर्षा हुई थी परन्तु सवेरे वर्षा के उन मेघों का चिह्न भी नहीं रहा था। सूर्य चमक रहा था तथा उसकी कोमल धूप में, स्वच्छ, नीले, निखरे हुए आकाश में तैरते हुए थोड़े बहुत सफ़ेद बादल आकाश को फटे हुए दूध के कड़ाह जैसा बना रहे थे। चन्द्रमोहन ने धोती-कुर्ता पहिना और गलियों के कीचड़ से कपड़ों को सावधानी से बचाता हुआ बड़े साल के पेड़ की ओर चला।

संयोग की बात : चन्द्रमोहन जैसे ही बावड़ी पर पहुँचा उसे कजरी पानी भरती दिखाई दी। यद्यपि घर से वह कजरी से मिलने की गुप्त इच्छा तथा आशा लेकर चला था फिर भी जब वह इस प्रकार आकस्मिक रूप से अकेली मिल गई तो वह ठिठक गया और वहीं खड़ा रह गया। एक बार उसके मन में इच्छा हुई कि वापस लौट जाय परन्तु उसके लौट जाने से कजरी अपने मन में न जाने क्या सोचेगी; और कुछ, जब वह आ ही गया था तो बिना कुछ कहे-सुने एकाएक चले जाना, ठीक नहीं होगा— यह सोच कर चन्द्रमोहन रुक गया।

कजरी ने भी चन्द्रमोहन को देखा और उसे आश्चर्य हुआ। आश्चर्य से अधिक हुई प्रसन्नता। उसके हृदय में आरम्भ से ही एक क्षीणाशा थी कि चन्द्रमोहन उस बावड़ी पर किसी दिन अवश्य आवेगा।

जब कभी एक युवक तथा युवती जो एक दूसरे से किसी भाँति सम्बन्धित न हों तो वे चाहे किसी भी जाति के हों, उनकी सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थाओं में कितना ही अन्तर क्यों न हो, और यदि उनमें से एक गुण्डा न हो, तो अचानक एक साथ अकेले पड़ जाने पर उनमें संकोच होना स्वाभाविक ही है। इसी संकोच के वशीभूत कजरी, जो घड़ा उठाने के लिये घड़े के मुँह पर हाथ रक्खे झुकी हुई थी, तो झुकी ही रह गई और चन्द्रमोहन जहाँ एक बार ठिठका था वहीं खड़ा रह गया परन्तु अधिक देर यह संकोच तथा चुप्पी रहने देना ठीक नहीं— ऐसा दोनों ने अनुभव किया। दोनों चुप्पी तोड़ने के लिये उत्सुक थे। चन्द्रमोहन पुरुष था, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में बड़ा था; पहले उसे ही बोलना था और वही बोला, 'कहो कजरी, अच्छी तो हो?'

कजरी भी घड़ा छोड़ कर सीधी खड़ी हो गई। उसने मुस्करा कर कहा, 'हाँ भैया जी, अच्छी हूँ।'

एक युवती अथवा स्त्री कब सहसा अत्यन्त सुन्दर लगने लगेगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। कजरी को मुस्कराते देख चन्द्रमोहन ने अपनी इच्छा के विरुद्ध अनुभव किया कि कजरी मुस्कराती हुई तो बहुत सुन्दर लगती है।

'शंकर और सुखवा तो अच्छे हैं?' चन्द्रमोहन ने फिर पूछा।

'हाँ।' कजरी ने उत्तर दे दिया।

चन्द्रमोहन अब और क्या कहे! परन्तु इस प्रकार एकदम मुँह पर ताला लगा लेना भी ठीक नहीं जँचा। वह शंकर तथा सुखवा के अतिरिक्त और कुछ क्या पूछता! उसने कहा, 'शंकर कहाँ है? बहुत दिन से दिखाई नहीं पड़ा।'

'बाबा तो घर ही हैं, पर काम ज़्यादा है इसलिये कहीं आते-जाते नहीं।'

'सुखवा क्या करता है?'

'कुछ नहीं, खेलता रहता है।'

'पढ़ता-वढ़ता नहीं?'

'कौन पढ़ाएगा उसे? गाँव में पाठशाला थी, वह बन्द हो गई।'

'हूँ ....' चन्द्रमोहन ने कहा। मन में विचार आया कि कह दे, 'कभी-कभी मेरे पास भेज देना, मैं बतला दिया करूँगा।' परन्तु उसने मुँह से कहा, 'अब तो पानी भरने में कोई कठिनाई नहीं होती?'

'नहीं भैय्या जी, अब तो कुछ नहीं।' कजरी ने बावड़ी की ओर देखा, उस दिन की घटना याद की और उस दिन चाहे रोई थी परन्तु तब मुस्करा पड़ी। कजरी फिर मुस्कराई और चन्द्रमोहन के मन में फिर वही बात उठी।

'बावड़ी तो सुन्दर बनी है', चन्द्रमोहन ने और कुछ कहने को न पाकर कहा और फिर आगे बढ़ता हुआ बोला, 'अच्छा जाता हूँ, ज़रा अगले गाँव तक जाना है।'

चन्द्रमोहन जब तक दिखाई देता रहा कजरी खड़ी हुई देखती रही और जब वह ओझल हो गया तो घड़ा उठा कर डगमगाते पगों तथा धड़कते हृदय से घर की ओर चल दी।

और उस दिन के बाद चन्द्रमोहन को घर से बाहर घूमने जाने की अधिक इच्छा होने लगी और 'अगले गाँव' में उसका काम बार-बार पड़ने लगा। कजरी के घड़े में भी सवेरे के समय अनिवार्य रूप से पानी समाप्त होने लगा। इस प्रकार दूसरे-तीसरे दिन वे दोनों मिलते रहे परन्तु वे नहीं जानते थे कि उनके मिलने के साथ-साथ गाँव में कानाफूसियाँ भी बढ़ रही थीं।

गाँव में कोई बात किससे और कैसे आरम्भ हुई, यह जानने के लिये कोई आदमी चाहे तो अपनी सारी सम्पत्ति— यहीं तक नहीं, अपना जीवन भी दाँव पर निश्चिन्तता-पूर्वक लगा सकता है। वह दाँव कोई नहीं जीतेगा— यह निश्चित है। किसी से भी पूछी जाने पर 'उसने कहा था', 'अमुक से सुना था', 'मैं नहीं जानता, वह जानता है' की छोरहीन लड़ी आरम्भ हो जायगी। कजरी तथा चन्द्रमोहन की रोचक कहानियाँ गाँव में कैसे फैलीं, इसका अधिकारपूर्वक तथा सप्रमाण पता देना किसी के वश में नहीं फिर भी कुछ बातों के आधार पर अनुमान के ताने-बाने के फटे पर्दे में कल्पना के पैबन्द लगाये जा सकते हैं।

लगातार कई दिन तक पानी भरने के समय कजरी को अनुपस्थित देखकर स्त्रियों की मंडली की उत्सुकता जाग्रत हो गई और दो-चार दिन और बीतते न बीतते तो उत्सुकता रोके न रुकी। प्रस्ताव पास हुआ कि किसी प्रकार पता लगाया जाय कि वे लोग पानी कहाँ से पीते हैं क्योंकि नदी का गँदला, बरसाती पानी उन दिनों पीने योग्य नहीं था। कला चाची को अन्वेषण-कार्य सौंपा गया और फिर उसने पता लगा ही लिया। यह ऐसा कुछ कठिन भी नहीं था। और फिर तो हाथ और आँखें चमका-चमका कर साल के पेड़ के नीचे वाली 'चमारों की बावड़ी' की बातें ऐसी कही गईं कि सारे गाँव को जानते देर न लगी। कजरी और चन्द्रमोहन का दुर्भाग्य था कि यह कार्य कला चाची को सौंपा गया था क्योंकि संयोग से उस दिन कला चाची जब भेद लेती-लेती बावड़ी पर पहुँची तो दोनों वहीं खड़े बातें कर रहे थे।

बावड़ी की बात खूब फैली। कला चाची को कूदने के लिये खूँटे का बल मिला। उसने अधिकारपूर्वक कहना आरम्भ किया, 'अरे मैं पहले ही नहीं कहूँ थी कि इन दोनों में पुरानी साँठ-गाँठ है। मैंने धूप में बाल सफ़ेद नहीं किये और न बालों पर नमक का कपड़ा बाँधा था। भला पहले की लगी न होती तो इतनी औरतों के बीच में वह कल का लौंडा उस छोकरी का घड़ा भरता? हम कहें किसी और का घड़ा क्यों नहीं भर दिया?.......'

ये बातें मर्दों तक पहुँची फिर धीरे-धीरे ज़मींदार के कानों तक भी पहुँच गईं। उन्हें चिन्ता हुई। 'सम्भव है इस बार भी कला चाची या किसी और ने झूठ-मूठ बात बनाई हो, फिर भी लड़का-लड़की दोनों जवान हैं। जवानी अन्धी होती ही है। कहीं कुछ ऊँच-नीच कर बैठे तो मुँह दिखाने योग्य भी न रहेंगे।'— यह सब सोच-विचार कर और गृहिणी से सम्मति ले कर उन्होंने शंकर को बुलाने के लिये आदमी भेजा।

शंकर के उतनी जल्दी लखौंड जाने की जड़ में एक और बात भी थी: बारी में उसने एक-आध नशेबाज़ के मुँह से कजरी तथा चन्द्रमोहन के सम्बन्ध में उड़ती बातें सुनी थीं। परन्तु 'शराबी की बात का क्या ठिकाना' कह कर शंकर ने इस बात को दोबारा सोचा भी नहीं था। उसने सोचा: 'कहाँ चन्द्रमोहन— एक तो ब्राह्मण फिर ज़मींदार का बेटा; और कहाँ कजरी— ग़रीब चमार की लौंडिया! कुछ नहीं जी, लोग नई बावड़ी के बन जाने से जलने लगे हैं। और चन्द्रमोहन! वह तो आदमी क्या देवता है देवता। किसी जन्म का.......' फिर भी जब दूसरे गाँव की बात से सहसा वह चेता तो उसने विचार किया कि ढील करने से क्या लाभ। एक-आध दिन आगे-पीछे से क्या होता है। करना तो है ही। अभी तो एक-आध शराबी ही कहता है, कल को सारा गाँव ही कहने लगे तो गाँव ही छोड़ना पड़ेगा। अच्छा है जितनी जल्दी झगड़ा निबट जाय। उस बेचारे को पता नहीं था कि सारा गाँव पहले ही शराबी वाली बात कहने लगा था।

शंकर लखौंड से लौट कर बैठा ही था कि भू-स्वामी का कर्मचारी आया और उससे कहा कि ज़मींदार महोदय ने बुलाया है।

'क्यों भैय्या?' शंकर ने ज़मींदार के बुलावे का नाम सुनकर हड़बड़ाहट में 'राम राम' भूल कर कहा, 'क्या बात है?'

'बात तो पता नहीं, पर बुलाया है।'

'अभी?'

'अभी चला चल।'

शंकर डर के मारे मन ही मन 'हनुमान गुसाईं' का स्मरण करता हुआ हवेली पहुँचा और भू-स्वामी को 'पालागन' करके एक ओर खड़ा हो गया। ज़मींदार महाशय अपने कर्मचारी को कुछ देर आदेश देते रहे फिर चुपचाप हुक्का गुड़गुड़ाने लगे। शंकर ने साहस करके कहा, 'मुझे याद किया था मालिक?'

'अरे हाँ! बैठ जा।'

शंकर बैठ गया।

'अरे शंकर!'

'सरकार!' शंकर चौंक कर बोला।

'कजो का व्याह करना है या नहीं?'

शंकर पहले तो घबराया कि एकाएक यह क्या पूछने लगे, फिर बोला, 'देखा तो है मालिक।'

'कहाँ?'

'लखौंड।'

'किसके यहाँ?'

'नत्थू चमार का लड़का है सरकार।'

'क्या करता है?'

'देहरे किसी दफ्तर में नौकर है।'

'कब किया?'

'अभी-अभी आकर बैठा ही था, तभी सरकार का……'

'कब है ब्याह?' उन्होंने पूछा।

'यह बात तो अभी तै नहीं हुई', शंकर ने कहा, 'अबके चमासे (वर्षाऋतु) के 'साह' तो सब निबट गये। मेरे जी में तो यह थी कि जाड़ों के पहले साह में छोरी के हाथ पीले कर देता पर वे लोग 'खरसौ' (ग्रीष्म) से पहले ब्याह करने को राजी ही नहीं हैं। बस यहीं बात अटक रही है। और मैं भी जरा इस मारे चुप हूँ कि अभी हाथ-पल्ले पैसा-टका कुछ है नहीं, नहीं तो जाड़ों के लिये ज़ोर देता।'

'अरे जवान लड़की ज़्यादा दिन घर में रखनी ठीक नहीं।'

'लेकिन मालिक इस बखत तो घर में कानी कौड़ी भी नहीं है।'

'ख़ैर, कानी और सुआँखी कौड़ी की तू चिन्ता मत कर। तू ब्याह का काम देख।' और तब शंकर बीस बार झुक कर पालागन करके उड़ता हुआ-सा घर पहुँचा और कजरी के पूछने पर बोला, 'ले भाई एक बोझ तो सिर से दूर हुआ।

अबके जाड़ों में तेरे हाथ पीले करके तेरी तरफ से तो 'निश्चिन्त' हो जाऊँगा। रहा सुखवा। उसका क्या, मर्द बच्चा है, पेड़ के नीचे भी पड़ा रहेगा तो रात काट देगा।'

यह बात फैलते देर नहीं लगी कि कज्जो का ब्याह होने वाला है परन्तु यह बात विशेष रूप से गुप्त रक्खी गई कि ब्याह कहाँ होने वाला है क्योंकि शंकर के अनुसार 'दुनिया में सौ मित्तर हैं तो सौ दुस्मन। किसी ने भाँजी मार दी तो जवान धी को कहाँ लिये-लिये फिरूँगा! मुसकिल करके तो एक छोरा हाथ लगा है, वह भी हाथ से निकल गया तो बस······'

किसी मनुष्य का कितना भी आदर क्यों न हो, जब एक स्त्री का प्रश्न बीच में आ जाता है तो लोग उसका सारा मान-आदर भूल कर उसे चिढ़ाने में मज़ा लेते हैं। गाँव के लोग चन्द्रमोहन के सामने तो सीधे कुछ कहने का साहस कर नहीं सकते थे परन्तु उसे सुना कर बहुत कुछ कह जाते थे। वे समझते थे कि कजरी के विवाह की बात से चन्द्रमोहन जलेगा, तो जहाँ कहीं वे उसे देखते वहीं आपस में कहने लगते, 'सुना है भई अब शंकर चमार की छोकरी का भी बुढ़ापे में ब्याह हो रहा है।'

कजरी का विवाह चमार की लौंडिया का ब्याह न होकर राजा की बेटी का विवाह हो गया— जिसे देखो उसकी जीभ पर इसी की चर्चा, मानो कोई अनहोनी बात हो रही थी।

चन्द्रमोहन बच्चा नहीं था। वह समझा। वह एक बार भी फिर बावड़ी पर नहीं गया। कजरी ने एक-आध दिन प्रतीक्षा की। चन्द्रमोहन नहीं आया तो उसे बुरा लगा, परन्तु कुछ दिन पश्चात् फिर पानी भरकर बिना प्रतीक्षा किये चली जाने लगी।

तभी रूपराम एक सप्ताह का अज्ञातवास करके लौट आया। चन्द्रमोहन को साथी मिल गया। वे दोनों भविष्य के लिये अपनी योजनाएँ बनाने, बिगाड़ने और सोचने-विचारने में लग गये।

१६

रमेश सरोज के घर पर पहुँचा। उसकी माता जी से मिला और थोड़ी देर इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् उसने पूछा, 'सुबोध की चिट्ठी आई?'

'मेरे विचार से तो आई नहीं, वैसे सरोज से पूछ लो।'

'सरोज जी कहाँ हैं?'

'अन्दर होगी कहीं।' सरोज की माता जी ने कहा।

रमेश चाहता था कि सरोज से कुछ क्षण एकान्त में बातें करने का अवसर मिले। वह अन्दर गया। सरोज उसे देखते ही सरोज की ही भाँति खिल उठी और एकदम बोली, 'आ गये?'

'तुम क्या समझती थीं?'

'मैंने सोचा कदाचित् आज भी नहीं आओगे। तुम्हारा यहाँ है ही कौन जिसके लिये आओगे?'

'अच्छा, ऐसी बात?' रमेश ने कहा और आगे बढ़कर सरोज के हाथ अपने हाथों में ले लिये। सरोज चुप बैठी रही। सहसा रमेश को जैसे कुछ याद आया। उसने सरो के हाथ छोड़ कर कहा, 'सरो चिट्ठी है।'

सरोज ने इधर-उधर देख कर कहा, 'तो दो फिर।'

'ऐसे नहीं।'

'फिर कैसे?' सरोज ने पूछा।

'हमारा मेहनताना।'

'जाओ भी।' सरोज ने लज्जा से लाल होकर मुस्कराते हुए मुँह फेर कर कहा।

'तुम्हारी इच्छा।'

'दो भी जल्दी', सरोज ने कुछ देर चुप रह कर कहा।

'शर्त स्वीकार है?'

'.........'

'मौन अर्द्ध-स्वीकृति समझूँ ?'

'.........'

'यह दूसरा मौन पूरी स्वीकृति है', कह कर रमेश ने सरोज को अपनी ओर खींचने के लिये हाथ बढ़ाए, परन्तु सरोज चमक कर हट गई, 'जाओ जी, कोई देख लेगा।'

'ख़ैर अब नहीं थोड़ी देर में सही, तुम यह चिट्ठी तो रक्खो।' रमेश ने कहा और जेब से चिट्ठी निकाल कर सरोज के हाथ पर रख दी। दोनों के हाथ काँप रहे थे। उन दोनों के लिये चिट्ठी देने तथा लेने का यह प्रथम अवसर था। सरोज ने घूम कर रमेश की ओर पीठ की और ब्लाऊज़ के ऊपर के दो-एक बटन खोल कर चिट्ठी अन्दर डाल ली। उस समय रमेश के हृदय में विचारों की झंझा उठ खड़ी हुई परन्तु उनका विश्लेषण करने में बुद्धिमानी नहीं है। रमेश भी पहले तो चुप रहा परन्तु सरोज के चिट्ठी ठिकाने से रख अपनी ओर घूमते ही, अपनी दृष्टि को पारदर्शी बनाने का प्रयत्न करते हुए, चिट्ठी पर गड़ा कर किञ्चित मुस्करा कर बोला, 'काश चिट्ठी के बदले......'

'धत् तुम्हारी! बड़े गन्दे विचार हैं जी तुम्हारे!' सरोज ने कहा। उसके मुख पर मुस्कान खेल गई, परन्तु उसमें लज्जा के साथ विजय-गर्व भी था। रमेश ने देखा, समझा। वह आगे बढ़ा, और सरोज का हाथ पकड़ कर ज़ोर से दबाया। सरोज लगभग चिल्ला पड़ी, 'ओह, छोड़ो! तुम बड़े दुष्ट हो...... छोड़ो जी, कोई देख लेगा ....'

रमेश ने हाथ छोड़ दिया। फिर उसे कोई बात याद आ गई। उसने पूछा, 'सुबोध की कोई चिट्ठी आई ?'

'नहीं', सरोज ने कहा। क्षण भर में उसका खिला हुआ मुखड़ा मुर्झा गया। उसका गला भर आया। वह बोली, 'पता नहीं भैया कहाँ हैं, कैसे हैं।'

'ओह सरो!' सरोज के हाथ को फिर पकड़ते हुए रमेश ने कहा, 'चिन्ता न करो। वह किसी काम में फँस गया होगा, इसी से चिट्ठी नहीं लिख पाया होगा।'

परन्तु तब तक सरोज की आखों में आँसू छलछला आए। रमेश कुछ देर हत्-बुद्धि-सा खड़ा रहा। उसकी समझ में ही नहीं आया कि क्या करे, क्या न करे। उसने फिर प्रयत्न करके कहा, 'देखो सरो, रोओ नहीं। घबराने की क्या बात है ? एक-आध दिन में उसकी चिट्ठी आती ही होगी। अब प्रसन्न हो जाओ।'

फिर रमेश ने सरोज की ठुड्डी पकड़ कर उसका मुख ऊपर उठाया और उसकी आँखों में देखना चाहा परन्तु सरो की आँखें थीं कि झुकी जाती थीं। अन्त में सरो ने क्षण भर के लिये ज्योंही पलकें ऊपर ऊठाईं, रमेश ने कहा, 'लो अब ज़रा हँसो तो।'

सरोज के मुखड़े पर मुस्कान भली भाँति खिल भी नहीं पाई थी कि रमेश ने सहसा सरोज को अपनी बाँहों में कस लिया, अपनी छाती पर उसे इतने ज़ोर से दबाया कि ब्लाउज़ के अन्दर रक्खी चिट्ठी का कागज़ भी सहायता के लिये कड़कड़ा कर चिल्ला उठा, और ······', इस 'और' की बात एक भेद है जिसका प्रकट होना उचित नहीं, परन्तु दूसरे ही क्षण सरोज के घुटने काँपने लगे, उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उसके घुटनों में जान ही नहीं रही है, वे टूट गये हैं, वह गिर पड़ेगी ; उसके शरीर का तापमान एकदम कई अंश ऊँचा बढ़ गया। सारा मुख, गर्दन— सब लाल हो गये और वह थकी हुई-सी कुर्सी पर गिर पड़ी।

रमेश चला गया परन्तु उस दिन ठोकरें खाते-खाते सरोज के पैरों की सारी उंगलियाँ छिल गईं, कई बार खून निकल आया और उस दिन उसने इतनी चीज़ें तोड़ी-फोड़ीं कि अन्त में उसकी माता जी को बिगड़ कर कहना पड़ा, 'आज पता नहीं तुझे क्या हो गया है ? हाथ-पैरों में जान नहीं रही क्या ? जो नहीं हो सकता कुछ तो घर में बैठ !'

परन्तु सरोज घर में भी चुपचाप न बैठ सकी। रमेश का पत्र काँपते हाथों से खोला और धड़कते हृदय से पढ़ना आरम्भ किया, परन्तु दो-चार पंक्तियाँ पढ़ कर ही सारे अक्षर एक अनोखी धुन्ध में समा जाते। धुन्ध में केवल रमेश का मुख दिखाई देता। सरोज आँखें मलती, सिर को झटका देकर फिर पढ़ती। कठिनाई से उसने पत्र को एक बार पूरा पढ़ा, फिर पढ़ा, फिर पढ़ा ······ और बार-बार पढ़ती रही।

दूसरे दिन सचमुच सुबोध का पत्र आया। वह मेरठ ज़िले में मंसूरी नामक ग्राम में किसी चौधरी के घर रहता था। चौधरी जी उस गाँव के मालिक थे। उनका पुत्र सुबोध का किसी समय का साथी था। सुबोध ने अपना कुशल-समाचार देने तथा किस प्रकार मंसूरी पहुँचा— यह सब लिखने के पश्चात् लिखा था :

'···सरोज, अभी मेरा विचार कुछ दिन और यहाँ ठहरने का है। हम नगरों के निवासी समझ भी नहीं सकते कि भारतवर्ष के सात लाख से ऊपर गाँवों की क्या दशा है। हम नगरों की गन्दगी तथा बुराई के ही रोने रोते थे, परन्तु यदि तुम यहाँ आकर एक बार देख लो तो काँप उठो। हमारे गाँव वास्तव में अशिक्षा, अन्ध-विश्वास, कुरीतियों,, बीमारियों, छुआछूत के घर हैं। बीमारी में डाक्टरों और वैद्यों के बदले टोने-टोटके और झाड़-फूँक में अधिक विश्वास है। अछूत से छू जाने पर नहाना होता है। पढ़ने-लिखने से लड़के-लड़कियाँ बिगड़ जाते हैं, अधिक यात्रा करने से धर्म भ्रष्ट होता है— ये हैं गाँवों में फैले हुए विचार। रमेश ठीक कहता था। कोरे आतंकवाद से काम नहीं चलेगा। पहले ये बुराइयाँ दूर करनी होंगी। जनता में जाग्रति होने पर ही हम सफल हो सकेंगे। यद्यपि मैं इस बात को अभी पूर्णतया ग्रहण नहीं कर पाया हूँ— क्योंकि मैं समझता हूँ कि यदि हम आतंक द्वारा सफल

हो जाते तो फिर अपनी बुराइयाँ स्वयं दूर कर लेते। यह ठीक है कि बहुत-सी बुराइयाँ हमारी अपनी उत्पन्न की हुई हैं और अब हम उनसे ऐसे चिपटे हुए हैं कि छोड़ना ही नहीं चाहते, फिर भी बहुत-सी बातें केवल सरकार ही कर सकती है। कुछ बातों में निर्दयतापूर्वक बल-प्रयोग भी करना ही पड़ेगा। इसके अतिरिक्त जिन बुराइयों को विदेशी सरकार हम में जान-बूझ कर रख रही है— बल्कि स्वयं फैलाने का प्रयत्न कर रही है, वे और बुराइयों के उत्पन्न होने तथा फलने-फूलने के लिये उत्तम भूमि का कार्य करती हैं। मिल-मज़दूरों के रहने के क्षेत्र में शराब, ताड़ी और दूसरी मादक वस्तुओं के खुले लाइसेंस देना एक प्रमाण है। ग़रीब और मादक-सेवी— करेला और नीम-चढ़ा हो जाता है। फिर उससे क्या आशा की जा सकती है? और सरोज, सच पूछ तो दासता सबसे बड़ी बुराई है। दास बनते ही किसी भी देश के निवासियों में बुराइयाँ आश्चर्यजनक शीघ्रता से घर कर लेती हैं। वर्तमान महायुद्ध में भाग लेने वाले सभी देश कला, वाणिज्य, विज्ञान, रहन-सहन, विचार— सब में उन्नत हैं। परन्तु सरोज, यदि जीते रहे तो देखेंगे कि हारने वाले एक ही वर्ष में कहाँ से कहाँ गिर जाते हैं। स्वतन्त्रता स्वयं एक प्रेरक शक्ति है। स्वतन्त्र भारत बहुत कुछ कर लेता। .... फिर भी रमेश की बातों में सार है। कदाचित् मैं अपने कार्य में इतना लगा रहता कि गाँवों की ओर कभी मेरा ध्यान ही न जाता, पर जब मैं यहाँ आ ही गया हूँ तो जो कुछ मुझसे हो सकता है, कर लूँ.......... ।

'पूज्य पिता जी तथा माता जी को प्रणाम। पिता जी तो किसी विषय में अधिक चिन्ता नहीं करते परन्तु माता जी को समझाती रहना। और यदि वहाँ शान्ति रही और गड़बड़ी की कोई आशंका न हुई तो मैं ही कभी वहाँ आकर तुम लोगों से मिल जाऊँगा।

'रमेश को नमस्ते कहना। उसके क्या हाल-चाल हैं? वह अभी हमारे ही घर है या चला गया, आता है या नहीं, कॉलेज खुला या नहीं, आदि बातें लिखना और तुम्हें मिले तो उसे कहना कि मुझे यहीं के पते पर चिट्ठी लिखे। अच्छा अब फिर कभी लिखूँगा।

तुम्हारा ही,

भैय्या।'

सुबोध गाँव में ही रहा। सरोज और रमेश के पत्र उसके पास पहुँचते रहते, उसके पत्र उन्हें मिलते रहते। देश में नौकरशाही के अत्याचारों का दौर-दौरा था। इक्के-दुक्के बम कहीं न कहीं फटते रहते थे। काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के छात्रों ने विशेष रूप से अन्यतम उत्साह तथा साहस का परिचय दिया। बहुत स्थानों पर रेलगाड़ियाँ उलटी गईं, डाकख़ाने तथा दूसरे सरकारी भवन तथा दफ़्तर जला डाले गये। कार्य करने वाले अपना कार्य करके चल देते थे और नौकरशाही के झल्लाए

हुए भाड़े के टट्टू अपना क्रोध निरीह जनता पर निकालते थे। सैंकड़ों निरपराध पकड़े जाते थे। लाठी-प्रहार करना, लोगों पर घोड़े दौड़ाना, सफ़ेद कुत्तों से गाँवों में वीभत्स अत्याचार कराना, गाँवों पर सामूहिक जुर्माने करना और उनकी वसूली के सम्बन्ध में नृशंसतम अत्याचार करना साधारण बातें हो गई थीं। न्याय के नाम पर अन्याय हो रहा था। न्याय का नाटक खेलने वाले न्यायालय जेलों के सामने पेड़ों के नीचे तम्बुओं में खोले गये थे। उनमें न कोई प्रतिवादी था न वकील, न तर्क-वितर्क। न्यायाधीश के इङ्गित पर चपरासी ने किसी युवक, बूढ़े, अथवा बालक को उपस्थित किया, पकड़ने वाले ने उस पर अभियोग बतलाया और न्यायाधीश ने जितना चाहा जुर्माना, कारावास अथवा बेंतों का दण्ड दे दिया। किसी की पुकार या फ़रियाद सुनने वाला कोई नहीं था। सम्भ्रान्त से सम्भ्रान्त नागरिक का मान अठारह रुपल्ली के सिपाही की दया पर ठहरा हुआ था। किसी को पकड़वाने के लिये एक लाल पगड़ी वाले का इतना कहना ही पर्याप्त था कि 'अमुक विद्रोही है।' बस, फिर सम्राट् के विरुद्ध षड्यन्त्र तथा विद्रोह करने का अभियोग लगा कर जो जी में आता किया जाता।

इस न्याय के अन्याय के सामने जहाँ ऐसे सिंह-हृदय भारतीय भी थे जो अनिश्चित समय के लिये असह्य यंत्रणाएँ हँसते-हँसते झेल रहे थे, वहाँ ऐसे कायरों की भी कमी नहीं थी जो रात-दिन अपने भाग्य को रोते रहते थे और समय मिलते ही पच्चीस रुपये जुर्माना अथवा डेढ़ मास के कारावास के कुछ दिन काट कर और फिर क्षमा माँग कर तथा भविष्य में किसी भी आन्दोलन में भाग न लेने के लिये शपथपूर्वक प्रार्थना-पत्र लिख कर छूट-छूट कर आ रहे थे।

इस प्रकार के अव्यवस्थित वातावरण में उस समय का हिन्दू-बहुल भारत गुज़र रहा था, क्योंकि अधिकांश मुसलमान इस आन्दोलन से तटस्थ रहे। उनकी समझ में यह आन्दोलन हिन्दुओं का था, इससे केवल हिन्दुओं को स्वतन्त्रता मिलने वाली थी और उन्हें डर था कि स्वतन्त्र भारत में बहु-संख्यक हिन्दू उन्हें कुचल कर रख देंगे। इसलिये वे अपना भला इसी में सोचते थे कि पूरी शक्ति से गोरी प्रभुता का समर्थन करें और प्राणपण से उससे चिपटे रहें। ठीक भी है। मुसलमान ठहरे अरब के निवासी। भारत की स्वतन्त्रता से उन्हें क्या सहानुभूति? इसी विद्रोह, घृणा, द्वेष तथा अत्याचार के वातावरण में सितम्बर का पूरा महीना और अक्तूबर का अधिकांश भाग भी बीत गया।

अक्तूबर के अन्त में स्कूल तथा कॉलेज फिर खुलने लगे। सरो का कॉलेज पहले ही खुल चुका था। फिर रमेश और सुबोध का भी खुल गया। रमेश और सरो ने सुबोध को फ़ौरन आ जाने के लिये लिखा। सुबोध आ गया। फिर दोनों कॉलेज जाने लगे परन्तु इतने दिन की छुट्टियों के पश्चात् और नई परिस्थिति में वह

कॉलेज एक नया कॉलेज-सा लगने लगा था। बहुत से छात्र जेलों में थे। कुछ आतंकवादियों के दल में होने के कारण फ़रार थे। कुछ लोग जेल से लौटे थे। कॉलेज में पढ़ाई के स्थान पर छात्रों में सामयिक घटनाओं तथा अपने-अपने अनुभवों की बातें अधिक होती थीं? भविष्य के कार्य-क्रम बनाने वाले भी कम नहीं थे। छात्रों में यह बात भी उड़ रही थी कि परीक्षा पीछे हट जायगी। जिनके नाम कट चुके थे उनके प्रवेश में गड़बड़ी पड़ रही थी।

इस प्रकार का अनोखा-सा, घुटा-घुटा, अव्यक्त भय से भरा, सन्देहपूर्ण वातावरण सबको घेर रहा था उन दिनों।

२०

रमेश तथा सरोज का प्रेम बन की आग की भाँति उद्दाम वेग से बढ़ रहा था। सरोज अपने भैया की ओर से निश्चिन्त हो चुकी थी और रमेश के घर का कार्य नियमित रूप से चलने लगा था। बीमारी अथवा निर्बलता का कोई चिह्न उसमें नहीं रहा था। वह और सुबोध दोनों साथ कॉलेज जाते, काम करते और लौट आते। सब बातें पहले जैसी होने लगी थीं, इसके अतिरिक्त कि रमेश ने सरोज को चिढ़ाना कम कर दिया था और सरोज कितनी भी अप्रसन्न होने पर रमेश को 'डमी' नहीं कहती थी। कभी नित्य और कभी एकान्तर दिवस उनमें पत्रों का आदान-प्रदान होता था। पत्रों की भाषा से प्रेमोद्गार छलकते रहते थे। धीरे-धीरे पत्र लम्बे होने लगे। काम की बातें छोड़ कर व्यर्थ बातें भरी रहने लगीं और नव वर्ष को तो दोनों के पत्र अपने तूल की सीमा पर पहुँच गये। सरोज ने रमेश को कॉपी के सोलह पृष्ठों का पत्र लिखा और रमेश ने काग़ज़ के पूरे दो ताव दोनों ओर बारीक-बारीक अक्षरों से भर दिये। पूरे-पूरे पत्र देना तो असम्भव है परन्तु नीचे दिये हुए कटे-छँटे पत्रों से भी उनकी तब की दशा का अच्छा परिचय मिल सकता है।

रमेश का पत्र

३१ दिसम्बर, १६४२,

रात्रि : ११-४०

मेरी सरो !

नव-वर्ष की बधाई ! मैं समझता हूँ सरो, कि तुम भी मेरी ही भाँति इस वर्ष अर्थात् १६४२ को अपने जीवन में कभी भी नहीं भूल सकोगी। मैं तो इस वर्ष को भूलने की स्वप्न में भी नहीं सोच सकता। मुझे तो इस वर्ष कल्पनातीत वस्तु मिली।............

.... आज एक बड़ी अनोखी बात हुई है सरो। मैं आज प्रातःकाल से ही आकाश के रंगों के परिवर्तन लक्ष्य करता रहा हूँ। प्रत्येक परिवर्तन में मैंने तुम्हें ही देखा। प्रातःकाल जब पहले-पहल बाहर निकला तो देखा कि सारे आकाश में सफ़ेद-सफ़ेद छोटे-छोटे बादलों के टुकड़े बिखरे हैं और उदीयमान सूर्य की किरणें उन्हें

अरुणिमा से भर रही हैं। वह अरुण वर्ण प्राची से गहरा आरम्भ होकर सर्व दिशाओं में प्रसरित होता हुआ क्रमशः मद्धिम होता चला गया था। मुझे प्रतीत हुआ कि जैसे तुम मेरे सम्मुख खड़ी हो और सहसा मेरे कुछ बात कह देने अथवा.....अर्थात्..... अर्थात् मेरे किसी व्यवहार पर तुम्हारे कपोल अरुण हो उठे और वह अरुणिमा धीरे-धीरे फैल कर तुम्हारे कानों तथा ग्रीवा तक फैल गई। ऐसा होते मैंने कई बार देखा है सरो, और उस समय तुम कितनी सुन्दर लगती हो, यह मैं कैसे बतलाऊँ! कुछ देर पश्चात् सारा आकाश स्वर्ण-वर्ण का हो गया। मुझे प्रतीत हुआ जैसे तुम अपने कञ्चन-वर्ण मुखड़े पर अलक्ष्य-सा स्मित लिये मेरे सम्मुख मुस्करा रही हो। फिर आकाश में थोड़े-थोड़े बादल घिर आये। उन्होंने सूर्य को ढँकना चाहा परन्तु सूर्य था कि छिपने में ही नहीं आता था। उस स्थान पर प्रकाश का एक उज्जवल वृत्त चमक ही रहा था। वह ऐसे था जैसे तुम कभी-कभी अपनी सहज मुस्कान को गम्भीरता से ढकने का प्रयत्न करती हो परन्तु मुस्कान होती है दुष्टा कि अधरों पर मचली जाती है। उसके उपरान्त सारा आकाश घने काले मेघों से भर उठा, सूर्य की चमक जाती रही, प्रकाश कम हो गया। वह तुम्हारा तब का रूप था जब कभी तुम मेरी बड़ी भारी मूर्खता पर गुम-सुम हो जाती हो...... आकाश का यह वर्ण-परिवर्तन साधारण मनुष्यों के लिये कुछ भी नहीं था— केवल वही जो सदा होता आया है और होता रहेगा, परन्तु सरो, मेरे लिये तो प्रकृति के ये कौतुक महान् अर्थ रखते हैं........

प्रतीत होता है सरो, कि तुम अब और चिट्ठियाँ मुझे लिखना नहीं चाहतीं। कई दिन हो गये परन्तु तुमने चिट्ठी नहीं दी। कह दिया कि अवकाश नहीं मिला। तुम्हारा क्या, तुमने कह दिया, परन्तु कुछ हमारा भी विचार है? कुछ तो आजकल वैसे ही सर्दी अधिक है, उस पर तुम्हारी इस ठंडाई ने तो बिल्कुल ही जमा दिया है और हमारे हृदय महाराज ठंड से अकड़ गये हैं। उन्हें कोई उत्तेजक औषधि चाहिये और वह केवल तुम्हारे ही पास है। जब से तुमने चिट्ठी नहीं दी, कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है........

अरे हाँ सरो, देखो तो एक मज़ेदार बात! एक दिन ज्वर महाशय पूछने लगे, 'कहो भई, हम आ जायें।'

'बड़े शौक़ से, यदि हम ख़ाली हों', हमने कहा।

'ख़ाली तो हम करा लेंगे', उन्होंने कहा।

'प्रयत्न कर देखो', हमने उन्हें मार्ग बतलाया। परन्तु सरो मुझे तो उन बेचारों की दशा पर दया आती है। मुँह की खानी पड़ी उन्हें। हम तो ख़ाली थे नहीं। हम थे और हमारी सरो थी। वह तो हमसे दूर हो नहीं सकती थी और न

होगी— जब तक जीवित रहेंगे ; फिर औरों के लिये स्थान कहाँ ? कोई आए भी तो क्या और न आए तो क्या नहीं........

तुमने एक दिन लिखा था : 'बीमार क्यों पड़ते हो ? क्या अच्छा होता यदि तुम्हें मेरी भी उमर लग जाती !' परन्तु पगली, मुझे तुम्हारी बात पसन्द नहीं आई। भला यह कहाँ का न्याय है कि मैं सारा जीवन तुम्हारे बिना काटूँ ? अपने हृदय से पूछो, तुम मेरे बिना कितने दिन और मज़े से काट सकोगी, तब ऐसी बात कहना। देखो मेरा एक प्रस्ताव है, तुम्हारे प्रस्ताव से कहीं अच्छा : मैं भगवान को लिखूँ कि मेरी और तुम्हारी अवस्था जोड़ कर दो से भाग देकर बाँट दे। सीधा ही भाग तो है दो का। यदि भगवान ने मेरी भाँति साइन, कोसाइन, अल्फा, बीटा, गामा न भी पढ़े होंगे तो भी दो का पहाड़ा तो जानता ही होगा। यह तो 'ब' कक्षा में सिखाया जाता है। और हाँ, यदि भाग में एक त्रुटि कर दे तो बड़ा अच्छा रहे। तुम्हारा महेश घी कभी-कभी चार को दो से भाग देकर भागफल बीस निकलता है— दो दूना चार, आगे भाग नहीं जाता इसलिये बिन्दी !

.........अभी थोड़ी देर पहले तक रात्रि स्तब्ध थी। कहीं कोई शब्द नहीं था। यहाँ तक कि मेरे कमरे में सदा बोलते रहने वाले झींगे तथा कीड़े भी चुप हो गये थे। इस चुप्पी के वातावरण में मेरे साथ तुम थीं और मैं था ; मैं था और तुम थीं और कहीं कोई नहीं, कुछ नहीं ; परन्तु अब ऐसा लग रहा है मानो एकाएक शून्य से संसार में लौट आया हूँ। अब तक तो प्रतीत होता था कि तुम सशरीर मेरे साथ थीं परन्तु अब वह स्वप्न टूट गया है। तुम सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति बनी अपनी कोमल देह-लता को नर्म तथा स्पर्श-प्रिय शैय्या पर डाले सो रही होगी और मीठे सपने देख रही होगी, और मैं यहाँ.........

प्रातःकाल के पच बज चुके हैं। पड़ोसी जागने लगे हैं। किसी के घर में हाथ का नल ज़ोर से चलाया जा रहा है, कुत्तों का भूँकना बढ़ गया है। यदा-कदा कुक्कुट की बाँग भी सुनाई देने लगी है...... यह भी सम्भव है कि इस समय तुम उठ गई होगी और उन्निद्रता की मूर्ति बनी बैठी होगी— नयन अपने ही भार से झुके हुए, भवें किञ्चित उठी हुई, गला कुछ भारी-सा, बालों की कुछ चंचल लटें मस्तक तथा गालों को चूमती हुई, ग्रीवा एक ओर को कुछ झुकी हुई, साड़ी अस्त-व्यस्त, हाथ सुस्ती से गोद में पड़े हुए, 'मुझे क्यों तंग करते हो ?' की विशेष मुद्रा में....... मैं कवि होता तो तुम्हारी इस मुद्रा पर काव्य लिख देता। अरे हाँ सरो, तुम तो कविता भी करती हो ! ओह कितना सुन्दर लिखती हो तुम ! तुम्हारी कविता पढ़ते ही हमारे हृदय जी महाराज अपने साथ सम्बन्धित समस्त रक्त-नलिकाओं से सम्बन्ध-विच्छेद करके पसलियाँ तोड़, बनियान, कमीज़ और ऊनी जवाहर जाकेट फाड़ कर दम से बाहर निकल आये और सामने खड़े होकर मुँह चिढ़ाने लगे। परन्तु भई वे

मुँह नहीं चिढ़ा रहे थे, उनकी सूरत ही ऐसी है। अपनी ओर से तो वे हँस रहे थे, प्रसन्न हो रहे थे। परन्तु किया क्या जाय, जैसी हमारी सूरत वैसे हमारे हृदय की। एक कहानी है कि एक बार किसी आदमी से पूछा गया, 'भाई रोते क्यों हो?' उसने उत्तर दिया, 'जी रोता नहीं, मेरी सूरत ही ऐसी है।' .... सरो, तुमने तो मुझे एम० ई० एस० (मिलिटरी इन्जीनियरिंग सर्विस) का साहब ही बना दिया है। लिखती हो, 'तुमने मेरा प्रेम स्वीकार किया ....' जैसे कोई ठेकेदार साहब को लिखता है: 'श्रीमान् ने कृपा करके मेरा टैंडर स्वीकार कर लिया है। मैं कितना आभारी हूँ...... श्रीमान् के बच्चों को आशीष दूँगा ....' परन्तु हम भी उस साहब की ही भाँति कहते हैं (हटना घास वाली सामने से, हम अकड़ रहे हैं): 'भई हमारी कृपा क्या? हम तो तुमसे सबसे अधिक काम लेंगे और सबसे कम दाम देंगे। हमारा तो लाभ ही है। हमारा आभारी होना क्या? तुम्हारा न्यूनतम टैंडर था ....'

तुम कहती हो कि तुम सुन्दर नहीं। यही तो मैं भी कहता हूँ। सुन्दर तुम नहीं, परन्तु ये संसार के मनुष्य मूर्ख हैं। उनमें योग्य से योग्य भी तुम्हें अपने हृदय की रानी बना कर अपना जीवन धन्य समझेगा। और दूसरे ये दर्पण बनाने वाले भी बड़े पाजी हैं; शैतान हैं पूरे! भगवान इनसे समझे! मेरा दर्पण तो ऐसा बनाया कि सामने खड़ा होता हूँ तो प्रतीत होता है कि एक जला हुआ ठूँठ खड़ा है। नाक कहीं जा रही है, होंठ कहीं, आँखें जैसे हंडिया में टैंये (इमली के बीज) चिपका दिये हों, हाथ कहीं, पैर कहीं, सीधा-सादा व्यंग-चित्र, परन्तु भई इतना कहने की सुविधा तो मुझे दोगी कि मैं शिक्षार्थी का व्यंग-चित्र लगता हूँ, शंकर का नहीं। शंकर तो सूरत का बिल्कुल नाश करके रख देता है। और हाँ, तुम्हारा दर्पण तुमसे कहता है, '........तुम देवदूत के समान लम्बी हो। तुम्हारी आँखें तुम्हारे मुखड़े का गौरव हैं जो किसी को भी सदा के लिये अपने एक ही दृष्टि-निपात से मोह-निद्रा में सुला देने में समर्थ हैं। मेरी देखी हुई सुन्दरियों में तुम सर्वश्रेष्ठ हो— केवल शारीरिक सौन्दर्य में ही नहीं बल्कि सब प्रकार से। मुस्कराते समय तुम्हारे नयनों की ज्योति अद्वितीय होती है। तुम मुस्कराती हो तो फूल खिल जाते हैं। तुम्हारे रस-भरे उत्पल-वर्ण ओष्ठ देख कर भ्रमरों तक को मधु-भरे पुष्प का भ्रम हो जाता है...... तुम्हारे सहवास में कुछ क्षण बिताना भी महान् गौरव की बात है......'

राम! राम! सरो, आज बहुत बकवास कर डाली है। तुम निश्चय ही मुझसे रुष्ट हो जाओगी। परन्तु मैं क्या करूँ? जब तुम्हें लिखने बैठता हूँ तो और किसी बात का ध्यान ही नहीं रहता। देखो सारी रात आँखों में ही काट दी है। अब

२१

कजरी का विवाह लखौंड में निश्चित हो चुका था। यद्यपि तब तक तारीख़ के विषय में वे लोग किसी निश्चय पर नहीं पहुँचे थे फिर भी शंकर को आशा थी कि फागुन (फ़र्वरी-मार्च) में वह कजरी का विवाह कर ही देगा। पहले रुपयों की चिन्ता थी, अब ग्रामपति के आश्वासन से वह दूर हो गई थी। वैसे भी ग्रामपति महोदय लगभग प्रति वर्ष अपनी ग़रीब प्रजा की एक-आध पुत्री का विवाह अच्छी सहायता देकर सम्पन्न कराते थे। कभी बारातियों को खाना दे दिया, कभी लड़की के कपड़े और एक-आध आभूषण बनवा दिये। ग्रामपति की सहायता के बिना शंकर अवश्य सोच में पड़ जाता क्योंकि एक तो शंकर के पास अधिक पैसा था नहीं और जो कुछ आता भी था, उसका अधिकांश, कजरी के प्रतिबन्ध लगाने पर भी, बारी वाले की काठ की सन्दूकची में चला जाता था। इसके अतिरिक्त, यद्यपि शंकर धर्मपरायण और सीधा था, उसके रुपया लेकर मार जाने की आशंका नहीं थी, फिर भी कौन उसे रुपया उधार देता ? हाँ वैसे शंकर की जो थोड़ी बहुत भूमि थी उस पर बहुत लोग दाँत जमाए बैठे थे और भूमि गिरवी रख कर, 'जैसी शंकर की बेटी वैसी अपनी बेटी— गाँव का मामला है। एक आदमी की बेटी तो गाँव की बेटी'— इस गाँव की बेटी के विवाह में सहायता करने के लिये सहर्ष तैयार थे, परन्तु इस भूमि का शंकर को ऐसा मोह था कि वह किसी भी भाँति इसे गिरवी रखने अथवा बेचने को तैयार नहीं था और वैसे कोई देना नहीं चाहता था। ख़ैर, अब तो इस बात का प्रश्न ही नहीं उठता था। अब शंकर को यदि किसी की चिन्ता थी तो अपनी रोटियों की और सुखवा की। अपनी रोटी को भी वह यह सोच कर बैठ गया था कि अब बुढ़ापे में जब भाग में रोटियाँ थेपनी बदी थीं तो थेपेगा, परन्तु 'यह जो बन्दर पीछे लग गया है', शंकर सोचता, 'इसे कौन संभालेगा ? यह तो कजरी को छोड़ कर किसी के वश में आता ही नहीं। सारे गाँव में उपद्दर मचाता फिरता है। किस-किस के उलाहने सुनूँगा ?' परन्तु फिर उसने सोचा कि अभी विवाह हो जाने दो, गौना फिर हो जायगा। तब तक तो काम ठीक चलता रहेगा, फिर की फिर देखी जायगी। ऐसी निश्चिन्तता में शराब

छोड़ने की उसे कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी और शराब पीने के नाटक के सारे अंक तथा दृश्य अपनी सदा की सजधज से दुहराए जाते थे। अब कजरी ने भी उसके रोग को असाध्य समझ कर बहुत कुछ निराशा-मिश्रित चुप्पी धारण कर ली थी। उसके जी में यही इच्छा उठती थी कि बारी में आग लगा दे किसी दिन।

कला चाची अपने स्वभाव से लाचार थी। इधर लगाना, उधर बुझाना, उसका दैनिक कार्य था। अपनी पोती को कोसना भी निर्बाध गति से चलता जा रहा था, परन्तु वह तभी से उसके विवाह के विषय में चिन्तित रहने लगी थी। वह किसी अच्छे लड़के की खोज में थी। इस ध्येय की पूर्ति के लिये वह नीचता से भी नहीं हटती थी। किसी लड़की का नाता किसी अच्छी जगह होता तो वह उसमें भाँजी मारने में नहीं चूकती थी। अन्तर में यह आशा रहती कि शायद वह लड़का उसकी पोती के लिये मिल जाय। उसके स्वभाव से ग्रामवासी दुखी थे फिर भी एक प्रकार का जो सहज लोक-दिखावा गाँवों में रहता है उसके कारण लोग सामने उसका अपमान नहीं करते थे। हाँ गाँव की वृद्धाएँ परस्पर वार्तालाप करते समय कला चाची को 'अपने बाप की जोरू' के नाम से याद करती थीं और उनका विचार था कि 'कला का मारा हुआ पानी भी नहीं माँगता' आदि। ऐसा नहीं कि कला चाची अपनी अवस्था और अपने स्थान से अनभिज्ञ अथवा उदासीन थी, परन्तु वह अकेले में अपने आप को यह कह कर समझाती थी : 'यह सब क्या मैं अपने लिये कर रही हूँ ? यह जो मृत पुत्र की धरोहर है, इसका जीवन सुख से बीते, यही मेरी इच्छा है।' और सम्भव है कि उसके स्वभाव की कुछ बातों का आरम्भ इसी लक्ष्य को लेकर हुआ हो परन्तु अब तो यह कला चाची का स्वभाव बन गया था जिसे छुड़ाना किसी अन्य व्यक्ति अथवा स्वयं चाची के वश से बाहर हो गया था।

चन्द्रमोहन और रूपराम चुपचाप पड़े थे। तब अखाड़ा ही उनके मनोविनोद का आश्रय रह गया था— यद्यपि साधारणतः ग्रामीण युवकों को अपने घरेलू तथा बाहरी कार्यों से ही इतना अवकाश नहीं मिलता कि वे मनोविनोद खोजने जाएँ। हाँ कभी-कभी दोनों एकान्त में उसी साल के पेड़ के नीचे संध्या को मिलते थे। कभी-कभी चन्द्रमोहन शहर जाता था और वहाँ के समाचार रूपराम को बतलाता रहता था। उदाहरण के लिये चन्द्रमोहन ने बतलाया कि जिस कार में रूपराम और दलीप अजबपुर गये थे उसका नम्बर पुलिस के किसी उच्च अधिकारी की गाड़ी का था और उस गाड़ी तथा उसके सवारों का अभी तक पुलिस पता नहीं चला सकी है। उनके दल के आदमियों ने दो-तीन अंग्रेज़ों को गोली मार दी थी। चक्रौता रोड पर दो फ़ौजी लॉरियों को आग लगा दी गई थी। कई गोरे चमड़े वाली औरतों का पता नहीं था। आदि ......

साधारण रूप से गाँव का कार्य नियमित रूप से चल रहा था। वैसे तो इतनी जनसंख्या वाले गाँव में नित्य ही कुछ न कुछ होता रहता था, जैसे किसी के घर बच्चा पैदा हुआ तो किसी का बूढ़ा मर गया, अमुक की बहू घर आई तो अमुक की बेटी ससुराल गई। नत्थू का बैल अड़गड़े में चला गया तो फत्तू की भैंस को साँप सूँघ गया, परन्तु वैसे कोई उल्लेखनीय बात नहीं हुई।

इस प्रकार दिसम्बर, जनवरी और फ़र्वरी का आधा मास भी व्यतीत हो गया।

११

फ़र्वरी के तृतीय सप्ताह के अन्त में प्रयोग की परीक्षाएँ होने की सूचना ने बी० एस-सी० के छात्रों में वह कार्य किया जो सोती हुई सेना में शत्रु का एक गोला करता है। छात्रों में खलबली मच गई। तब तक वदन्ताओं का बाज़ार गर्म था। बहुत-से छात्र इन्हीं वदन्ताओं के आधार पर यह आशा लगाए बैठे थे कि कदाचित् परीक्षाएँ पीछे हटेंगी, परन्तु इस समाचार से सबके हाथ-पैर फूल गये। रसायन में गुणात्मक विश्लेषण का चार्ट याद नहीं था, परिमाणात्मक विश्लेषण का अभ्यास नहीं था। ऑर्गैनिक (Organic Chemistry) में कुछ पता ही नहीं था कि किस प्रकार आरम्भ किया जाय। भौतिक विज्ञान में थियरी याद नहीं थी। विस्कॉसिटी (Viscosity) के साधारण प्रयोग तक नहीं कर पाते थे। बनस्पति-शास्त्र वालों से कत्तल (Sections) नहीं कटते थे; पतला काटते थे तो पूरा नहीं कटता था और पूरा काटते तो इतना मोटा हो जाता कि अनुवीक्षण-यंत्र में कुछ दिखाई नहीं देता था; कत्तल को रंगने (Staining) का अभ्यास नहीं था। जड़ को तने से पहिचानने में कठिनाई पड़ती थी। प्राणि-शास्त्र में केंचुए और मेंढक की अंतड़ियों के आड़े कत्तलों की स्लाइड पहिचानना कठिन था। शल्य-कार्य (चीर-फाड़) में जिस रक्त-प्रणाली को सावधानी से बचाना चाहते थे, अद-बद कर वही कटती थी और सारी 'डिश' रक्त से भर जाती थी। विभिन्न प्रयोगों में ये सब चीज़ें कितनी महत्त्व की हैं और इनके बिना प्रयोग करने का विचार करना कैसी हास्यास्पद बात है, यह वे ही समझ सकते हैं जिन्हें विज्ञान के प्रयोगों का कुछ अनुभव है।

रमेश भी परीक्षा के समाचार से घबरा गया। वह बड़ा परिश्रमी था। यही उसकी सफलता की कुञ्जी थी। परन्तु उस वर्ष तो परिश्रम करने का अवसर ही नहीं आया था। जुलाई खेलने-कूदने में कट गया, अगस्त आते ही बीमार पड़ गया, अच्छे होने को हुए तो कॉलेज बन्द, और फिर उसके जीवन में सरोज आ गई। सरो के साथ पढ़ना-लिखना सब भूल गया। इसके अतिरिक्त परिश्रम करने के लिये रमेश को सदा ही एक साथी अपेक्षाकृत आवश्यक रहता था। अकेले वह नहीं पढ़ पाता था। उसका साथी पता नहीं कहाँ चल दिया था। जब फिर कॉलेज खुला तो कुछ तो वातावरण ऐसा था कि पढ़ना-लिखना अच्छा नहीं लगता था और कुछ उसने

अपने स्वभाव के विपरीत वदन्ताओं के आधार पर यह सोचा कि परीक्षा तो स्थगित होनी ही है, पढ़ लेंगे, जल्दी क्या है ; और बैठा रहा । परन्तु जब परीक्षा सिर पर आ गई तो बौखला गया और हाथ-पाँव फूल गये । जिस विषय को भी लेकर बैठता वही अछूता लगता । रसायन लेकर बैठता तो भौतिक-शास्त्र के विचार आते और भौतिक-शास्त्र पढ़ने लगता तो गणित का ध्यान चैन नहीं लेने देता । इस प्रकार वह पढ़ने का प्रयत्न करता, परन्तु घबराहट और एकाग्रता में बैर है ।

बिल्ली को झपटते देखकर कबूतर डर से आँखें बन्द कर लेता है, परन्तु उससे बिल्ली रुकती नहीं । आख़िर परीक्षा का दिन आ ही पहुँचा । पहले दो दिन रसायन का प्रयोग था । रमेश को अपने पास होने की बिल्कुल आशा नहीं थी । घबराहट का जो अनिवार्य फल होता है वही हुआ । भारात्माक (Gravimetric) विश्लेषण के लिये जब आधा कार्य समाप्त हो चुका तो बीकर हाथ से छूट कर गिर पड़ा । चीनी की प्याली (Crucible) का भार ठीक करने के लिये कई बार गर्म तथा ठंडा करने में उसका ढकना टूट गया । इनॉर्गैनिक गुणात्मक विश्लेषण (Inorganic Qualitative Analysis) में यौगिकों के मिश्रण को आरम्भ से अन्त तक कर गया, परन्तु न एक भी क्षारीय भाग (Basic radical) मिला और न अम्लीय (Acid radical) । जिस परीक्षार्थी का आधे से अधिक कार्य इस प्रकार बिगड़ जाय, उससे संयत रहने की आशा करना व्यर्थ है । निराशा, दुःख तथा क्रोध की चरम सीमा में रमेश ने शेष सामान पटक दिया और प्रयोगशाला से बाहर निकल गया ।

उसकी परीक्षा— परीक्षा ही नहीं, सारा पढ़ना-लिखना, आशाएँ, आकांक्षाएँ, स्वप्न— सब समाप्त हो गये । अनुत्तीर्ण होना अपनी समस्त विभीषिकाओं के साथ उसके सम्मुख आकर खड़ा हो गया । घर का द्वार भी उसके लिये बन्द हो चुका था— किसी और ने बन्द नहीं किया था, वह स्वयं ही घर नहीं जा सकता था । जो कभी अनुत्तीर्ण नहीं हुआ है अथवा जो कक्षा 'अ' से अनुत्तीर्ण होता-होता अब उसका आदी हो गया है, वह इस बात को नहीं समझ सकता कि सदा पास होते रह कर अन्त में उस परीक्षा में अनुत्तीर्ण होना जिस पर उसका भविष्य अवलम्बित हो— क्या अर्थ रखता है । रमेश अपने ग़रीब माता-पिता को क्या मुँह दिखलाए ! वे बेचारे पता नहीं किस भाँति अपना पेट काट कर उसकी पढ़ाई के लिये और बच्चों की प्रारम्भिक तथा आवश्यक शिक्षा का भी ध्यान छोड़ कर उसे पढ़ा रहे थे और वह फ़ेल हो गया था ! 'नहीं, घर तो मैं नहीं जा सकता', रमेश ने निश्चय किया । वह कॉलेज से निकल कर शाम तक इधर-उधर अकेला सड़कों और उद्यानों में घूमता फिरा । कभी पेड़ के नीचे बैठ जाता, कभी बेञ्च पर लेट जाता । उस समय उसके मस्तिष्क से लगभग सब विचार निकल चुके थे या कहा जाय कि अचेतन मस्तिष्क में चले गये थे । केवल एक विचार चेतन मस्तिष्क में था : किसी भाँति जल्दी से जल्दी

घर से, नगर से दूर निकल जाय। परन्तु कहाँ जाय और कैसे जाय ?— यह प्रश्न सामने था। ग़रीब घर के लड़कों की जेब में प्रथम तो पैसे होते नहीं और यदि होते भी हैं तो इतने नहीं कि मन में आते ही कहीं भी चल दें। उसकी जेब में एक रुपया कुछ आने पड़े थे। कपड़े भी यथेष्ट नहीं थे। एक कमीज़, पतलून और कोट उसके शरीर पर थे। परन्तु वह इन चिन्ताओं में नहीं फँसा। संध्या होने पर स्टेशन गया और एक आने का प्लेटफ़ॉर्म टिकट लेकर अन्दर चला गया। वह प्लेटफ़ॉर्म पर घूमता रहा। उसकी आँखों के आगे अपने दुःखी माता, पिता, भाई, बहिन का चित्र आया। वे सब उसे वापस बुलाते प्रतीत हुए। उसने अनुभव किया कि वह उन लोगों को छोड़ कर नहीं जा सकता। सरोज भी फूल की भाँति खिली हुई उसके मानस-चक्षुओं के आगे उपस्थित हो गई। फिर उसने देखा कि उसके घर से भागने का समाचार पाकर उसका खिला मुखड़ा एकदम मुर्झा गया। उसने सोचा घर लौट जाय, परन्तु फिर यह ध्यान आया कि उसके फ़ेल होने से उसके घर वाले तो दुःखी होंगे ही, उन्हें दोहरी हानि— पुत्र और धन— उठानी पड़ेगी, परन्तु सरोज भी दुःखी होगी। और कदाचित् इससे सरोज के हृदय में उसके प्रति कुछ भी मान, स्नेह, प्रेम न रह जाय। यह रमेश सहन नहीं कर सकेगा। परन्तु भाग जाने से भी तो वह उसे कायर समझेगी··· अजी समझा करे, वह देखने-सुनने तो नहीं आएगा। पीठ-पीछे तो लोग राजा को भी गाली दे देते हैं। इस समय यह विचार तथा विश्वास लेकर जाना कि सरो उससे प्रेम करती है, क्या इसकी अपेक्षा ठीक न होगा कि उसके पास जाकर आमने-सामने खड़े होकर उसकी गहन आँखों में निरादर तथा घृणा देखे ? यह मूर्ख का स्वर्ग सही परन्तु वह तो उसी स्वर्ग में रहना पसन्द करेगा जिसमें यह विश्वास है कि वह सरो का है और सरो उसकी है। 'नहीं, वह घर नहीं लौटेगा।' उसने फिर निश्चय किया और किसी गाड़ी की प्रतीक्षा करने लगा।

देहरा एक्सप्रेस आई। उसने एक तीसरे दर्जे के डिब्बे में घुसने का प्रयत्न किया परन्तु भीड़ के कारण असफल रहा। उसे जाना अवश्य था, वह रुक नहीं सकता था। वह एक ड्योढ़े दर्जे के डिब्बे में बैठ गया और थोड़ी देर पश्चात् गाड़ी सैंकड़ों दुःखी-सुखी मनुष्यों के बोझ को लेकर अन्धकार को चीरती हुई आगे बढ़ने लगी।

१३

गाड़ी की बढ़ती हुई चाल के साथ साथ रमेश ने अनुभव किया कि उसे भूख लगी हुई थी और वह उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। रास्ते में कोई बड़ा स्टेशन आया। वहाँ उसने दो प्याले चाय के साथ दो एक टोस्ट गले के नीचे उतारे और फिर गाड़ी में बैठ गया। थोड़ी देर बाद उसे नींद आने लगी। उसने बेंच की पीठ पर अपनी बाँह रक्खी और बाँह पर सिर रख कर आँखें बन्द कर लीं और थोड़ी ही देर में सो गया। उसकी नींद स्वस्थ किसी भाँति नहीं कही जा सकती। बीच बीच में वह चौंक कर उठ बैठता था। बीच में क्या हुआ क्या नहीं— यह सब उसे कुछ पता नहीं चला। बीच में टिकट-चैकर एक बार आया भी था परन्तु उसे सोता देख और धीरे से हिलाने में उसकी नींद टूटते न देख चला गया था। रमेश का मुख यद्यपि उतरा हुआ था और उस पर अत्यधिक चिन्ता तथा सोच-विचार के चिह्न थे फिर भी देखने में वह सभ्य तथा सुशिक्षित प्रतीत होता था। इसलिये वह रेल के बाबू की अनावश्यक प्रश्नावली से उस समय के लिये बच गया।

हरिद्वार के पास किसी के झकझोरने से रमेश की नींद खुल गई। उस समय सूर्य निकल ही रहा था। हवा में ठण्डक तथा तरी थी। वह चौंक कर उठ बैठा। पहले वह समझ न सका कि वह क्यों उठा और किसने उसे झकोरा, परन्तु सामने काले कपड़े पहने हुए बाबू को देख कर वह समझा।

'आपका टिकट ?' बाबू ने पूछा।

'टिकट नहीं है।'

'क्या मतलब ?'

'मतलब तो बिल्कुल साफ़ है। पैसे नहीं थे इसलिये ख़रीद नहीं सका।'

'तो गाड़ी में क्यों चढ़े ?'

'क्योंकि चढ़ना अत्यन्त आवश्यक था।' रमेश ने कहा।

इसके पश्चात् दोनों में काफ़ी लम्बा तर्क-वितर्क चला जिसका अन्तिम फल यह हुआ कि रमेश हरिद्वार में उतार दिया गया। रमेश ने अपने भाग्य को सराहा कि चलो किसी रद्दी से छोटे स्टेशन पर न उतारा जाकर हरिद्वार में उतारा गया।

रमेश सीधा हर की पैड़ी पर पहुँचा। ठंडी हवा और ठंडा पानी होते हुए भी उसने पास ही के एक पंडे की छतरी के नीचे कपड़े रख कर गंगाजल में डुबकियाँ लगाईं। बाहर निकल कर कपड़े पहिने, कच्छा निचोड़ कर कन्धे पर डाला, पंडे से रक्त, पीत तथा श्वेत चन्दन का तिलक लगवा कर उसे एक आना दिया और बाज़ार चला गया। उसकी भूख और उसके पैसे दोनों विपरीत अनुपात में थे। जितनी तेज़ उसे भूख थी उतने ही कम पैसे थे, फल यह हुआ कि सन्ध्या तक उसकी जेब में न पैसे थे और न शहर में ठहरने के लिये स्थान। अकेले तथा बिना सामान के उसे किसी धर्मशाला में भी स्थान नहीं मिला। रात उसने प्लेटफ़ार्म पर सर्दी में दाँत बजा कर बिताई। सवेरा होते ही उसे खाने और रहने की चिन्ता ने फिर घेरा। परन्तु तब तक उसने स्वाभिमान को धूल में मिला देने योग्य ठोकरें नहीं खाई थीं। माँगना उसके वश का नहीं था। हरिद्वार में भी बड़ी बड़ी दूकानें हैं, दफ़्तर हैं और आदमी हैं परन्तु रमेश पता नहीं क्या सोच कर पैदल ही देहरादून की ओर चल पड़ा। उस दिन वर्षा नहीं थी, किन्तु आकाश पर बादल छाये हुए थे। रमेश को भूख लग रही थी पर कोई चारा नहीं था। शाम तक वह हरिद्वार से चल कर अट्ठाईस मील की दूरी पर बसे हुए डोईवाला गाँव में पहुँच गया। सड़क के किनारे थोड़ी बहुत दूकानें थीं परन्तु कुछ ख़रीदने के लिये उसके पास पैसे नहीं थे। खाना खाए— बल्कि कुछ भी खाए— उसे चौबीस घंटे हो चुके थे। वह रात भी उसने पेट पर पट्टी बाँध कर डोईवाला स्टेशन की बेञ्च पर बिताई। सवेरा होने पर यद्यपि भूख के मारे उसका बुरा हाल था फिर भी उसने सोचा कि किसी प्रकार देहरादून तक के बारह मील तय करके वहाँ पहुँच जाय फिर तो उतने बड़े नगर में अवश्य ही कुछ प्रबन्ध हो जायगा। दोपहर तक वह गिरता पड़ता, दो मील प्रति घंटा की चाल से चल कर देहरादून पहुँच गया, परन्तु देहरादून भी हरिद्वार और डोईवाले से अच्छा सिद्ध नहीं हुआ। लड़ाई के दिनों में लोगों के पास पैसा पहले से अधिक हो गया था लेकिन हृदय संकीर्ण हो गया था। सीधा और सस्ता बहाना था: 'अरे आजकल अपना ही पेट नहीं भरता, किसी और को कहाँ से दें!'

रमेश भीख नहीं माँगता था, वह कुछ काम चाहता था। वह मेहनत करके खाना चाहता था। माँगना उसके रुधिर में नहीं था और न वह माँगना जानता था, परन्तु उसके गन्दे कपड़े, बढ़ी हुई दाढ़ी और भूखा चेहरा उसे कहीं जमने नहीं देते थे। उसने कई जगह काम के लिये पूछा परन्तु हर बार यही उत्तर मिला, 'हमें आदमी की आवश्यकता नहीं है।'

रमेश के लिये नौकरी के लिये मारे मारे फिरने का यह प्रथम अवसर था। यह भी सम्भव है कि भूख की अन्धाधुन्धी में उसने ऐसे ही स्थानों पर नौकरी के लिये पूछा हो जहाँ वास्तव में आवश्यकता न रही हो या मालिकों ने उसके फटे हाल से

शंकित होकर दुत्कार दिया हो। जो हो, रमेश को देहरादून से भी घृणा हो गई। इतनी आशा के पश्चात् देहरादून में जो निराशा उसे मिली थी उसके कारण वहाँ एक क्षण भी अधिक ठहरना उसके लिये सम्भव नहीं था। उसने सोचा कि नगर तो देख लिये, अब गाँव भी देखूँ और यदि गाँवों में भी यही व्यवहार मिला तो....... तो....... रमेश के हाथों की मुट्ठियाँ बँध गईं और जबड़े कस कर बैठ गये। परन्तु देहरादून नगर उसके लिये नया था इसलिये उसके गाँवों तथा उनके मार्गों के विषय में उसका कोरा होना स्वाभाविक था। केवल एक सड़क सीधी थी और वह थी राजपुर रोड। यदि कोई देहरादून रेल के स्टेशन के पास के मोटर-अड्डे से नाक की सीध में एक सड़क पर चलता चला जाय तो वह राजपुर और फिर मसूरी पहुँच सकता है। रमेश ने भी राजपुर रोड पकड़ी।

मार्ग में रमेश को जारवन और किशनपुर नाम के ग्राम मिले। परन्तु पक्की सड़कों के एकदम किनारे के गाँवों के निवासी शहरी तथा ग्रामीण प्रकृतियों के अनोखे मिश्रण होते हैं। एक ओर तो वे ग्रामवासियों की भाँति सरल होते हैं और दूसरी ओर चालाकी में शहरियों के भी कान काटते हैं। रमेश अपनी दशा से उन्हें द्रवित नहीं कर सका। किसी किसी दूकानदार ने उसे एक आध मुट्ठी भुने चने देने चाहे परन्तु उतनी भूख में भी रमेश उपेक्षाभरे चनों की मुट्ठी का दान न ले सका। वह घृणा से मुँह बिचका कर आगे बढ़ गया। किशनपुर से आगे चल कर उसने बाएँ हाथ को कुछ दूरी पर गाँव देखे। वह उस नई बनती हुई सड़क पर चल पड़ा।

सड़क पर कुछ दूर चल कर रमेश बैठ गया। उसकी टाँगें जवाब दे रही थीं और आँखों के आगे तितलियाँ उड़ रही थीं। थोड़ी देर सुस्ता कर उसने इधर उधर दृष्टि दौड़ाई। कुछ दूरी पर उसे एक खूब बड़ा सा, अकेला सफ़ेद मकान दिखाई पड़ा; परन्तु रमेश की घबराहट कम नहीं हुई। तीसरे पहर सूर्य निकल आया था और उस समय पश्चिम की पहाड़ियों के पीछे शीघ्रता से लोप होने की तैयारी कर रहा था। रमेश के हृदय में यह विचार भली भाँति घर कर गया कि यदि उस रात उसे खाना और ठहरने का स्थान नहीं मिलेगा तो वह अवश्य मर जायगा। भूख तो थी ही, खाना खाए अड़तालीस घंटे हो चुके थे। भूख के मारे पेट में दर्द होना भी आरम्भ हो गया था। वह चलने का आदी नहीं था, फिर पहाड़ी प्रदेश में उतना चलना! उन दो दिनों में ही वह पचास मील से ऊपर चल चुका था। उसकी टाँगें फोड़े की भाँति दुख रही थीं। जूते ने भी पैर में काट खाया था। इसके अतिरिक्त मैदान की गर्मी के निवासी रमेश को पहाड़ियों के बीच बसे देहरादून की बढ़ती हुई ठंड से घबराहट हो रही थी। अभी संध्या ही थी फिर भी रमेश के दाँत किटकिटाने लगे थे। भूख से यदि बच भी गया तो ठंड से अकड़ कर मर जाऊँगा— यह

विचार उसे हो रहा था। रमेश ने उस बड़े घर पर फिर अपनी दृष्टि जमाई और उसी ओर भारी पैरों से चल पड़ा।

ज्यों ज्यों वह उस घर के पास पहुँचा, त्यों त्यों वहाँ से आते हुए विभिन्न स्वर उसके पास विचित्र शोर के रूप में पहुँचने लगे। और पास पहुँचने पर उसमें आते जाते आदमी भी दिखाई देने लगे। रमेश गिरता पड़ता केवल यह जानने के लिये उस घर तक पहुँचा कि वह घर किसी सम्भ्रान्त ग्रामीण का नहीं था जिसमें एक बार का खाना और रात भर के विश्राम की आशा की जा सकती थी, बल्कि कई गाँवों के शराबियों का क्रीड़ा-स्थल था। चरम निराशा ने रमेश को घेर लिया। उसकी टाँगें काँपी, आँखों के आगे अन्धेरा छाया और वह धड़ाम से वहीं गिर पड़ा।

* * * * *

रमेश को गिरते हुए सबसे पहले शंकर ने देखा। उस दिन शंकर सदा की भाँति दृढ़ तथा निश्चित पगों से बारी में नहीं जा रहा था बल्कि कुछ सोचता जाता था। सुखवा के पास कुर्ता नहीं रहा था और कजरी की ओढ़नी चीर चीर हो गई थी। वे दोनों अपने अपने कपड़ों के लिये हठ कर रहे थे। शंकर के पास पैसे नहीं थे। जो कुछ थोड़े बहुत थे भी वे उसकी एक दिन की दारू के लिये भी यथेष्ट नहीं थे। और फिर कजरी की दृष्टि उन पर पड़ गई थी। वह उन पैसों से सुखवा के कुर्ते का कपड़ा मंगाना चाहती थी। और शंकर वे पैसे देना नहीं चाहता था। कजरी जानती थी कि शंकर किस लिये पैसे बचा रहा था। इसी बात को लेकर बाप बेटी में कुछ कहासुनी भी हो गई थी। कजरी गुमसुम हो कर पड़ रही थी और रोने लगी थी। सुखवा बहिन की सहायता में कुछ बोला ही था कि शंकर ने तड़ातड़ दो चाँटे उसके जड़ दिये। सुखवा बिलबिलाता हुआ अन्दर भागा और कजरी के पास ही लेटकर बिलखने लगा ; और शंकर ? वह बारी की ओर चल दिया।

शंकर घर से चला था क्रोध में परन्तु घर से बारी तक का मार्ग तय करने में उसका मस्तिष्क बहुत कुछ ठिकाने पर आ गया था। उसने अनुभव किया कि इस प्रकार सब को रुला कर आना अच्छा नहीं हुआ। बीच बीच में वह सोचता जाता कि उसे लौट जाना चाहिये। कभी उसे यह भी विचार आता कि कजरी पता नहीं कितने दिन और उसके यहाँ है, क्यों उसे दुःखी किया जाय। अब उसके विवाह की भी तो चिन्ता करनी पड़ेगी··· । इसी अनिश्चितता की अवस्था में वह कोरे अभ्यासवश मन की हाँ और ना के बीच झूलता हुआ बारी के पास पहुँचा ही था कि उसने एक भले चंगे मनुष्य को सहसा भूमि पर गिरते देखा। उसने स्वभावतः कह दिया 'संभल के भैय्या'। परन्तु वह भैय्या तो ऐसा गिरा कि उठने का नाम ही नहीं लिया। बारी के अधिकांश व्यक्ति या तो अन्दर पीने में लगे थे या नशे में मस्त थे। किसी ने भी रमेश की चिन्ता नहीं की। पहले तो शंकर ने सोचा कि कोई शराबी बहुत पी कर उलटा हो

गया होगा लेकिन पास आने पर उसका भ्रम दूर हो गया। एक तो युवक, दूसरे यद्यपि उसके कपड़े गन्दे थे फिर भी ढंग के थे जैसे गाँव के ज़मींदार के लड़के को छोड़ कर गाँव के विरले ही लड़के पहनते थे, तीसरे वह युवक शंकर ने पहले कभी नहीं देखा था।

शंकर ने पास जा कर रमेश को हिलाया। रमेश ने आँखें खोल दीं और पानी माँगा। शंकर का रहा सहा सन्देह भी दूर हो गया। शराबी इतनी जल्दी पानी नहीं माँगता और फिर उसके मुँह से शराब की दुर्गन्ध भी नहीं आरही थी— यद्यपि शंकर के लिये शराब की दुर्गन्ध, दुर्गन्ध नहीं थी, फिर भी उस 'गन्ध विशेष' को तो वह सैकड़ों प्रकार की गन्ध में से पहिचान सकता था। शंकर दौड़ कर बारी के अन्दर गया और एक आदमी के हाथ पानी लाया। उस आदमी ने रमेश को पानी पिलाया। पानी पी कर वह कुछ स्वस्थ हुआ। पानी की ठंडक भरी ताज़गी से उसने कुछ स्फूर्ति अनुभव की, यद्यपि ठंडा पानी उसके खाली पेट में तीर की भाँति लगा। वह सीधा होकर बैठ गया। शंकर ने पूछा, 'तुम कौन हो भाई ?'

'मैं ?' रमेश ने कहा परन्तु इससे आगे वह कुछ बोल न सका। वह क्या कह कर अपना परिचय देता ? जो कुछ वह उस समय था वह तो साफ़ दिखाई दे रहा था।

'कहाँ से आए हो ?'

'परदेसी यात्री हूँ।' रमेश ने किसी प्रकार कहा।

'कहाँ जा रहे थे ?'

'जहाँ तक पैर ले जाते।'

'अजीब लड़का है' शंकर ने सोचा, फिर पूछा, 'किसके पास जाना है ? कौन से गाँव जा रहे हो ? किसी को तो जानते होगे ?'

'मैं किसी को नहीं जानता। मुझे बहुत ज़ोर से भूख लगी है। मुझे खाना खाए आज तीसरा दिन है।'

'लेकिन इस जगह खाने को क्या धरा है भैय्या। गाँव में चलो तो कुछ करेंगे।'

'गाँव कितनी दूर है ?' रमेश ने पूछा।

'पास ही है' कह कर शंकर ने आम के बाग़ीचे के बीच से झाँकते हुए इक्के-दुक्के मकानों की ओर उंगली से दिखाया।

रमेश गाँव तक पहुँचने में अपनी असमर्थता अनुभव कर रहा था किन्तु भोजन मिलने की आशा ने उसमें नई शक्ति भर दी। वह शंकर का सहारा ले कर उठा और उसी के सहारे गाँव की ओर धीरे-धीरे चलने लगा। शंकर उस समय अपनी

दारू की हुड़क भी भूल गया था। मार्ग में उसने अपने साथ के युवक के विषय में एक-आध बात ज्ञात करनी चाही परन्तु उसे बड़ा हठी और चुप्पी पाया। हार कर शंकर भी चुप हो रहा और दोनों चुपचाप चलते रहे। रमेश इतनी निर्बलता अनुभव कर रहा था कि दोनों को कई बार ठहरना पड़ा। रमेश को दोहरी निर्बलता थी: शुद्ध शारीरिक तथा मानसिक। पिछले दिनों सोच सोच कर उसने अपनी दशा हीन से हीनतर बना ली थी।

गाँव में घुसते ही चमारों के घर थे। उनमें से ही एक घर में रमेश को ले जा कर शंकर ने जब बतलाया कि वह उसका घर है तो रमेश जैसे अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया। वह धम् से भूमि पर बैठ गया और उठने से हठपूर्वक मना कर दिया। उस समय भूख के मारे उसका ज्ञान, आत्म-सम्मान— सब लुप्त हो गये थे। उसकी एक ही रट थी, 'मुझे भूख लगी है।'

शंकर बड़े असमंजस में पड़ा। वह युवक देखने से तो निश्चय ही सवर्ण हिन्दू प्रतीत होता था। कुछ देर सोच विचार कर शंकर ने कहा, 'भाई तुम्हें भूख तो लगी होगी पर तुम मेरे यहाँ कैसे खा पी सकते हो?'

'क्यों, यहाँ खाने में क्या हुआ?'

'मैं····· मैं तो चमार हूँ।' शंकर ने बड़े कष्ट से कहा। उस दिन उसे अपने चमार होने का वास्तव में बड़ा दुःख हुआ।

'तो क्या हुआ?' रमेश ने उद्धतता-पूर्ण शीघ्रता से कहा, 'मुझे ब्राह्मण, चमार नहीं, रोटी खानी है।'

शंकर इस अप्रत्याशित उत्तर से एक बार कुछ अप्रतिभ हो गया। परन्तु फिर निश्चय करने के लिये पूछा, 'तुम कौन भाई हो?'

'जात पाँत से क्या मतलब? यदि रोटी दे सकते हो तो जात पाँत मत पूछो, न दे सकते हो तो दूसरी बात है; तब भी मैं भूख के मारे यहाँ से हिल नहीं सकता।'

शंकर ने मन में सोचा: मैं तो जान बूझ कर किसी की जाति लेना नहीं चाहता। मैंने अपनी ओर से तो कुछ छिपाया नहीं; जब यह लड़का आप ही खाने पर उतारू है तो मैं क्या कर सकता हूँ······।

शंकर पहली कहासुनी भूल कर कजरी को पुकारता हुआ अन्दर घुस गया।

कजरी को आश्चर्य हुआ कि उस दिन उसका बाबा इतनी जल्दी और बिना पिए कैसे चला आया। फिर भी वह थोड़ी देर मान किये पड़ी रही। परन्तु जब शंकर उसे पुकारता हुआ बिल्कुल पास आ गया और उसे झकोरने लगा तो वह उठी और पूछा, 'क्या है बाबा?'

'दो रोटी डाल दे जल्दी।'

'क्यों?'

'एक परदेसी आया है। भूखा है बेचारा, जल्दी बना दे।'

कजरी उठकर चली। सहसा उसे कुछ ध्यान आया। वह बोली, 'बाबा गेहूँ का आटा तो है नहीं, मंडुए का है।'

'गेहूँ का नहीं है?'

'उहूँक।'

'तब तो आटा बदल कर लाना पड़ेगा। पर तब तक देर हो जायगी, वह है बहुत भूखा। बेचारा कई दिन से हवा पानी पर जी रहा है और पचास मील की मजल मार कर आया है ······ हाँ, कज्जो दूध है क्या?'

'थोड़ा-सा है बाबा।'

'तो पहले वही गर्म कर दे। और इतने मैं आटा लाऊँ उतने कुछ भुज्जी तोड़ ले··· कुछ है?'

'हाँ बेल पर सेम लगी हैं और घर में पका कद्दू रक्खा है।'

'तो जल्दी कर ले······ अरे सुखवा! ······ पर वह सौहरा तो क्या काम करेगा। मैं ही ···' कह कर शंकर ने अन्दर से चारपाई निकाल कर बाहर आँगन में डाल दी और उस पर एक दरी बिछा दी। रमेश चारपाई पर लेट गया। शंकर घर में से मँडुआ (कोंदों) लेकर गाँव की ओर चला। आटा वह ले नहीं जा सकता था क्योंकि सवर्ण लोग अनाज बदल लेते हैं, पिसते ही उसमें छूत लग जाती है।

कजरी ने तुरंठे [तोर (पहाड़ी अरहर) के सूखे हुए पौदे] का एक झोंका जला कर चूल्हे में रक्खा और दूध आग पर चढ़ा दिया। जल्दी आग जलाने के लिये तुरँठे से बढ़ कर कोई चीज़ नहीं। बड़ी जल्दी दूध गर्म हो गया। उसने दूध में गुड़ मिलाया और सुखवा से कहा कि जो बाहर बेठे हैं उन्हें दूध दे आए। परन्तु गिलास पर हाथ लगाते ही सुखवा उछल कर दूर जा खड़ा हुआ और रोना मुँह बना कर कहने लगा, 'ऊँह ······ हाथ फूक दिया।'

कजरी मुँह में कपड़ा ठूँसने पर भी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई। फिर हँसी रोक कर उसने सुखवा को बहुत कुछ समझा बुझा कर, गुड़ की डली देकर भी बाहर दूध लेजाने को तैयार करना चाहा लेकिन फिर वह किसी भी शर्त पर राज़ी नहीं हुआ। तब दूध देने के लिये कजरी को स्वयं ही बाहर जाना पड़ा। आँचल ठीक करके, हाथ में एक कपड़े पर दूध का गिलास लेकर वह बाहर गई। रमेश आँखें बन्द किये चारपाई

पर निढाल-सा पड़ा था। कजरी ने थोड़ी देर खड़ी रह कर उसे देखा, फिर आँखें नीची डाल कर धीरे से कहा, 'दूध।'

रमेश चौंक पड़ा और बोला, 'हैं ?'

'दूध पी लो' कजरी ने कहा। रमेश ने हाथ बढ़ा कर गिलास ले लिया और कजरी अन्दर चली गई। रमेश को देख कर एक ही विचार उसके मस्तिष्क में आया : 'चमार तो यह है नहीं।' उसने भाजी काट कर चूल्हे पर चढ़ा दी और शंकर की प्रतीक्षा करने लगी। शंकर के आने पर कजरी ने उससे पूछा, 'यह कौन है बाबा ?'

'पता नहीं, कोई परदेसी है बेचारा।'

'कहाँ से आया है ?'

'यह भी पता नहीं।'

'पर बाबा चमार तो यह मालूम नहीं देता।'

'हाँ ··· आँ ··· आँ ··· मैंने पूछा भी था पर उसने कुछ बताया ही नहीं।'

'तो बाबा···' कजरी कुछ कहते-कहते रुक गई। कदाचित् वह सोच रही थी : अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्। शंकर सीधा था अवश्य फिर भी कुछ देखता-सुनता ही बूढ़ा हुआ था। कजरी की अधूरी बात समझ कर बोला, 'बेटी एक आध दिन पड़ा रहेगा तो हमारा क्या बिगड़ेगा।'

'यह बात नहीं ······' कहती-कहती कजरी जल्दी से चूल्हे पर से साग उतारने चली गई। बादल घिरे आ रहे थे। फ़र्वरी के मास में देहरादून में तथा उसके आस-पास साधारणतः अधिक वर्षा नहीं होती परन्तु पड़ने लगे तो कोई ठिकाना भी नहीं। कभी-कभी कई दिन तक झड़ी लगी रहती है। ठंड वैसे ही अधिक थी, रात को और बढ़ गई थी। शंकर के साथ यह समस्या थी कि पाहुने को कहाँ सुलाए और क्या बिस्तर दे। कुछ समय तक के लिये— खाना बनने तक— तो चारपाई गाय बाँधने के छप्पर के नीचे डाल दी गई थी परन्तु रात में तो वहाँ काम नहीं चल सकता था। यदि कपड़े अधिक होते तो भी काम चल जाता। परन्तु कपड़े ? खाना खाने के लिये युवक ने संकोच नहीं किया था; उसकी तो कोई बात नहीं, खाना बनाने में शुचिता का ध्यान रक्खा जा सकता था। परन्तु अपने गन्दे तथा थोड़े से कपड़े उस भले दीखने वाले परदेसी अतिथि को देने के लिये शंकर के मन ने गवाही नहीं दी। वह कुछ देर सोचता रहा फिर कजरी को जल्दी खाना बनाने का आदेश दे कर गाँव की ओर चला गया। रमेश दूध पी कर पेट में सहारा होते ही निद्रा-जगत में पहुँच गया था।

शंकर सीधा हवेली पहुँचा। बाहर दरबान को राम-राम करके उसने पूछा, 'छोटे सरकार हैं ?'

'हाँ हैं तो।' दरबान ने उत्तर दिया। दरवान को वैसे अप्रत्याशित समय में शंकर को आया देख कर आश्चर्य हुआ। शंकर कुछ देर चुप रहा मानो जो बात वह कहना चाह रहा था वह किसी भी भाँति बाहर नहीं निकलना चाहती थी। उसे चुप देख कर दरबान ने ही पूछा, 'कहो क्या काम है ?'

'देखो भैया', शंकर ने हाथ जोड़ते हुये कहा, 'तनिक छोटे सरकार से मेरी पालागन कह दो, और कहना कि बड़ा जरूरी काम है।' दरबान अन्दर जाने लगा तो शंकर ने उसे फिर रोक कर कहा, 'देखो भैया, छोटे सरकार से ही कहना और किसी से नहीं।' शंकर प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर पश्चात् चन्द्रमोहन बाहर आया। शंकर के कुसमय में आने पर उसे भी आश्चर्य हुआ। पास आकर शंकर की पालागन के उत्तर में सिर हिला कर उसने पूछा, 'कहो शंकर, कैसे आए ?'

'क्या कहूँ छोटे सरकार !' शंकर ने दरबान की उपस्थिति में संकोच अनुभव करते हुए कहा, 'आज एक बेचारा परदेसी पाहुना आ गया है। किसी ऊँची जात का मालूम होता है पर होगा समाजी। खाने-पीने का कुछ 'बिचार' नहीं करता। खाना तो बनवा दिया है पर ओढ़ने-बिछाने के कपड़े ......'

चन्द्रमोहन के हृदय में इस अपरिचित अतिथि के विषय में कुछ जानने की उत्सुकता हुई, परन्तु वह समय अधिक पूछ-ताछ करने का नहीं था और कदाचित् अभी शंकर भी उसके विषय में अधिक नहीं जानता होगा— ऐसा सोच कर चन्द्रमोहन ने उत्सुकता दबा कर कहा, 'तो कपड़े चाहियें ?'

'हाँ सरकार।'

'अच्छा', कह कर चन्द्रमोहन अन्दर गया और थोड़ी देर में दरबान के हाथ बड़ा मोटा-सा बिस्तर लिवा कर बाहर आया और पूछा, 'चारपाई भी चाहिये ?'

'चारपाई तो हो जायगी भैया जी।'

इसके बाद 'छोटे भैया' को जुग-जुग जीने का आशीर्वाद देकर और अन्त में फिर पालागन करके, बिस्तर से लदे दरबान को साथ लेकर बात करता हुआ शंकर अपने घर की ओर लौटा।

शंकर से दरबान को और दरबान से चन्द्रमोहन को ज्ञात हुआ कि शंकर ने उस पाहुने को पहले कभी नहीं देखा था और कि पहाड़ अथवा देहरादून का निवासी

नहीं बल्कि 'देस' का रहने वाला था और शंकर ने उसे बारी के सामने भूख के मारे अचेतन पड़े देखा था।

फिर दरबान ने चन्द्रमोहन को यह बतलाया कि उसने अपनी आँखों से देख कर यह बात निश्चित की थी कि शंकर का अतिथि चमार नहीं बल्कि 'भला आदमी' लगता था।

१४

रमेश ने उस रात खाना खाया परन्तु किसी भी पदार्थ का स्वाद वह नहीं बतला सकता था और न दूसरे दिन प्रातःकाल उसे यही याद था कि रात उसने क्या खाया था—बल्कि कुछ खाया भी था या नहीं। सवेरे शौचादि से निवृत्त होकर वह आया तब तक कजरी ने लीली की धार निकाल कर दूध गर्म कर लिया था। रमेश ने दूध पिया। वह चारपाई पर लेट रहा और थोड़ी देर पश्चात् फिर सो गया। लगभग दोपहर में शंकर ने उसे जगाया और नदी का मार्ग बतला कर नहा आने को कहा। रमेश नदी पर गया, नहाया और आ कर उसने खाना खाया। देहरादून बासमती चावलों के लिये प्रसिद्ध है इससे यदि कोई यह आशा करे कि रमेश को भी बासमती के चावलों का भात मिला होगा, तो यह भूल है। देहरादून के ग़रीब लोग— जो बासमती पैदा करते हैं वे भी— बासमती नहीं खाते बल्कि अधिकतर चम्भा, नक्का और रतवा* खाते हैं। रमेश को साबुत तोर की दाल, नक्के के चावलों का भात, गेहूँ की रोटी, फूल गोभी और आलू की भाजी खाने को मिली।

इतनी देर तक सोने तथा अच्छी तरह खाना मिल जाने के पश्चात् रमेश का मस्तिष्क ठिकाने आया। जब पेट में सहारा हो गया और मस्तिष्क सोचने योग्य हो गया तब उसे सहसा ध्यान आया कि उसके कपड़े बहुत मैले हो गये थे। वह नदी पर गया और अन्दर का कच्छा पहिने रह कर, कमीज़ और पतलून धो कर पत्थरों पर सूखने डाल दिये और स्वयं धूप में बैठ कर सोचने लगा। फ़र्वरी मास का अन्त था। धूप में काफ़ी गर्मी आ चली थी परन्तु रमेश को नंगे शरीर पर वह धूप अच्छी लगी। धूप की सुखदायक गर्मी में विचारों का ताँता बँध गया। किन्तु वह निश्चित नहीं कर पाया कि उसे क्या करना चाहिये। कभी सोचता कि घर लौट जाय··· पर वहाँ जा कर क्या करेगा और फिर इतनी दूर तक आकर इतने कष्ट झेलना— क्या अपने आप को मूर्ख सिद्ध कराने के लिये ही यह सब कष्ट झेले थे ? ··· नहीं घर वह नहीं जा सकता। कभी उसे विचार आता कि शहर चला जाय ····· परन्तु शहर में जा कर भी क्या करेगा ? बहुत कुछ सोच विचार कर रमेश इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह क्या करेगा, क्या नहीं, यह तो बाद में सोचा जायगा ; पहली बात

* देहरादून के मोटे धान ; नक्के का चावल लाल होता है।

जो उसे करनी चाहिये वह यह है कि अब उसे उस गाँव से चल देना चाहिये। परन्तु जाय कहाँ— यह उसकी समझ में नहीं आया।

तीसरे पहर रमेश सहसा उठा और शंकर से बोला, 'अच्छा तो मैं जाता हूँ।'

'कहाँ ?' शंकर ने आश्चर्य से पूछा।

रमेश चुप हो गया। वह स्वयं नहीं जानता था कि कहाँ जायगा। शंकर की समझ में इस लड़के की बातें आ ही नहीं रही थीं। शंकर सीधा-सादा आदमी था। जो बात जी में आती थी, बेधड़क कह देता था। हेर-फेर और घुमाव की बात उसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं थी। उसने रमेश से कहा, 'क्या बात है भैय्या ? न तो तुमने यह बतलाया कि कहाँ से आ रहे हो और न बतलाया कि कहाँ जा रहे हो। नाम, धाम, पता, ठिकाना कुछ भी तो नहीं बतलाया। हम तुम्हारे बुरे में नहीं हैं। जो कोई काम हो हमसे……'

रमेश ने शंकर की बात से बड़ी बेचैनी अनुभव की। उसने हाथ उठा कर शंकर को रोका और सोचा कि कदाचित् उसकी चुप्पी का कोई भ्रमपूर्ण अर्थ लगाया जा रहा है। उसने बतलाना ही उचित समझा। उसने कहा, 'मेरा नाम रमेश है। मैं जाति का कायस्थ हूँ और बरेली का रहने वाला हूँ। परीक्षा में फ़ेल होने से मैं घर से भाग आया हूँ……'

'घर से भाग आये हो ?' शंकर ने आश्चर्य तथा दुःख से पूछा।

'हाँ।' रमेश ने उत्तर दिया, 'घर से भाग आया हूँ और अभी घर जाना भी नहीं चाहता।'

'यह काम तो ठीक नहीं किया भैय्या।'

'अब तो कर ही चुका। अब इसका क्या इलाज।'

'इलाज यही है कि घर लौट जाओ।'

'उहुँक। बिना कुछ किये तो अब मैं घर जा नहीं सकता।'

'तो क्या करोगे ?'

'क्या करूँगा ? यह तो अभी मुझे स्वयं ही पता नहीं।'

'और अब जा कहाँ रहे थे ?'

रमेश प्रश्न से घबराया परन्तु कुछ उत्तर तो देना ही था। जवानी में पेट भरा होने पर साधारणतया सीधा-सादा उत्तर नहीं सूझता। उसने कहा, 'जहाँ तक भी पैर ले जायें और……' रमेश ने कुछ झेंपते हुए कहा 'जब तक आप जैसा कोई दयालु न मिल जाय।'

'यह नहीं हो सकता।' शंकर ने कहा।

'क्या? कोई दयालु नहीं मिलेगा?'

'नहीं', शंकर ने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा, 'तुम यहाँ से जा नहीं सकते।' उस समय शंकर के मस्तिष्क में पिछले दिन का थका-माँदा, भूख-प्यास से अचेत पड़ा हुआ रमेश था।

'नहीं, मुझे जाना तो पड़ेगा ही......' रमेश ने कहा परन्तु उसके स्वर में दृढ़ता नहीं थी।

'ऐसा क्या काम अटका पड़ा है जो तुम्हारे गये बिना नहीं सुधरेगा?'

'काम तो अभी कुछ नहीं......'

'बस तो फिर यहीं रहो। एक-आध दिन में देहरे चले जाना। कोई काम मिल जाय तो कर लेना नहीं तो जब तक काम न मिले, यहीं पड़े रहो। हाँ एक बात तो है कि यहाँ तो रूखी-सूखी ही है। घर जैसा......'

'कैसी बातें करते हैं आप भी...... लेकिन'

'अब लेकिन-वेकिन कुछ नहीं, तुम्हें यहीं रहना पड़ेगा।' शंकर ने अन्तिम निर्णय देकर कहना जारी रक्खा, 'तुम यह सोच रहे होगे कि यह ग़रीब आदमी है, खिलाएगा कहाँ से? पर भैय्या, राम जी की दया से कमी किसी बात की नहीं होगी।' यह कहते-कहते शंकर का स्वर कुछ गर्व से भर उठा।

रमेश को शंकर के घर रहना स्वीकार करना पड़ा। शंकर की उत्सुकता जाग्रत हो गई थी और रमेश उसके घर रहने वाला था इसलिये शंकर ने प्रश्न पर प्रश्न पूछ कर रमेश के विषय में बहुत-सी बातें ज्ञात कर लीं। मकान कच्चा है या पक्का, अपना है या किराये का, माँ, बाप, भाई, बहिन हैं या नहीं...... आदि बहुत-सी काम की और बेकाम की बातें पूछ डालीं और उसके विषय में यह धारणा बनाई कि लड़का है तो 'असील' और 'खान्दानी', परन्तु पता नहीं क्या मति हरी गई जो घर-बार छोड़ कर भाग आया।

शंकर उस समय इन्हीं विचारों में लीन था जब ज़मींदार के दरबान ने आकर उसे सूचना दी कि उसे छोटे सरकार ने याद किया था।

* * * * * *

अनोखे वर्णन वाले युवक के शंकर चमार के घर ठहरने से चन्द्रमोहन को उत्सुकता हुई। उत्सुकता से अधिक चिन्ता हुई। आतंकवादियों को बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। यद्यपि उन लोगों के कार्य को बहुत दिन हो चुके थे फिर भी यह संभव था कि भेदिये भेद लेते-लेते अन्त में ठिकाने पर पहुँच गये हों। वह नया युवक

उन्हीं में से कोई हो सकता था। चन्द्रमोहन उससे मिलना चाहता था और उसे देखना चाहता था। यही सोच कर उसने शंकर को बुलाया था, परन्तु रूपराम को सवेरे ही दूसरे गाँव काम पर भेज दिया था जहाँ से वह रात से पहले लौटने वाला नहीं था।

शंकर आया, छोटे भैया को पालागन करके एक ओर खड़ा हो गया और पूछा, 'छोटे भैया, मुझे कुछ हुकुम है?'

'अरे हुकुम-बुकुम कुछ नहीं शंकर, मैंने तो यही जानने के लिये बुलाया था कि तेरा पाहुना आराम से तो है। कोई चीज़ चाहिये तो नहीं?'

'क्या चाहेगा भैय्या। सब तुम्हारी दया है।'

'क्या काम करता है वह लड़का?' चन्द्रमोहन ने यों ही अन्यमनस्क रहने का-सा भाव धारण करके पूछा।

'करता क्या', शंकर ने कुछ संकोच से कहा, जैसे अपने ही बेटे की अयोग्यता की बात कर रहा हो, 'घर से भाग कर आया है बेचारा······'

सुनकर चन्द्रमोहन निश्चिन्त न रह सका। घर से भागा हुआ! तो क्या वह भी उसी के से विचारों का युवक है, अथवा यह कोई बहाना है— चन्द्रमोहन ने सोचा और फिर पूछा, 'क्यों, घर से क्यों भाग आया?'

'कहता था इन्त्यान में पास नहीं हुआ।'

फ़रवरी मास में ऐसी कौनसी परीक्षा होती है जिसमें अनुत्तीर्ण होने पर किसी को भागने की आवश्यकता पड़े— यह चन्द्रमोहन की समझ में नहीं आया। उसने सोचा कि कहीं दाल में काला अवश्य है और बिना स्वयं मिले ठीक पता नहीं चलेगा; फिर भी उसने पूछा 'अभी है या चला गया?'

'वह तो आज जाने के लिये तैयार हो गया था भैया जी, पर मैंने ही नहीं जाने दिया, क्योंकि बेरोज़गार आदमी, पल्ले पैसा नहीं, कहाँ मारा-मारा फिरेगा? उस दिन तो बारी पर भूख के मारे बेहोश पड़ा मिला था। वैसे अच्छा ख़ान्दानी लड़का है। देस में अपना घर है। माँ, बाप, भाई बहिन, सब हैं— खाता-पीता है। जात का कायथ है— पर·····'

'तो उससे कहना कि मैं उससे मिलना चाहता हूँ।'

'तुम उससे मिलोगे भैया जी?' शंकर ने आश्चर्य से पूछा।

'क्यों कुछ हर्ज है?' चन्द्रमोहन ने कुछ हँसकर कहा।

'नहीं······ अच्छा कब भेज दूँ?'

'कल सवेरे डंगर खुलने के समय नदी पर।' चन्द्रमोहन ने कहा। वह हवेली में चला गया और शंकर सोचता विचारता लौट आया।

* * * * *

अगले दिन ढोरों के चरने जाने के समय चन्द्रमोहन और रमेश नदी पर मिले। शंकर के द्वारा दोनों को एक दूसरे का थोड़ा बहुत परिचय मिल चुका था। रमेश जब नदी पर पहुँचा तो वहाँ एक स्वस्थ तथा सजीले युवक को धोती, कुर्त्ता और गर्म जवाहर जाकेट पहिने टहलते देखा। रमेश ने अनुमान किया कि वही चन्द्रमोहन होगा। उसने अभिवादन करने के पश्चात् कहा 'कदाचित् आपका नाम चन्द्र.......'

प्रत्यभिवादन करते हुए चन्द्रमोहन बीच में ही बोला, 'कदाचित् नहीं, निश्चय ही मेरा नाम चन्द्रमोहन है। मैं यहाँ के ज़मींदार का पुत्र हूँ।' यह कहते कहते चन्द्रमोहन के स्वर में बड़प्पन की यों-हो-सी झलक आ गई। परिचय के समय अच्छे युवक बड़ों के सामने नमते हैं परन्तु समवयस्कों के साथ तुलना की भावना लक्षित अथवा अलक्षित रूप से आ ही जाती है।

'मेरा नाम .....' रमेश ने कहने का प्रयत्न किया।

'मैं जानता हूँ रमेश आपका नाम ....'

'जी नहीं, रमेशचन्द्र सिनहा है मेरा नाम।'

'ठीक' चन्द्रमोहन ने कहा, यद्यपि वह रमेश के तत्काल उत्तर से कुछ, यही दाल में नमक के बराबर, अप्रतिभ हो गया था। वह कहता गया 'आप इस गाँव के शंकर चमार के घर ठहरे हुए हैं। शंकर मेरा आसामी-है।...... क्षमा कीजिए यदि आरम्भ में मेरी बातें आवश्यकता से कुछ अधिक सीधी अथवा कुछ उद्धततापूर्ण प्रतीत हों; परन्तु वास्तव में अपने आसामियों तथा अपने गाँव के विषय में हमें जानकारी रखना आवश्यक होता है।'

चन्द्रमोहन कुछ देर के लिये रुका, तभी रमेश ने कहा, 'आप कहते जाइये, मैं बुरा नहीं मान रहा हूँ।'

चन्द्रमोहन ने एक बार सीधी तथा गहरी दृष्टि से रमेश की ओर देखा और कहना आरम्भ किया, 'देखिये अभी पिछले दिनों में जो उपद्रव हुए हैं और अभी तक होते जा रहे हैं, उनके कारण सभी को सतर्क रहना पड़ता है......'

रमेश किञ्चित् मुस्कराया और उसने कहा, 'ज़मींदार महाशय, मेरे विचार से भूमिका यथेष्ट बाँधी जा चुकी है। अब कृपा करके सीधे अपनी बात कहिये। यह बात मैं समय के विचार से नहीं कह रहा हूँ क्योंकि आज कल समय की मेरे पास कोई कमी नहीं है, बल्कि मैं इसलिये कहता हूँ कि मुझे सीधी बात सुनने तथा सहन करने का अभ्यास है।'

'तो सुनिये', चन्द्रमोहन ने कहा, 'आप इस गाँव में किसी को नहीं जानते, बल्कि शंकर के कथनानुसार आप इस प्रदेश से ही नितान्त अपरिचित हैं। यहाँ आप किसी को नहीं पहिचानते। ऐसे समय में इस गाँव में आपकी उपस्थिति के लिये जो कारण शंकर ने दिया है वह मुझे कुछ जँचा नहीं। कदाचित् कोई परीक्षा इसके लिये उत्तरदायी ठहराई जाती है, परन्तु मैं नहीं समझता कि वर्ष के इस समय में कौनसी ऊँची परीक्षा··· ··'

'इससे पहले कि मैं आपकी शंका का समाधान करूँ, यदि मैं आप से यह पूछना चाहूँ कि आपकी शिक्षा कहाँ तक हुई है, तो आशा है आप बुरा नहीं मानेंगे।' रमेश ने कहा।

'नहीं बुरा मानने की कोई बात नहीं; मैंने देहरादून कॉलेज में इन्टरमीडिएट तक शिक्षा पाई है।'

'किस विभाग में ?'

'कला।'

'तभी।' रमेश ने कहा, 'मैं विज्ञान का विद्यार्थी था और बी. एस-सी. अन्तिम वर्ष में था। फर्वरी मास में विश्वविद्यालय की प्रयोग की वार्षिक परीक्षाएँ होती हैं। मैं बहुत-से कारणों से इस वर्ष पढ़ नहीं सका। उन कारणों में से अगस्त आन्दोलन भी एक था······'

'आपने भी अगस्त आन्दोलन में भाग लिया था ?' चन्द्रमोहन ने उत्सुकता को दबाने का प्रयत्न न करके कहा।

'जी नहीं। उन दिनों मैं एक दुर्घटना के कारण चारपाई की शरण में था।'

'दुर्घटना कैसी ?'

'प्रयोगशाला में उबलता हुआ गन्धक का तेज़ाब गिर गया था।'

'ओह ! हाँ, फिर ?'

'ठीक से पढ़ न सकने के कारण मेरा रसायन का पहला ही प्रयोग बिल्कुल बिगड़ गया। मैं पास नहीं हो सकता था। फ़ेल होकर घर जाना मेरे लिये सम्भव नहीं था। इसीलिये मैं ····· मैं घर छोड़ कर चला आया और भटकता-भटकता आपके गाँव में आ पहुँचा हूँ। यही मैंने शंकर को बतलाया था और यही आप से कहा है। विश्वास कीजिए अथवा······'

'अविश्वास का तो कोई कारण मैं नहीं देखता।' चन्द्रमोहन ने कहा।

'धन्यवाद !' रमेश ने होंठों के कोनों को एक हलकी-सी वक्र मुस्कान में मोड़ कर कहा। चन्द्रमोहन कुछ देर चुप रहा, फिर बोला, 'अब क्या करना चाहते हो ?'

'जो कुछ भी काम मिल जाय।'

'राजनीति में कुछ रुचि है?'

'विशेष नहीं।'

'आन्दोलन में सहानुभूति है?'

'आन्दोलन में किस भारतीय को सहानुभूति न होगी। परन्तु आन्दोलन से आपका क्या तात्पर्य है? आतंकवादी, विध्वंसात्मक अथवा समाज सुधार-सम्बन्धी रचनात्मक?'

'आप किस के समर्थक हैं?'

'दूसरी प्रकार के।'

'गाँवों में कुछ कार्य कर सकेंगे?'

'कर तो अवश्य सकूँगा, परन्तु पहले जीविका का तो कुछ प्रबन्ध करना ही होगा; खाली हवा खाकर और पानी पीकर तो जिया नहीं जा सकता ......'

'उसके लिये आप चिन्ता न कीजिए। आप बच्चों तथा वयस्कों को प्रारम्भिक शिक्षा दे सकेंगे?'

'अवश्य प्रयत्न करना चाहूँगा।'

'ठीक', चन्द्रमोहन ने कहा, 'तब हमारा कार्य ठीक चलेगा। हम बहुत दिन से इस गाँव में पाठशाला खोलने के प्रयत्न में थे। कई बार खुलीं भी, परन्तु अधिक दिन नहीं चलीं। मैं एक बार और प्रयत्न करके देखना चाहता हूँ। अब आपको इस गाँव से कहीं और जाने की आवश्यकता नहीं। पाठशाला के लिये तो यहाँ पहले से ही स्थान है। आप चाहें तो आपके रहने का प्रबन्ध हवेली में किया जा सकता है। वैसे जैसा आप चाहें...... और अभी तो मैं आपको पचास रुपये मासिक दे सकता हूँ। कहिये स्वीकार है?'

'और तो सब ठीक है, परन्तु हवेली में रहने की बात मैं कुछ कारणों से स्वीकार नहीं कर सकता। पहले तो यह कि जिस शंकर ने वैसे गाढ़े समय में मेरी सहायता की थी, उसे मैं छोड़ना नहीं चाहता......'

'परन्तु आपने यह भी सोचा है कि आपके वहाँ रहने से शंकर को असुविधा हो सकती है?'

'मैंने यह सोचा है; इसीलिये मेरा यह प्रस्ताव है कि शंकर के घर के पास ही, यदि सम्भव हो तो, मेरे लिये एक झोंपड़ी डलवा दी जाय। एक और भी कारण है', रमेश कहता गया, 'शंकर के यहाँ रहने तथा खाने-पीने से गाँव वालों की दृष्टि में मेरी

जाति जा चुकी है और स्वभावत: गाँव में मेरे लिये अब कोई स्थान नहीं है। गाँव की छुआछूत की कट्टरता मैं जानता हूँ।'

'यद्यपि मैं स्वयं जात-पाँत का पक्षपाती नहीं हूँ', चन्द्रमोहन ने कहा, 'फिर भी आपकी बात ठीक है। आप चिन्ता न कीजिए। जल्दी ही झोंपड़ी तथा आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध हो जायगा।'

'धन्यवाद!'

'मुझे आपसे मिल कर बहुत प्रसन्नता हुई', चन्द्रमोहन ने कहा।

'मेरा सौभाग्य', रमेश ने उत्तर दिया।

इसके पश्चात् दोनों यथेष्ट सन्तुष्ट होकर एक दूसरे से विदा हुए

रमेश खाना खा कर बाहर चला गया। कुछ देर टहलता रहा फिर एकाएक रसोई के द्वार पर आया और चौखट पर दोनों हाथ रख कर अन्दर झाँकता हुआ बोला, 'कजरी!' फिर कजरी को खाना खाते और उसके अन्दर झाँकने पर एकाएक रोटी छोड़ते देखकर लौटते हुए बोला, 'अरे अरे, रोटी छोड़ो नहीं, मैं जाता हूँ तुम खाना खा लो फिर कहूँगा।'

'क्या कहते थे?' कजरी ने अन्दर से ही पुकार कर पूछा।

'पहले खाना खा लो फिर पूछना।'

रमेश जा कर अपनी चारपाई पर लेट गया। कजरी ने खाना खाया फिर बर्तन मले। उसके बाद गर्म दूध का गिलास रमेश के लिये लेकर उसके पास आई और बोली, 'कहो'

'क्या?' रमेश ने चौंक कर आँखें खोलते हुए कहा।

'क्या कहते थे?'

'ओ हाँ ········· मैं कहता था कजरी कि तुम भी पढ़ो न।'

परन्तु बात सुन कर और दूध का गिलास रमेश के हाथ में थमा कजरी तो हँसते-हँसते लोटने लगी। रमेश इस अप्रत्याशित हँसी से बड़ा अप्रतिभ-सा हो गया।

'मैं पढ़ूँगी? ही ··· ही ··· ही ···'

'इसमें हँसने की क्या बात है?'

'एक तो लड़की और फिर चमार की! भला मैं पढ़ूँगी? तुम भी खूब हँसी करते हो।'

'क्या हुआ? लड़की नहीं पढ़ सकती?'

'घर का काम-धन्धा कौन करेगा?'

'तुम्हीं करना और कौन करेगा। पढ़ने में कोई सारा दिन थोड़े ही लगेगा।'

'सारा दिन तो नहीं लगेगा पर बाबा कहते थे कि पढ़-लिख कर लड़के हल चलाना छोड़ देते हैं और लड़कियाँ घर का काम-काज। जो मैं पढ़-लिख कर घर का काम छोड़ दूँगी तो बाबा और सुखवा को रोटी कौन देगा और फिर तुम्हारा ही काम कौन करेगा?'

'क्यों? अपना काम तो मैं अपने आप कर लूँगा।'

'पर बाबा और सुखवा?'

'क्या पागलपने की बात करती हो!' रमेश ने झुँझला कर कहा, 'तुम्हें पढ़ना पड़ेगा।'

'सच ?' कजरी ने बड़ी आशा तथा उत्कण्ठा से पूछा। उसके मुख पर हँसी का स्थान गम्भीरता ने ले लिया था। काग़ज़ों पर लिखी हुई टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ क्या संदेश और किस प्रकार दे देती हैं यह जानने तथा सीखने के लिये वह सदा से ही उत्सुक थी, परन्तु जब छोटी-सी थी तब स्कूल नहीं था और यदि होता भी तो न कोई उसे पढ़ने भेजता और न कोई पढ़ाता। जब स्कूल हुआ तो घर का काम-धंधा और उसकी बढ़ती हुई अवस्था बाधक बने। रमेश की बात से उसकी सदा की इच्छा सहसा बलवती हो आई। उसने बड़ी आशा तथा उत्सुकता से पूछा, 'सचमुच मैं भी पढ़ सकती हूँ ?'

'क्यों नहीं ?'

'अच्छा तो मैं भी पढ़ूँगी।' कजरी ने अपना निश्चय सुना दिया।

'शाबाश !' रमेश ने उछल कर कहा और अपने उत्साह में वह कदाचित् कजरी की पीठ थपथपाने जा रहा था, परन्तु समय रहते उसे ध्यान आ गया। उसके मन ने सहसा उससे कहा, 'अजी मास्टर महाशय ! यह कोई छोटा बच्चा नहीं जिसकी पीठ थपथपाने के लिये आप उछल रहे हैं, यह युवती है।' रमेश मन की ताड़ना से स्वयं ही संकुचित हो गया। उसने संभल कर बैठते हुए कहा, 'अच्छा तो कल को तुम्हारे लिये भी पोथी मंगा देंगे।'

'क्यों, मैं और सुखवा एक ही पोथी से पढ़ लेंगे।'

'नहीं, तुम्हारे लिये दूसरे ढंग की पोथी आएगी।'

और उस रात कजरी को पढ़ने की प्रसन्नता तथा उत्सुकता के मारे नींद नहीं आई।

रमेश के मस्तिष्क में इस घर के लोगों को पढ़ाने की बात क्या आई, वह सभी के पीछे पड़ गया। सवेरा होते ही उसने शंकर को घेरा और उससे पूछा, 'बाबा, तुम भी पढ़ोगे ?'

शंकर हँस कर बोला, 'भैया ! बहुत कट गई। थोड़ी बची है ; यह भी कट जायगी इसी तरह। अब कहाँ बुढ़ापे में······'

'क्यों बाबा, यह कोई पाप है जो बुढ़ापे में करने से डरते हो ?'

'नहीं भैया, पाप क्यों होता ? पर अपना-अपना भाग है यह तो। जिसके भाग में 'बिद्या' होगी वही पढ़ेगा। पढ़ने वाला तो बड़ा भागवान है। मेरा ऐसा भाग कहाँ ?'

'अगर अब भी पढ़ने लगो तो भाग क्या कर लेगा ?'

'तुम कैसी बात करते हो भैया ? बिना भाग के कहीं कुछ होता है ? वह कहा करते हैं कि करमहीन खेती करे, बैल मरे सूखा पड़े— मैं पढ़ने लगूँगा तो पता नहीं क्या हो जाय। स्यात् तुम्हीं कहीं और चल दो।'

'मैं कहाँ जाऊँगा बाबा ?'

'होनी किसने देखी है ? जैसे कहीं के पंछी यहाँ आ लगे उसी तरह यहाँ से उड़ कर कहीं और बसेरा करो। और भैय्या मुझे पढ़ कर करना ही क्या है ? मुझे कोई नौकरी तो करनी ही नहीं है।'

'नौकरी नहीं करनी तो क्या हुआ ? पढ़ा हुआ हज़ार काम आता है। चिट्ठी-पत्री.........'

'भैया, चिट्ठी-पत्री मेरे यहाँ कहाँ से आएगी ? इतनी उमिर हुई अब तक तो कहीं से आई नहीं।'

'अब तक नहीं आई तो क्या फिर भी कभी नहीं आएगी।' फिर हँसते हुए रमेश ने और जोड़ा, 'जब मैं यहाँ से चला जाऊँगा तब तो तुम्हारे पास चिट्ठी भेजूँगा ही।'

'अरे भैया, तब तक सुखवा पढ़ लेगा। वही बाँच देगा चिट्ठी।'

'फिर भी अपने पढ़े की और बात है। वैसे भी तो काम पड़ता ही रहता है। गाँव में हर एक को कभी न कभी रुपया-पैसा उधार लेना पड़ जाता है। और ये महाजन लोग एक देते हैं तो चार लिखते हैं। आप पढ़े हों तो......'

शंकर बीच में ही हँसा। कुछ गर्व से बोला, 'भैया, भगवान् की दया से अब तक तो कभी उधार का मुँह देखना नहीं पड़ा, आगे की भगवान जाने। और हमने लेने किसके पास जाना है। जो कभी लेने ही पड़े तो बड़े महाराज (ज़मींदार) से ही लूँगा और बड़े महाराज तो....', शंकर ने हाथ जोड़ कर माथे पर लगाते हुए कहा, 'आदमी नहीं देवता हैं। वहाँ पाई की भी गड़बड़ी नहीं पड़ सकती। आज तक कभी किसी के हिसाब में छदाम की भी भूल नहीं हुई......'

रमेश हार कर चुप हो रहा। उसने अपने सारे पुस्तकीय तर्क शंकर पर समाप्त कर दिये थे। स्वयं रमेश को ऋण लेने तथा उसके लिखने-लिखाने के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं था। जो कुछ उसने पुस्तकों में पढ़ा था वही उसके सामने रक्खा, परन्तु शंकर के ऊपर सब व्यर्थ गया। रमेश ने सोच लिया कि इस बूढ़े के आगे विद्या की महिमा गाना, भैंस के आगे बीन बजाना है। उसने शंकर को पढ़ाने की आशा छोड़ दी। वह नहाया-धोया और सुखवा को साथ लेकर अपनी पाठशाला चला गया।

२६

रमेश का घर बन गया और वह अपना सामान लेकर उसमें रहने लगा। चन्द्रमोहन ने आवश्यकता की सारी वस्तुएँ सूची के अनुसार मंगवा दी थीं। खाने-पकाने के बर्तन, बाल्टी, घड़ा, एक ट्रन्क, साबुन, तौलिया, कंघा, दर्पण आदि। एक तिपाई, कुर्सी और मेज़ चन्द्रमोहन ने अपने घर से भिजवा दी थी। रमेश अपना खाना स्वयं बनाने लगा। इसी बात को लेकर कजरी ने बड़ा बुरा माना। कई दिन तक दोनों में मौन-युद्ध चलता रहा। कजरी ने खाना नहीं खाया, रमेश से नहीं बोली और उससे पढ़ी नहीं परन्तु इस विषय में रमेश दृढ़ रहा और किसी भी प्रकार अधिक दिन कजरी से खाना बनवाने में सहमत नहीं हुआ। अन्त में कजरी को इसी से सन्तोष करना पड़ा कि रमेश के घर का छोटा-मोटा काम-धन्धा— बर्तन माँजना, चौका देना, कभी-कभी घर लीप देना आदि— कर देती थी। बुहारी रमेश स्वयं लगाता था। रमेश ने तो पहले कजरी के इतना काम करने पर भी आपत्ति की थी। वह सारा काम स्वयं करना चाहता था, परन्तु इसमें उसे कजरी के आँसुओं के सम्मुख झुकना पड़ा और उसे यह कार्य कजरी को अनिच्छापूर्वक सौंपना पड़ा।

रमेश सवेरे ही नहा-धोकर खाना बना कर खाता और सुखवा को साथ लेकर स्कूल चला जाता। मध्याह्न में थोड़ी देर के लिये विश्राम में आता और फिर जाकर सन्ध्या को लौटता। तब तक उसे सवेरे के खाने-पीने के बर्तन मँजे हुए मिलते और चौका लिपा-पुता साफ़ मिलता। थोड़ी देर वह विश्राम करता या कभी उन मोटी-मोटी किताबों को पढ़ने बैठ जाता जो उसने देहरादून से मंगवाई थीं या जो कभी-कभी चन्द्रमोहन से माँग लाता था। फिर वह खाना बनाकर खाता। तब तक कजरी भी अपने घर के काम-धन्धे से निबट जाती। रमेश कजरी को दो-एक घंटे पढ़ाता और फिर सो जाता।

कभी-कभी ऐसा भी होता कि रमेश स्कूल से सीधा घर न आकर गाँव में चक्कर लगाने निकल जाता। गाँव के लोग उसे खूब जान गये थे। उसका आदर भी करने लगे थे, परन्तु अधिकांश को उसकी इस मति-अन्धता पर दुःख होता था कि उसने चमार के घर रह कर अपनी जाति क्यों खो दी। कुछ लोग तो ऐसे थे जो

रमेश के मुख पर खुल्लम-खुल्ला, बिना छिपाने का प्रयत्न किये हुए, रमेश से कह देते अथवा अपने व्यवहार द्वारा उस पर प्रकट कर देते कि वे उससे छूत करते थे, परन्तु अधिकांश उसके सम्मुख इस बात को प्रकट न करते; फिर भी रमेश समझता सब था। वह किसी के घर अधिक जाने का प्रयत्न नहीं करता था। यदि कभी जाता भी था तो बाहर आँगन में से ही पूछ लेता, 'तारा बीमार था, अब कैसा है ?……', 'मुन्ना आज पाठशाला क्यों नहीं आया ?……', 'बालकिशन ने पहली पोथी समाप्त कर दी है, इसके लिये दूसरी मंगाओ……', 'रामेश्वर पढ़ता नहीं, इसे घर पर पढ़ने के लिये कहो', 'छज्जू को ज़रा साफ़ रक्खा करो, बहुत गन्दा रहता है', आदि। गाँव के लोग इसलिये भी नये मास्टर को चाहने लगे थे कि वह कभी 'सीधा' नहीं मँगवाता था, मासिक पैसे नहीं बाँधता था, लड़कों से न अपना पानी भरवाता था और न जंगल से लकड़ी कटवा कर मंगवाता था। त्योहारी से भी कोई प्रयोजन नहीं था। वह समय-कुसमय 'चाय पीने के लिये' नहीं पहुँच जाता था, बल्कि वह तो किसी का निमंत्रण भी स्वीकार नहीं करता था।

ज्यों-ज्यों रमेश भगवंतपुर के निकटतर सम्पर्क में आता रहा, गाँव की कमियाँ तथा बुराइयाँ अपने नग्न रूप में उसके सामने आने लगीं। उसे बड़ा दुःख होता था। इस विषय में उसकी चन्द्रमोहन से बहुधा बातें होती थीं। दोनों सोचते परन्तु फल कुछ नहीं निकलता था। एक दिन रमेश चन्द्रमोहन से कह रहा था, 'अब तक यद्यपि मैंने गाँव पहले भी काफ़ी देखे थे फिर भी तब के देखने और अब के देखने में आकाश-पाताल का अन्तर है। गाँवों की दुर्दशा पुस्तकों में भी पढ़ी थी और चित्रपट पर भी देखी थी, परन्तु वह सब सत्य से कितना दूर था यह अब प्रतीत हुआ। चित्रपट पर या तो ज़मींदार के अत्याचार और एक युवक-युवती के प्रेम के चारों ओर कथा का ताना-बाना बुन देंगे या फिर गाँव को स्वर्ग-सम और उसी की तुलना में नगर को नर्क-तुल्य दिखला कर समझेंगे कि गाँवों का सच्चा चित्रण कर दिया। गाँवों की ग़रीबी, अन्ध-विश्वास, स्वास्थ्य तथा शिक्षा की ओर से उदासीनता— इन सबकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता…… देखो अभी परसों ही बाबूलाल का लड़का मर गया।'

'चेचक निकली थी उसे तो।' चन्द्रमोहन ने कहा।

'हाँ चेचक तो थी, परन्तु जानते हो उन्होंने क्या किया ?'

'क्या ?'

'एक तो यहाँ कोठरियाँ ऐसी बनी हैं कि हवा और प्रकाश का वहाँ प्रवेश ही नहीं है। बिल्कुल काल-कोठरियाँ हैं और फिर उस कोठरी में, जहाँ वह लड़का लेटा था, जो एक-आध झरोखा-सा था भी, उसे उन लोगों ने कपड़ा ठूँस कर बन्द कर

रक्खा था। उसी कोठरी में अनाज की पेलुड़ी, कुठार* भी रक्खे थे। बड़ी अजीब-सी घुटी-घुटी बदबू आती है इन कोठरियों में। जब बाबूलाल के लड़के ने पाठशाला आना बन्द कर दिया तो एक दिन मैं पूछने के लिये उसके घर गया। मैंने पूछा कि क्या हुआ. तो पहले तो बतलाया कि बीमार है फिर बहुत कुछ पूछने के पश्चात् बतलाया कि माता निकली है। मैंने पूछा कि क्या उपचार कर रहे हो, तो जो उपचार उन्होंने मुझे बतलाया और दिखलाया उसे सुनकर दुःख तथा लज्जा दोनों हुए। कोठरी के द्वार के पास एक बर्तन में सतनजा (सात प्रकार के अन्न), सिमालू की टहनी और एक लुटिया में गोमूत्र रक्खा था। बाबूलाल ने बतलाया कि रोज़ कोई आदमी झाड़ा देने आता है। मेरे यह कहने पर कि कोठरी ज़रा साफ़ रक्खो और थोड़ा प्रकाश तथा हवा आने दो, पुरुषों ने अवहेलना से मुँह फेर लिया और स्त्रियाँ मुँह में कपड़ा ठूँस कर हँसने लगीं और तब एक वृद्ध बोला, 'मास्टर जी, इस तरह हमारे ही सामने पता नहीं कितनों के माता निकली और अच्छी हो गई। अब क्या हमें डाक्टरी सिखाते हो?'...... और देखो परसों बेचारा लड़का मर गया।'

'रमेश बाबू, यह तो आप एक बाबूलाल के लड़के की बात कह रहे हैं। पता नहीं कितने बाबूलालों के बच्चे इसी प्रकार प्रति वर्ष अन्ध-विश्वास और झाड़-फूँक में अपनी जान देते हैं।'

'एक भी तो बच्चा स्वस्थ नहीं दिखाई देता', रमेश ने बड़े दुःखपूर्ण स्वर में कहा, 'मैं जिधर भी जाता हूँ उधर ही बच्चे नहीं बल्कि बच्चों के कंकाल दिखाई देते हैं। पेट बढ़े हुए, एक-एक हड्डी चमकती हुई, सींक से हाथ-पैर, गड्ढों में धँसी गँदी आँखें, बहती नाक, पिचके हुए, पीले तथा घिनौने मुख—क्या ये ही फूल-से बच्चे होते हैं? इन्हें चिन्तारहित, फूल-से खिले, मुक्त, आनन्द-वातावरण की सृष्टि करने वाले, जीवन के सबसे सुहावने समय के सम्राट् कौन कह देगा? इन बच्चों को देखकर मुझे गर्मी के मारे पिलस कर असमय में ही गिरे हुए आमों की याद आ जाती है। किसी के भी मुख पर प्रसन्नता नहीं, बल्कि उल्टे वहाँ मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं। उनकी आँखों में बाल-सुलभ चमक नहीं, उनमें चंचलता नहीं...... सच चन्द्रमोहन जी, इन बच्चों को देख कर मेरा तो हृदय रो उठता है।'

---

* पेलुड़ी : बाँस की तीलियों का बुना हुआ खड़ी ढोलक के आकार का अनाज रखने का ढक्कनदार बर्तन। साधारण माप— चार से पाँच मन अनाज। गाँवों में इसे 'कोल्हनी' भी कहते हैं।

कुठार : मिट्टी का कुएँ के आकार का बर्तन। यह अधिकतर भूमि पर जमा हुआ होता है। अनाज निकालने के लिये नीचे छेद छोड़ देते हैं।

'परन्तु इसका उपाय ही क्या है ?' चन्द्रमोहन ने सफ़ाई दी, 'वे ग़रीबों के बच्चे हैं। उन्हें भरपेट खाने को भी नहीं मिलता। हमारे यहाँ के माता-पिता स्वयं भूख, प्यास तथा चिन्ता से दुर्बल हैं, फिर ऐसे माता-पिताओं से तुम स्वस्थ बच्चे पाने की आशा करते हो ? ग़रीबी इन सब...... '

'यहाँ मैं आप से सहमत नहीं हूँ। ख़ाली ग़रीबी ही इसके लिये उत्तरदायी नहीं है। जिनके पास अच्छा खाने-पीने को है उनके बच्चे बेडौल और सुस्त हैं। इस सबका कारण है कि हम यही नहीं जानते कि क्या खायँ और कितना खायँ, और स्पष्ट ही इसके लिये उचित शिक्षा का अभाव ही उत्तरदायी है। भला इस बात की कौन चिन्ता करता है कि बच्चों को जो कुछ भी खाने को दिया जाय, नियमित समय पर तथा उचित मात्रा में दिया जाय ? कोई भूखा मरता है तो कोई अधिक खा कर। बीमारी में झाड़-फूँक, देवी-देवता, माता-पिता, मसान-फ़क़ीर, मुल्ला-मसजिद और टोने-टोटके तथा भूत और जिन तो जगाए जाते हैं, यह नहीं होता कि जाकर वैद्य या डाक्टर से दवा ले आएँ।'

'मैं यह सब जानता हूँ मास्टर जी। आप तो यहाँ कल आए हैं, मेरा तो इतना जीवन ही यहाँ के गाँवों में बीत गया है। मैं सब देखता हूँ, समझता हूँ, कुढ़ता हूँ, परन्तु कर कुछ भी नहीं सकता। आप अपनी पाठशाला को ही लीजिए। पाठशाला चलाने का यह चौथा प्रयत्न है। पहले भी ज़िला बोर्ड तथा हमारी ओर से प्रयत्न हुए। आरम्भ में कुछ बच्चे आते, परन्तु धीरे-धीरे उनकी संख्या कम होती जाती और अन्त में हमें पाठशाला बन्द करनी पड़ती। अब फिर वही समस्या है। आप कहते थे कि बहुत-से बच्चे अब पाठशाला नहीं आते।'

'हाँ, यह नई चिन्ता मुझे अलग तंग कर रही है। परन्तु इतना आगे बढ़कर पीछे लौटने वाला व्यक्ति मैं नहीं। यदि आप मेरी सहायता करें तो मैं बच्चों को फिर पाठशाला में ला सकता हूँ। हमें साम, दाम, दण्ड, भेद— सब प्रकार कार्य-साधन करना होगा और मुझे आशा है कि अन्त में मैं अवश्य सफल हूँगा।'

'मैं सब प्रकार आपकी सहायता के लिये तैयार हूँ।'

'अच्छा तो मैं जो चीज़ें कहूँ, मँगवा दीजिएगा।'

'मेरे पास सूची भेज दीजिए, चीज़ें पहुँच जायेंगी।' चन्द्रमोहन ने कहा और दोनों अपनी-अपनी राह चले गये।

रमेश की पाठशाला चाहे कैसी भी चल रही हो, कजरी ख़ूब उन्नति कर रही थी। पढ़ने तथा समझने की उसकी गति पर रमेश को स्वयं आश्चर्य होता था। एक बार बतलाई हुई बात उसके मस्तिष्क में पत्थर की रेखा बन कर बैठ जाती थी। रमेश ने उसके साथ पहली बाल-पोथी से आरम्भ न करके उन पुस्तकों से किया था जो

युक्त-प्रान्तीय सरकार ने साक्षरता आन्दोलन के समय प्रौढ़-शिक्षा के लिये चलाई थीं। रमेश को उन पुस्तकों से पढ़ाने का अनुभव था। साक्षरता आन्दोलन में रमेश ने भी एक-आध प्रौढ़ रात्रि-पाठशाला में पढ़ाया। कजरी ने बड़ी जल्दी पहली पुस्तक समाप्त कर दी। और एक मास बीतते-बीतते तो कजरी छोटी-छोटी पुस्तकें स्वयं ही थोड़ा अटक-अटक कर पढ़ने लगी। परन्तु कजरी पढ़ने में जितनी चतुर थी, लिखने में उतनी ही बुद्धू। लिखते हुए तो उसकी गर्दन ही टूटती थी। बड़ी कठिनता से तो रमेश ने उसे क़लम पकड़नी सिखाई। क़लम उसके हाथ में रुकती ही नहीं थी, बार-बार गिर-गिर जाती थी। कभी मुट्ठी से पकड़ती थी कभी दो उंगलियों से, और यह भी निश्चित नहीं था कि कौनसी दो उंगलियों से पकड़ना है। रमेश बार-बार झुँझला कर कहता था, 'यह कोढ़ियों की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी उंगलियों से क्या पकड़ रक्खी है, ठीक नहीं पकड़ी जाती ?' लिखना सिखाते समय वह कजरी का लड़की होना और उसकी अवस्था बहुधा भूल जाता। उसके सामने वह एक शिष्या मात्र रह जाती, और जैसे वह अपनी पाठशाला की किसी छोटी बच्ची को समझाते-समझाते थक कर बिगड़ पड़ता, उसी भाँति कजरी से कहता, 'ठीक बनाओ अक्षर, नहीं तो हाथ तोड़ दूँगा। ये क्या कीड़े से मार दिये हैं ?'

कजरी क़लम छोड़ कर कह देती, 'मुझसे नहीं लिखा जाता। मैं नहीं लिखती।' रमेश का हाथ अनायास ही कान पकड़ने के लिये आगे बढ़ जाता— वह मास्टर जी जो बन गया था। परन्तु सहसा उसे कजरी के कजरी होने का ध्यान आ जाता। वह अपना हाथ खींच लेता। वह कुछ देर गुम-सुम बैठी हुई उस कजरी को देखता रह जाता, फिर उसे पुचकारता हुआ-सा कहता, 'देखो कजरी, लिख लो ! जल्दी-जल्दी लिखो, नहीं तो सुखवा तुम से आगे बढ़ जायगा।'

'बढ़ जाने दो !' कजरी कह देती।

'अच्छा मत लिखो, अब मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा भी नहीं। मैं जब यहाँ से चला जाऊँगा तो चिट्ठी तो भेजूँगा ही। फिर देखूँगा कि कैसे तो मेरी चिट्ठी पढ़ती हो और कैसे उसका उत्तर देती हो।'

यहाँ पर कजरी की सारी झुँझलाहट और क्रोध उड़ जाते। वह मुँह बना कर फिर क़लम उठाती, कई बार उसे स्याही में डुबाती और फिर कभी दाहिने और कभी बाएँ गाल को जीभ से फुला कर, मुँह थोड़ा खोल कर, होंठों को बटुआ-सा बना कर लिखने का प्रयत्न करने लगती। इधर लिखने का काग़ज़ भरता और उधर कजरी का मुँह, हाथ, पैर, कपड़े— सब स्याही से भर जाते।

अच्छा शिष्य पाकर पढ़ाने में अपने आप जी लगता है। जी चाहता है कि जो कुछ अपने आप आता है, सब सिखा दिया जाय। उस समय कदाचित् पुराने युग की सीख भी याद नहीं रहती कि गुरु सब दाँव बता दे

पर कम से कम एक दाँव बचा ले। बिल्ली ने शेर को सब कुछ सिखाया, बस पेड़ पर चढ़ना ही नहीं सिखाया— तभी बची है......... कजरी की तीक्ष्ण बुद्धि से प्रसन्न होकर रमेश ने उसे पढ़ाया और जी लगा कर पढ़ाया। पुस्तक-पठन-पाठन तो वर्ण तथा शब्द-परिचय के लिये चलता ही था, रमेश ज़बानी भी उसे अपने देश, समाज तथा दूसरे देशों के विषय में बतलाता। रमेश को अपने विचार एकाग्रता से कहने में आनन्द मिलता और कजरी तन्मय होकर चुपचाप एकटक रमेश के मुख की ओर देखती रहती। रमेश जब अपने देश की दासता और विदेशियों के अत्याचारों की बातें कहता तो वह अपने आप को तथा सामने बैठी कजरी को भूल जाता। ऐसा प्रतीत होता मानो वह रंगमंच पर खड़ा बड़ी भारी जनता को व्याख्यान दे रहा हो। रमेश जब बोलता रहता तो यद्यपि कजरी की जिह्वा चुप रहती और आँखें रमेश पर स्थिर होकर गड़ी रहतीं परन्तु उसके शरीर का कोई न कोई अवयव अथवा अंग हिलता रहता। कभी वह बालों की एक लट को मुँह में डाल कर होंठों के एक कोने से दूसरे कोने की ओर बार-बार और लगातार खींचती रहती; कभी दोनों घुटनों को खड़ा करके उन्हें दोनों हाथों से घेर कर बैठ जाती और आगे-पीछे ऐसे झूलती-सी रहती जैसे लुढ़कने वाली कुर्सी (Rocking chair) पर बैठी हो; कभी भूमि पर उँगली से कोई चित्र बनाती रहती। रमेश जब बोलता-बोलता रुक जाता, कजरी तब भी तन्द्रा की-सी अवस्था में वैसे ही हिलती रहती या बालों की लट मुँह में से खींचती रहती। रमेश क्षण भर उसकी ओर देखता, फिर कहता, 'हिलो नहीं!' कभी सहसा हाथ बढ़ा कर बालों की लट उसके मुँह में से निकाल देता और उसके हाथ पकड़ कर, यदि ऊपर बैठे होते तो, मेज़ पर एक के ऊपर दूसरा रख देता। तब भी यदि उसकी उँगलियाँ चलती रहतीं तो हाथों पर कोई मोटी-सी पुस्तक रख देता। कजरी यह सब देखती, लज्जा से लाल हो जाती और फिर गर्दन झुका कर मुस्कराने लगी। रमेश के स्पर्श से अनोखी सिहरन-सी उसके अंग-अंग को गुद-गुदा कर निकल जाती।

इसी प्रकार रमेश तथा कजरी के पढ़ाने तथा पढ़ने का क्रम चल रहा था। उन्हें कुछ चिन्ता नहीं थी, वे निश्चिन्त थे, परन्तु गाँव में उनकी कहानियाँ बनने लगी थीं। ठीक ही तो है। लोगों को तो कुछ न कुछ कहने के लिये चाहिये ही। कजरी जब तक जवान नहीं हुई थी तब तक गाँव की और कोई युवती और युवक थे जिनकी चर्चा चलती थी। फिर कजरी और चन्द्रमोहन रहे। चन्द्रमोहन मार्ग से हट गया तो मास्टर और कजरी की बातें होने लगीं। कला चाची प्रचार करने लगी, 'अरे वह छोकरा मास्टर तो कज्जो के मारे पड़ा है। और नहीं तो ऊँची जात का पढ़ा-लिखा लड़का, उसे गाँव भर में कहीं और ठौर नहीं मिलती? और वह शंकर की धी भी तो रात-रात भर उसी के घर में घुसी रहती है। जो इसने एक दिन शंकर की नाक नहीं कटाई तो कला चाची को बाह्मनी नहीं भंगिन कह देना।'

फिर कुछ लोग दूसरे लोगों को भड़काने लगे कि वैसे चरित्र-भ्रष्ट मास्टर से अपने बच्चे नहीं पढ़वाने चाहियें। इसीलिये कुछ बच्चों ने पढ़ने आना बन्द कर दिया था। जब रमेश गाँव में से निकलता तो लोग उसकी पीठ पीछे मुँह बिचकाते। और कहते, 'देखो सूरत से कैसा भोला दिखाई देता है जैसे दूध का धुला हो, पर अन्दर से तो……' कुछ लोगों ने रमेश के विरुद्ध पं० अम्बादत्त के भी कान भरे। वे लोग रमेश को गाँव से निकलवाने के लिये कमर कसे बैठे थे। भलाई इतनी ही थी कि गाँव का युवक-दल रमेश के साथ था। फिर भी एक दिन रमेश को ज़मींदार महाशय के सम्मुख उपस्थित होना ही पड़ा।

रमेश ने पंडित अम्बादत्त को पहले देखा अवश्य था। उन्हें नमस्कार भी किया था परन्तु उनसे वार्त्तालाप नहीं हुआ था। वह चौपाल में जाकर उन्हें नमस्कार करके एक ओर खड़ा हो गया।

'बैठ जाओ।' ज़मींदार महाशय ने कहा और रमेश बैठ गया।

'कैसी चल रही है पाठशाला ?' उन्होंने पूछा।

'जी दया है आपकी, परन्तु लोग बच्चों की शिक्षा के प्रति कुछ उत्साह नहीं दिखलाते।'

'कारण ?'

'कारण तो मैं कैसे बता सकता हूँ ? इतना ही जानता हूँ कि आरम्भ में जितने बच्चे आते थे, उतने अब नहीं आते— फिर भी मैं प्रयत्न कर रहा हूँ कि संख्या में वृद्धि हो।'

'कारण मैं बतलाता हूँ', पंडित जी ने कहा, 'लोग शंकर के घर रहना उचित नहीं समझते।'

'परन्तु मैं तो शंकर के घर नहीं रहता।'

'और कहाँ रहते हो ?' उन्होंने जानते हुए भी पूछा।

'मैं अलग घर में रहता हूँ।'

'कहाँ है वह घर ?'

'गाँव के किनारे पर ही है, शंकर के घर के पास।'

'तुम तो कदाचित् सवर्ण हिन्दू हो, फिर……'

'था परन्तु अब नहीं।'

'मतलब ?'

'शंकर के यहाँ रहने और खाने-पीने से मैं चमार जो हो गया हूँ। गाँव में मेरे लिये स्थान नहीं है।'

'हूँ······। अब तुम इस गाँव के एक सदस्य हो और तुम पर एक बड़ा उत्तरदायित्व है। गाँव के भविष्य-निर्माताओं का चरित्र तुम्हारे ही हाथ है। बच्चे अनुकरण-प्रिय होते हैं— इस बात का सदा ध्यान रखना।'

इङ्गित समझकर रमेश तिलमिला उठा। उसे प्रतीत हुआ, जैसे किसी ने उसके चाँटा मार दिया हो। वह प्रतिवाद करने के लिये तैयार हुआ परन्तु कौन था ऐसा जो भगवन्तपुर के ज़मींदार पंडित अम्बादत्त के सामने विरोध का शब्द मुँह से निकाल सकता! 'जी', रमेश ने सिर डाले हुए धीरे से कहा।

'किसी भी वस्तु की आवश्यकता हो तो निस्संकोच मंगवा लेना।'

'जी अच्छा।'

'तो तुम जा सकते हो।' पंडित जी ने कहा और अन्दर चले गये। रमेश भी अभिवादन करके चुपचाप चला आया।

रमेश उस संध्या को बड़ा उदास रहा। कजरी को पढ़ाने में भी उसका जी नहीं लगा। कजरी ने पूछा भी, 'क्या हुआ है तुम्हें?'

'कुछ नहीं', रमेश ने उत्तर दिया।

'फिर इतने उदास क्यों हो?'

'सिर में दर्द है।'

'दबा दूँ?'

'नहीं', रमेश ने रुखाई से कहा।

कजरी कुछ देर चुपचाप बैठी रही फिर उठ कर चली गई। रमेश चारपाई पर पड़ा-पड़ा चुपचाप करवटें बदलता रहा। वह अपने मन को टटोलने लगा: क्या वह वास्तव में कजरी की ओर आकर्षित हो गया था? 'नहीं', मन ने उत्तर दिया। उसके मन पर तो कोई और अधिकार किये बैठी थी। प्रतिदिन सोने से पहले उसे सरोज का ध्यान निश्चित रूप से आता था और वह उसी के विषय में सोचता-सोचता सो जाता था और स्वप्न में भी सरो उसके साथ ही रहती थी। समय और दूरी ने सरोज के प्रति उसके भावों में अन्तर नहीं डाला था। उसके हृदय तथा सरोज के बीच जो सीधा सम्बन्ध था उसमें कजरी का कहीं स्थान उसके ध्यान में नहीं आया था, परन्तु उस दिन जो अप्रिय बात सामने आ गई थी उससे वह एकदम अव्यवस्थित हो गया था और वह अपने आपको टटोलने पर बाध्य हो गया। सोचते-सोचते उसका मन सैकड़ों मील दूर उड़कर सरोज के पास पहुँच गया ······

और भाग्य की बात सरोज भी उस समय अपने निद्राहीन तकिये पर पड़ी सोच रही थी कि उसका रामी कहाँ होगा, कैसा होगा, क्या करता होगा........

* * * * *

सरोज को जैसे ही सुबोध से ज्ञात हुआ कि रमेश का प्रश्न-पत्र बिगड़ गया, वह बड़ी दुखी हुई, परन्तु जब संध्या तक सुबोध को रमेश अपने घर नहीं मिला और रात को रमेश के पिता जी घबराए हुए रमेश को ढूँढते हुए उनके घर आए तो उसकी दुश्चिन्ता का पारावार नहीं रहा। उसके मन में भाँति-भाँति की आशंकाएँ उठने लगीं। वह सारी रात उसने तारे गिन कर काटी।

इस प्रकार एक दिन बीता, दो दिन बीते, कई दिन बीत गये, फिर भी रमेश का कोई पता नहीं चला। सरोज अपना दिन भर का कार्य करती, परन्तु एकान्त पाते ही चुपचाप आँसू बहाती रहती। दिन पर दिन और महीने पर महीने खिसकने लगे। कभी-कभी उसे रमेश पर झुँझलाहट होती। वह सोचती : 'ऐसे निर्मोही निकले कि एक बार मिले तक नहीं। हाल तो जाने की ऐसी आवश्यकता ही क्या थी! और क्या कभी फ़ेल नहीं होते? परन्तु उनका कौन बैठा है यहाँ जिसका ध्यान उन्हें रोकता! अपनी लाज के आगे जब उन्होंने अपने माता-पिता के दुःख को भी कुछ नहीं समझा तो मैं तो उनकी कुछ भी नहीं होती।' वह रमेश के पत्र निकालती, उन्हें कई-कई बार पढ़ती, चूमती, छाती से लगाए रात-रात भर रोती हुई पड़ी रहती। पत्रों के एक-एक अक्षर से जो प्रेम टपकता उसे प्रकट करने वाले की स्मृति उसे रुलाती रहती। कभी सोचती : 'कैसे झूठे होते हैं ये पुरुष भी! पत्रों से तो प्रकट होता है जैसे मेरे बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकेंगे और जब गये तो एक बार भी नहीं मिल सके और फिर जाकर सुधि भी नहीं ली। और नहीं होता तो जहाँ भी थे वहीं से कम से कम अपनी कुशल की सूचना तो दे देते।'

रमेश के घर की दशा बुरी थी। रमेश की बीमारी के कुछ ही दिनों में सारा घर अस्त-व्यस्त हो गया था और जब वह बिना कहे-सुने बिलकुल अदृश्य ही हो गया तब उन बेचारों की क्या दशा हुई होगी— यह कल्पना करना किसी के लिये भी कठिन नहीं होगा। पिता बेचारे की तो मानो कमर ही टूट गई थी। कितनी आशा से वे एक-एक दिन गिन रहे थे कि कब रमेश बी० एस-सी० पास करके कहीं कुछ काम-धन्धा देखेगा और वे अपने अन्तिम दिन कुछ आराम से काटेंगे— परन्तु वह सब स्वप्न की भाँति टूट गया। माता बेचारी रो-रो कर आँखें फोड़ रही थीं। वे रोने के अतिरिक्त कर भी क्या सकती थीं। परन्तु वे चुप नहीं बैठीं। उन्होंने बड़ी खींच-तान करके बचाए हुए रुपये निकाले और समाचारपत्रों में विज्ञापन दिये। विज्ञापनों का भी कोई उत्तर न पाकर घर में दुश्चिन्ता की काली छाया छा गई। सबके हृदय में सन्देह उठ खड़ा हुआ कि कहीं रमेश ने फ़ेल होने के दुःख से

आत्महत्या तो नहीं कर ली। इन्दु और महेश की दशा तो और भी बुरी थी। महेश हर समय 'भाई जी, भाई जी' की रट लगाए रहता था। सरोज कई बार रमेश के घर गई। उन लोगों को ढाढ़स बँधाया। परन्तु इतने दुःख में ढाढ़स क्या कर सकता है? महेश सरोज से खूब हिला-मिला था। सरोज उसे कुछ दिन के लिये अपने घर भी ले गई, परन्तु शीघ्र ही महेश के घर वालों ने उसे वापस बुला लिया। दो पुत्रों में से एक तो चला ही गया था। उस छोटे को अब वे अपनी आँखों से दूर नहीं करना चाहते थे। परन्तु असीम दुःख के कारण उन्होंने महेश पर भी अधिक आशा और भरोसा करना छोड़ दिया था! जब बड़े ने ही साथ नहीं दिया तो उस बच्चे से क्या आशा की जा सकती थी। वह तो आँधी का दीपक था।

सुबोध को रमेश के जाने का कम दुःख नहीं था। अपना अभिन्न मित्र खोने के अतिरिक्त वह रमेश के परिवार के दुःख से दुखी था। रमेश के परिवार की दशा उससे छिपी नहीं थी, परन्तु वह कुछ कर नहीं सकता था। सीधे रुपये-पैसे से सहायता करना सम्भव नहीं था। वे लोग इस बात को कभी भी स्वीकार न करते। उनका आत्मसम्मान उन्हें दया का दान स्वीकार करने की अनुमति नहीं देता था। सुबोध ने कुछ और सोचा। रमेश के जाने से इन्दु की पढ़ाई चौपट हो गई थी। विद्यालय में वह जाती नहीं थी और घर पर शिक्षक वे लोग रख नहीं सकते थे। सुबोध ने कहा कि जब तक रमेश आए तब तक उसके यहाँ का एक नौकर (मुन्शी), जो ठेके के सम्बन्ध में उनके यहाँ काम करता था और जो काफ़ी पढ़ा-लिखा था, इन्दु को पढ़ा देगा। यह कह कर उसने चालीस रुपये मासिक पर एक शिक्षक इन्दु और महेश को पढ़ाने के लिये नियुक्त कर दिया और शिक्षक को भली भाँति समझा दिया कि रमेश के घर वालों पर यह बात प्रकट न होने पाए। केवल इतने से उसे सन्तोष नहीं था, परन्तु वह क्या कर सकता था?

केवल मित्र और उसके परिवार की दशा से ही सुबोध चिन्ताकुल नहीं था बल्कि वह सरोज की दशा भी समझता था। उसे रमेश और सरोज में प्रेम-सम्बन्ध होने का सन्देह तो पहले ही था, रमेश के जाने के पश्चात् सरोज की दशा देख कर सन्देह के लिये स्थान न रहा। सन्देह निश्चय बन गया। यद्यपि सरोज बाहर से खूब संयत रहने का प्रयत्न करती थी फिर भी रात भर रो-रो कर लाल पड़ी हुई उसकी आँखें, उतरा हुआ मुखड़ा, रमेश के घर बार-बार जाना अपनी कहानी कह देते थे। सुबोध समझता था। वह इस सम्बन्ध को अनुचित नहीं मानता था। रमेश में उसे कोई बुराई नहीं दिखाई देती थी। सुबोध की माता जी भी रमेश को हर प्रकार सरोज के योग्य समझती थीं। उनके हृदय में थोड़ी-सी हिचक केवल इस बात की थी कि रमेश का परिवार धनी नहीं था, परन्तु सुबोध की दृष्टि में यह बात इतनी बड़ी नहीं थी कि उनके मार्ग में बाधा बन सकती। सुबोध का विचार

यह था कि एक ही पिता की सन्तान होने के कारण सरोज का भी पिता की सम्पत्ति पर उतना ही अधिकार था जितना स्वयं उसका। यदि सुबोध के मन की बात पूछी जाय तो उसके मन में यह बात जमी थी कि कुछ रुपया लगा कर रमेश को किसी व्यापार में लगा देता, फिर वह जानता और उसका भाग्य। व्यापार में रमेश उन्नति करके चार पैसे वाला आदमी बन जाता तब तो रमेश और सरो के बंधन में बँधने में कोई बाधा ही नहीं रह जाती और यदि रमेश सफल न भी होता तो भी थोड़ा बहुत रुपया ही तो जाता और वह रुपया उस कार्य की तुलना में, जो रमेश ने उस परिवार— विशेषतः सुबोध— के लिये किया था, बिल्कुल नगण्य ठहरता। हाँ इतना अवश्य था कि तब सरोज का भाग्य रमेश के साथ बाँधने का प्रश्न विचारणीय हो जाता।...... परन्तु मन चेती होवे नहीं, प्रभु चेती तत्काल : सुबोध तो इधर रमेश और सरोज के भविष्य की बात मन में लिये था, उधर रमेश ऐसा अदृश्य हुआ कि सारे कार्य-क्रम ही ढेर कर दिये।

यह सब तो था ही, सरोज के लिये एक और चिन्ता खड़ी हो गई थी। सरोज की माता जी ने आँखें मूँदे-मूँदे ही उतनी अवस्था नहीं कर ली थी। वे भी सरोज और रमेश के भावों को समझती थीं। जब तक काम ठीक चल रहा था, तब तक तो उन्हें विशेष चिन्ता नहीं थी। सरोज के विवाह की कोई विशेष शीघ्रता नहीं थी। परन्तु जब सरोज की बिगड़ी दशा देखी और उसका कारण भी समझीं तो उन्होंने इस आवश्यक दायित्व की ओर से अधिक देर उदासीन रहना उचित नहीं समझा। यदि रमेश सम्मुख होता और किसी कार्य में लगा होता तो वे ठहरतीं भी, परन्तु रमेश ने घर से भाग कर ऐसी प्रकृति का परिचय दिया था जिसे वे अपने भावी जामाता में नहीं देखना चाहती थीं। जो मनुष्य इसी अवस्था में इतना कायर हो सकता था कि एक बार की असफलता से घबरा कर ग़रीब माता-पिता तथा विपद्-ग्रस्त परिवार को छोड़ कर भाग जाय, उससे भविष्य में क्या आशा की जा सकती थी? निदान सरोज के लिये वर की खोज होने लगी। यद्यपि खोज ज़ोर-शोर से आरम्भ नहीं हुई थी क्योंकि कम से कम वर्ष भर तो सरोज का विवाह नहीं हो सकता था, कारण कि सरोज के इन्टरमीडिएट परीक्षा पास कर लेने पर ही उसका विवाह करने का विचार था, फिर भी सरोज के लिये तो यह चिन्ता का विषय बन ही गया था। परीक्षा सिर पर थी— भलाई इतनी ही थी कि घरेलू परीक्षा थी— और उस बेचारी के लिये इतनी चिन्ताएँ एक साथ खड़ी थीं। बेचारी रात्रि को पड़ी-पड़ी रमेश को याद करती, कभी उस पर क्रुद्ध होती, कभी मान करती : 'जब उन्हें ही मेरी चिन्ता नहीं तो मैं ही क्यों उनकी चिन्ता में रो-रो कर मरूँ?' कभी शंका उठती कि कहीं किसी और के प्रेम-पाश में तो नहीं उलझ गये, परन्तु वह इस शंका का गला घोंट देती। उसे अपने रामी पर विश्वास था कि रामी उसका है और उसी का रहेगा। कभी सहसा उसे चिन्ता हो जाती कि कहीं उसका रामी बीमार तो नहीं

हो गया होगा। पता नहीं कहाँ पड़ा होगा, कोई अपना पास भी न होगा— क्या पता कोई पराया भी होगा या नहीं? पराया देश, पास में पैसा न टका; कौन सेवा-सुश्रूषा करता होगा और कौन दवा-दारू?

इस प्रकार एक ओर भगवंतपुर में पड़ा हुआ रमेश सरो की याद में छटपटाता और उधर सरो अपने रामी की याद में आँसू बहाती, और समय किसी की ठंडी साँसों अथवा गर्म आँसुओं की चिन्ता न करता हुआ भागा जा रहा था।

१७

एक दिन रमेश ने अपनी पाठशाला के बच्चों की दौड़ करा दी और दौड़ में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय आने वालों को पारितोषिक दिये तथा शेष सबको मिठाई बाँटी। उसके कहने से एक तौलने की मशीन भी चन्द्रमोहन ने मंगवा दी थी। रमेश ने सब बच्चों का भार लिया और कहा, 'हर पन्द्रहवें दिन तुम लोगों का तोल लिया जायगा और इन दिनों में जिसका तोल सबसे अधिक बढ़ेगा और जिसकी छाती साँस लेने पर सबसे अधिक फूलेगी— उसे बहुत सुन्दर पारितोषिक दिया जायगा।'

तोलने की मशीन गाँव के बच्चों के लिये बिल्कुल नई वस्तु थी और फिर जे० बी० मंघाराम, सक्खर, सिन्ध वाले की बनी हुई लाल, पीली, हरी मिठाइयों का लालच भी कम नहीं था। बच्चों में खेल-कूद और व्यायाम की होड़ लग गई। सप्ताह में एक दिन बच्चों को बाहर घुमाने के लिये रमेश ने नियत किया। वह उन्हें बागों में ले जाता तो फल-फूलों के विषय में बतलाता। खेतों में ले जाता तो अनाजों के विषय में सिखाता। इस प्रकार कभी जंगलों में पेड़-पौधों की पढ़ाई होती, तो कभी पशु-पक्षियों के विषय में। कभी नदी किनारे जाकर वहीं प्राकृतिक भूगोल का ज्ञान करा देता। उस नदी तथा ऊँचे-नीचे टीलों वाले प्रान्त में झरना, झील, डेल्टा, पठार, प्रायद्वीप आदि के नमूने बना कर और बच्चों से बनवा कर समझाता। एक दिन वह बच्चों को नदी किनारे ले गया और एक सुन्दर स्थान को दिखला कर वहाँ पर तैरने के लिये एक छोटा-सा तालाब बनवाने का प्रस्ताव रक्खा। इस स्थान को रमेश तथा चन्द्रमोहन पहले ही देख गये थे। बच्चों को क्या चाहिये! उन्हें खेल मिल गया। धीरे-धीरे नदी का उथला तल, गहरे तथा चौड़े तालाब में परिवर्तित होने लगा। ग्रामवासियों ने भी इसमें रुचि प्रदर्शित की। युवकों ने बड़े-बड़े पत्थर हटाए, बच्चों ने छोटे पत्थर और बजरी। किसी ने रोड़ी हटाई और बड़े-बूढ़ों ने किनारे पर जमाई। सप्ताह में दो दिन काम करके कुछ दिनों में तालाब बन गया, परन्तु सुरक्षा के विचार से अधिक गहरा नहीं बनाया गया। यह सब होता रहा परन्तु इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं कि रमेश अध्ययन की ओर से शिथिल हो गया। कक्षा में पढ़ने के लिये अलग पारितोषिक,

लिखने के लिये अलग, और सब से अधिक बार उपस्थित तथा नियमित रहने के लिये अलग। बच्चे आरम्भ में तो थोड़ी-सी ही बातें जानते हैं : स्नेह तथा लालच। रमेश ने दोनों ही मुक्त-हृदय से दिये। फिर पाठशाला क्यों न चलती? रमेश ने कुछ ही समय में चन्द्रमोहन तथा ज़मींदार महाशय को दिया हुआ वचन पूरा किया। पढ़ने की अवस्था योग्य कदाचित् ही कोई बालक घर रहता था। परन्तु किसी को फलते-फूलते देख कर प्रसन्न होने वाले संसार में कम ही होते हैं। गाँव वालों में से कुछ लोग पहले भी ज़मींदार साहब से रमेश की बुराई करते थे, अब भी करने लगे। परन्तु अब की बुराइयाँ दूसरे ही ढङ्ग की होने लगीं : मास्टर बच्चों को बहकाता है, वे घर का काम नहीं करते। खेत में भेजो तो पाठशाला में पहुँचते हैं। बैल चराने भेजो तो तालाब में तैरते मिलते हैं। खलिहान में भेजते हैं तो जंगल की ख़बर लाते हैं। कुछ लोग कहते कि इस मास्टर ने तो ग़रीबों को जड़ से मिटाने की ठान ली है। बच्चे गंदे कपड़े नहीं पहनते। कहाँ से उनके लिये रोज़ रीठे और साबुन लाएँ? रोज़ किताब-कापी के लिये सिर रहते हैं। पता नहीं पढ़ते हैं या फाड़ कर फेंक देते हैं। भला कहीं सचमुच ऐसे पढ़ा जा सकता है! पहला मास्टर साल भर में भी एक पोथी नहीं पढ़ा सकता था और यह पढ़ाता है चार!...... आदि, परन्तु ज़मींदार महोदय इन शिकायतों को सुन कर रमेश से अप्रसन्न होने के बदले मन ही मन और प्रसन्न होते। ज़मींदार घर में रमेश का मान बढ़ गया। और जहाँ तक स्कूल के चलने का सम्बन्ध था, उसमें तो कोई अड़चन रही ही नहीं थी क्योंकि रमेश तथा चन्द्रमोहन के जी-जान से जुटे रहने के अतिरिक्त सरस्वतीदेवी स्वयं उनकी सहायता करती थीं। पाठशाला में एक और बात स्वयं ज़मींदार-गृहिणी की इच्छा से होने लगी थी : प्रत्येक सोमवार को गर्म तथा मीठे दूध के भरे बंटे या कभी-कभी फलों के टोकरे पाठशाला में पहुँच जाते थे और बच्चों में बाँट दिये जाते थे। सरस्वतीदेवी का यह व्यक्तिगत व्यय था। मोटे-ताज़े, कामचोर भिखमंगों को दान में धन नष्ट न करके वे इस प्रकार सद्व्यय करने लगी थीं। सोमवार का दिन रमेश की छाँट पर रक्खा गया था, क्योंकि कभी-कभी बच्चों को इतवार की छुट्टी मना कर ऐसी सुस्ती आती थी कि फिर सोमवार की भी छुट्टी रहती और फिर जहाँ दो दिन की छुट्टी उड़ा ली, फिर तो पढ़ने को जी कम ही करता था। इसलिये सोमवार एक परीक्षा का दिन होता था, परन्तु दूध और फल का आकर्षण छुट्टी के मज़े से अधिक था।

रमेश केवल गुड़ ही नहीं था, वह नीम बनना भी जानता था। अपनी आज्ञा का उल्लंघन वह सहन नहीं कर सकता था। किसी लड़के ने उलट कर उसकी बात का धृष्ट उत्तर दिया, फिर वह लड़का उस दिन पाठशाला में नहीं ठहर सकता था। जहाँ एक ओर रमेश इतना सीधा था कि छुट्टी के समय दो-चार बच्चे उसके हाथ पर

सदा ही भूजते हुए आते और जाते थे, वहाँ भोंडी शैतानी करने पर कमची का प्रयोग करने में भी वह नहीं चूकता था। अधिकांश तो किसी भी शरारती बालक को उसके स्थान पर मूर्त्तिवत् जड़ देने के लिये रमेश की एक कठोर दृष्टि ही यथेष्ट होती थी, परन्तु कभी-कभी और अधिक कठोरता भी उसे व्यवहार में लानी पड़ती थी।

चन्द्रमोहन रमेश के हाथों पाठशाला सौंप कर और अपने हाथ में युवकों के अखाड़े का कार्य लेकर सन्तुष्ट था। परन्तु अपनी इच्छानुसार शिक्षा-संस्था बना कर भी स्वयं रमेश सन्तुष्ट नहीं था। चिन्ता का पहला कारण तो पाठशाला ही थी। रमेश की पाठशाला की प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि आस-पास के गाँवों के लोग भी अपने बच्चों को वहाँ भेजने के इच्छुक हो गये, परन्तु अब वह पाठशाला केवल भगवन्तपुर के ही लिये यथेष्ट नहीं रही थी। न तो उसमें इतना स्थान ही था और न अधिक व्यय माँगने की गुंजायश थी। वह पाठशाला ज़मींदार द्वारा संचालित थी और यदि सच पूछा जाय तो वह पाठशाला नहीं खुली थी— द्वार पर हाथी बँध गया था। जब उसमें ही इतना व्यय होता था तो दूसरे गाँवों के लिये कौन करता? और गाँवों के ज़मींदारों अथवा धनी कृषकों के पास न इतना रुपया था और न हृदय। ज़िला बोर्ड पन्द्रह रुपल्ली के मिडिल पास मास्टर रखता था। वे लोग इस प्रकार पाठशाला चलायेंगे, यह सोचना भी मूर्खता थी। यदि थोड़ी देर के लिये व्यय तथा स्थान की समस्या हल भी हो जाती तो योग्य व्यक्ति मिलने का प्रश्न सामने खड़ा हो जाता था। अकेले रमेश के लिये उतने ही बालक संभालने भारी होने लगे थे— अधिक किस प्रकार संभालता? उसे सहकारी की अत्यन्त आवश्यकता थी और सहकारी भी वह खूब शिक्षित चाहता था। प्रथम तो ग्रेजुएट होता और नहीं तो कम से कम इंटरमीडिएट होना तो आवश्यक था। एक दिन इसी विषय को लेकर उसने चन्द्रमोहन से बातचीत की।

'मुझे एक सहकारी की आवश्यकता है।' रमेश ने कहा।

'तो किसी मिडिल पास को रख लो।' चन्द्रमोहन ने उत्तर दिया।

'नहीं भाई। मिडिल पास से काम नहीं चलेगा।'

'तो?'

'ग्रेजुएट।'

'हँसी कर रहे हो?' चन्द्रमोहन ने कहा, 'भारतवर्ष में एक ग्रेजुएट गाँव में काम करने के लिये सहमत हो जाय तो यह संसार का आठवाँ आश्चर्य होगा। यहाँ तो बच्चा पैदा बाद में होता है और माँ-बाप सोच पहिले लेते हैं कि बच्चे को पढ़ा-लिखा कर नौकरी करायेंगे— और नौकरी भी सरकारी। 'अफ़सरी लैन में भेजेंगे,

अफ़सरी।' सरकारी नौकरी मिलना तो हम ग़ुलामों का परम सौभाग्य है। सरकारी नौकरी से सम्बन्धित अधिकार की भावना और नौकरी से अवकाश मिल जाने पर पेंशन के लालच ने भारतीयों को अन्धा बना रक्खा है। विदेशी सरकार का यह इतना अचूक जाल है कि इसके मोहक फंदे से विरला ही उच्च-शिक्षा-प्राप्त भारतीय बच पाता है। विदेशी सरकार की सफलता की कुञ्जी भी यही है। देश के उच्च मस्तिष्क तुलना की परीक्षाओं द्वारा दोहरी दासता में जकड़ कर अपने पंजे में कर लेना और उन्हीं के द्वारा ग़रीब देशवासियों का रक्त चूसना सफ़ेद सरकार को खूब आता है। क्षमा कीजियेगा मास्टर जी, यदि मैं कहूँ कि परिस्थिति-वश यदि आप यहाँ न आ गये होते तो कदाचित् आप भी सरकारी नौकरी करके नाम, ग्राम, यश कमाते......, देखो न भाई...... और कुछ हद तक लोग ठीक भी हैं। भला इस निर्धनता के समय में दो सौ रुपये की ओहदेवाली नौकरी का लालच छोड़ कर पचास रुपये पर गाँव में मास्टरी करने कौन आना चाहेगा जहाँ न उन्नति की जगह है न बढ़ती की......'

परन्तु रमेश बीच में ही उत्तेजित हो जाता और कहने लगता, 'यह ठीक है। ग़रीब आदमी कोई नहीं आना चाहेगा। परन्तु देश-सेवा के लिये ग़रीब ही तो नहीं, अमीर भी तो आगे आने चाहियें। धनी माता-पिता के शिक्षित पुत्रों को— जिन्हें पेट तथा परिवार की चिन्ता नहीं— यह व्रत लेना चाहिये। मैं देखता हूँ कि बहुत-से लोग किसी विश्वविद्यालय को अथवा किसी बड़े विद्यालय को अपनी सेवाएँ निःशुल्क अर्पण कर देते हैं, परन्तु मैं कहता हूँ कि उन बड़े-बड़े स्थानों पर कार्य करने के लिये तो सैंकड़ों मिल सकते हैं। वे संस्थाएँ तो पैसा व्यय करके भी कार्यकर्त्ता प्राप्त कर सकती हैं। उन लोगों की सेवाओं की वास्तविक आवश्यकता तो यहाँ गाँवों में है इन ग़रीब आदमियों के बीच, जिनके पास ख़र्च करने के लिये पैसा, बड़ी-बड़ी बातें तथा ऊँची श्रेणी की प्रशंसा करने योग्य चातुर्य्य नहीं, परन्तु जो उनकी सेवा के कदाचित् नगरनिवासियों से अधिक अधिकारी हैं......'

'परन्तु यह हो कैसे सकता है? कोई करे तब तो। हम किसके सिर हो जायें जा कर?' चन्द्रमोहन कहता और रमेश इसका उत्तर न पाकर चुप हो जाता, परन्तु इसी उत्तर के लिये चुप होकर बैठ रहना रमेश की प्रकृति में नहीं था। पाठशाला का कार्य जितना चल रहा था, उतना चल रहा था, यदि अधिक नहीं हो सकता था तो उसे और कुछ देखना चाहिये— रमेश सोचता और वह वास्तव में कुछ और देखने लगा था। वह गाँव वालों से विभिन्न विषयों पर बहुधा बातचीत करने लगा। कभी कृषि-सम्बधी, कभी स्वास्थ्य-सम्बन्धी और कभी सामाजिक कुरीतियाँ दूर करने के विषय की। रूढ़ि तथा अन्ध-विश्वास के वह एकदम विरुद्ध था। इनके विरुद्ध प्रचार करने में उन बैठकों में कभी-कभी अप्रिय वातावरण भी उत्पन्न

हो जाता था— कभी-कभी नहीं बल्कि अनेक बार ऐसा हो जाता था। बड़े-बूढ़े अपने होश संभालने के समय से तब तक जिन बातों को देखते तथा मानते आये थे, उनके विरुद्ध वे एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते थे। वे लोग रमेश का घोर प्रतिवाद करते थे। इससे रमेश को बहुत दुःख होता था। उसका कितना ही समय सोच-विचार में निकल जाता था, फिर भी वह साहस न छोड़ता। पुरानी निराशाओं को दूर झाड़ कर वह फिर कमर कस कर नये उत्साह से अपने कार्य में जुट जाता।

इस प्रकार रमेश भगवंतपुर में दिन बिता रहा था, परन्तु उसके दिन मज़े के नहीं थे। विरोधी दल अपने कार्य में लगा हुआ था। रमेश की कोई और पकड़ न पाकर वे उसकी तथा कजरी के सम्बन्ध की नई-नई कहानियाँ बना कर ज़मींदार महोदय तक पहुँचवाने लगे। ज़मींदार महोदय समझते थे। वे रमेश को पहिचानते थे, फिर भी उन्होंने झगड़े को बिल्कुल ही दूर कर देना उचित समझा। उन्होंने फिर शंकर को बुलवाया और उसके आते ही बिगड़ कर बोले, 'क्यों रे शंकरू, गाँव में रहना है तुझे ?'

शंकर के मुख से बोल ही नहीं निकला, वह बेचारा काँपने लगा। केवल हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया और कुछ देर पश्चात् किसी प्रकार साहस करके बोला, 'क्या खता हुई सरकार ?'

'तूने और तेरी लड़की ने गाँव में क्या ऊधम मचा रक्खा है ?'

परन्तु शंकर को तो जैसे कुछ पता ही नहीं। बोला, 'क्या हुआ सरकार ?'

'क्या हुआ ? तेरी लड़की मास्टर के घर रात-रात पड़ी रहती है और मुझसे पूछता है क्या हुआ ?'

शंकर पर मानो वज्रपात हुआ। इतना बड़ा लाँछन उसे सुनना पड़ेगा, इसकी उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी। वह मूर्त्तिवत् खड़ा रहा। ज़मींदार फिर बोले, 'क्यों जाती है वह मास्टर के घर ?'

'सरकार, पढ़ती है मास्टर से।'

'अच्छा पढ़ती भी है वह ?' ज़मींदार महाशय ने कहा और इसके पश्चात् स्वर को धीमा करते-करते स्वाभाविक पर ले आए और शंकर को समझाने लगे, 'पढ़ती है या जो कुछ भी करती है, ठीक है। परन्तु तुझे यह ध्यान रखना चाहिये कि मास्टर भी आख़िर जवान लड़का है और कज्जो भी जवान है। यह बात ठीक है कि मास्टर जैसा भला लड़का आजकल के ज़माने में मिलना आसान नहीं, फिर भी जवानी और बुद्धि में बैर होता है। कल-कलाँ को कोई बात हो गई तो कहाँ जायगा ?

इसलिये जल्दी से जल्दी उसके हाथ पीले कर दे। और हाँ, अब तो तेरे लखौंड वाले भी ब्याह करने को राज़ी होंगे। बस अब देर न कर, चटपट कर ही डाल।'

'पर सरकार, पैसे ....'

'कितने चाहियें ?'

'सरकार देख लें। दो सै रुपै तो लग ही जायँगे।'

'अच्छा जा तू लग्न दे आ और ब्याह का सामान देख। रुपये ले जाना।'

शंकर जब हवेली से चला तो हवा में उड़ रहा था। उसने गाँव में जाकर पंडित जी से लग्न तथा ब्याह का दिन दिखवाया, कभी-कभी का जोड़ा हुआ रुपया उनके आगे रक्खा और दोनों हाथ जोड़ कर माथे से लगा कर चला आया। शंकर ने लग्न तथा विवाह का दिन लखौंड कहला दिया, परन्तु लग्न के दिन उसके भेजे हुए आदमी वापस लौट आए और शंकर को यह संदेशा सुना दिया कि विवाह लखौंड में नहीं हो सकता क्योंकि ठीक लग्न के दिन भावी वर को साँप ने काट खाया था और यद्यपि वह बच गया था फिर भी वे लोग ऐसी कुलच्छनी बहू को अपने घर लाने के लिये किसी भी भाँति सहमत नहीं थे जो आने से पहले ही उनके लाल को खाने की तैयारी कर रही थी। लग्न के दिन तो साँप ने काट खाया और ब्याह हो जाता तो न जाने क्या हो गया होता। सुन कर शंकर ने सिर पीट लिया। बड़ी कठिनता से तो एक पात्र मिला था, वहीं ऐसे ढंग हुए। वह बिगड़ कर कजरी को कोसने लगा— 'इसी के भाग फूटे हैं। बचपन में माँ को खा गई। इतनी बूढ़ी हो गई पर अब तक विवाह का ठीक नहीं लगा। साथ की लड़कियाँ चार-चार बच्चों की माँएँ हो गई हैं। अब जाकर कहीं अपना सिर मैंने फूँका भी था तो पहले ही कुलच्छन दिखा दिये। यह कहीं नहीं जायगी, मेरी ही छाती पर धरी रहेगी ....'

परन्तु कजरी के मन की बात कुछ और ही थी। वह इस सम्बन्ध-विच्छेद से प्रसन्न हुई। समाचार सुन कर उसकी छाती से एक लम्बी साँस बड़ा भारी बोझ उतार कर बाहर निकल गई। रमेश ने उसे पढ़ा-लिखा कर तथा अपने संसर्ग से इतनी ऊँची उड़ानों पर उड़ा दिया था कि वहाँ से फिर चमार के घर के उसी गोबर, घास तथा खाने-पीने और पड़ रहने की नीचाइयों में उतरने का विचार ही उसे पत्थर बना देता था। जब उसकी लग्न भेजने की बात चल रही थी, तब वह रात-रात भर रोती थी। कभी उसका हृदय सबके प्रति विद्रोही हो जाता था। उसे शंकर, रमेश, स्वयं अपने ऊपर— सब पर क्रोध आता। रमेश सारे संसार को छोड़ कर उसके छोटे-से सुखी घर में आग लगाने क्यों आया। पहले कितने सुखी दिन थे! विवाह तो उसका चमार से ही होना था परन्तु तब अपनी जाति का पिछड़ापन उसे बुरा नहीं लगता। रमेश ने उसे पढ़ा-लिखा तथा संसार से अवगत करा कर, अपनी

दुर्दशा का परिचय देकर उसके साथ न्याय नहीं किया, जब उसे ज्ञात था कि पहले तो भारतीय नारी और फिर गाँव की निम्न कही जाने वाली जाति की लड़की कितनी असहाय होती है। कभी सोचती कि बाबा ने रमेश को अपने घर क्यों ठहरा लिया था; और यदि एक रात के लिये ठहरा भी लिया था तो फिर अगले दिन जब वह जाने लगा था तो क्यों नहीं जाने दिया। इन्हें ही क्यों इतनी चिन्ता लगी थी उनकी! कभी वह अपने ऊपर झुँझलाती कि वही क्यों पढ़ने के लिये उत्सुक हुई। बिना पढ़े मर नहीं जाती। और भी लोग गाँव में अनपढ़ हैं, क्या उनका कार्य नहीं चलता? वे जीवन व्यतीत नहीं करते? .... परन्तु इस प्रश्न से विचारों की दूसरी शृङ्खला आरम्भ हो जाती: ठीक जीवन ही तो वे लोग नहीं व्यतीत करते। दासता, अशिक्षा, अंध-विश्वास तथा रूढ़ियों से भरा जीवन भी कोई जीवन है! जिस जीवन का दर्शन रमेश ने उसे अपने सम्पर्क से कराया है, वही वास्तविक है। परन्तु सब भारतवासी उससे कितने दूर हैं! स्त्रियों की दशा तो और भी गिरी हुई है। उसे रमेश की यह बात सुन कर आश्चर्य हुआ था कि दूसरे देशों की स्त्रियाँ अकेली सात समुद्र पार करके देश-विदेश घूमती हैं। वे पुरुषों की भाँति पढ़ती-लिखती तथा राज-काज के कार्यों में सहयोग देती हैं। रमेश ने उसे अपने ही देश की आदर्श महिलाओं की कहानियाँ सुनाईं। पौराणिक युग की सीता, सावित्री, शकुन्तला, गार्गेयी, गान्धारी से लेकर आधुनिक युग की श्रीमती सरोजिनी नायडू, विजय लक्ष्मी पंडित की जीवन-गाथाएँ सुनाईं। कजरी के मन में इच्छा उठती कि काश वह भी पढ़-लिख कर स्त्री-जाति तथा देश की कुछ सेवा कर सकती ...... उस दिन भी कजरी ऐसी ही बातें सोच रही थी। उसकी छाती से एक लम्बी साँस बरबस निकल गई। सहसा उसे समय का ध्यान आया। वह हड़बड़ा कर उठी। सारा काम करने को पड़ा था। परन्तु दिन भर के सोच-विचार के अन्त में उसे अपने इस विवाह-सम्बन्ध के, जिसे वह आसन्न संकट समझ रही थी, टूट जाने से प्रसन्नता हुई।

रमेश को भी इस विवाह-सम्बन्ध के टल जाने से कुछ प्रसन्नता हुई। यद्यपि उसे इस बात की विशेष चिन्ता नहीं थी कि कजरी का विवाह कहाँ तथा किससे होता है, फिर भी वह इस बात का इच्छुक तो था ही कि वह किसी निपट गँवार के पल्ले न पड़ कर किसी सुपात्र के साथ ब्याही जाय। कजरी अब पढ़-लिख कर काफ़ी बदल गई थी। उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो गया था। किसी निपट मूर्ख के पल्ले उसे डालना उसका गला काटना था। निम्न श्रेणी में भी तब जागृति फैलने लगी थी। उनमें भी पढ़े-लिखे तथा सुधार-प्रेमी युवक होने लगे थे। यदि वैसा ही कोई युवक कजरी के लिये मिल जाता तो रमेश काफ़ी सन्तुष्ट होता।

उस दिन संध्या समय पाठशाला से आकर रमेश ने देखा कि घड़े में पानी नहीं था। वह पानी लेने बावड़ी की ओर गया। एक तो बावड़ी पास थी और दूसरे वह

गाँव के कुएँ से पानी ले भी नहीं सकता था। संयोग से कजरी भी उस समय पानी भर रही थी। रमेश पानी भरने लगा तो वह भी रुक गई। पानी भर कर दोनों साथ लौटे। रमेश कजरी के विवाह-सम्बन्ध टूटने की बात जानता था और कजरी पर उसका प्रभाव भी स्पष्ट देख रहा था, फिर भी पता नहीं क्यों इस विषय पर बात करने की उसकी इच्छा हो आई। थोड़ी दूर चल कर उसने पूछा, 'क्यों कजरी, कब हो रहा है विवाह ?'

'जब आप करा दें।' कजरी ने उत्तर दिया।

'भला मैं तुम्हारा विवाह कैसे करा सकता हूँ ? मैं न पंडित हूँ, न मुल्ला और न पादरी ....'

कजरी बोली नहीं। रमेश ने फिर कहा, 'क्यों, बतलाया नहीं ?'

'जैसे आप जानते ही नहीं।' कजरी ने सस्मित कहा।

'जानता हूँ, परन्तु तुम्हारे मुख से सुनना चाहता हूँ।'

'और यदि मैं न कहूँ तो ?'

'देखो कजरी, गुरु की आज्ञा मानना ... .'

'तो यह आज्ञा है ?'

'जो समझो।' रमेश ने कहा।

सहसा कजरी खिलखिला कर हँस पड़ी। रमेश उस असामयिक हँसी से चौंका और बोला, 'क्यों, ख़ैर तो है ?'

'ख़ैर सोलह आने।'

'फिर हँसी क्यों ?'

'सोचती हूँ कि क्या आपने मुझे इसी लिये इतना पढ़ा-लिखा तथा समझा कर ऊँचा उड़ाया था कि किसी छोटे-से घर में सवेरे से शाम तक घास-गोबर का काम करती और अनपढ़ पति की छोटी से छोटी इच्छा पूरी करने में असमर्थ होते ही लात, घूँसों और गालियों का प्रसाद पाती ...... बड़ा मज़ा आता यदि वैसा हो जाता।' कजरी ने इतना कहा और दोनों हँसने लगे।

उसी समय पास की पगडंडी से चन्द्रमोहन सामने आ गया। वह कुछ देर दोनों को हँसते हुए देखता रहा। उसके मुख पर अनेक भाव आए तथा गए। सहसा उसने आगे बढ़ कर रमेश से कहा, 'मास्टर जी, ठहरिये, आप से कुछ काम है।' चन्द्रमोहन को सामने देखते ही कजरी और रमेश दोनों ठिठक गये थे। किसी प्रकार दोनों ने ही अनुभव किया कि चन्द्रमोहन के स्वर में सन्देह स्पष्ट था और उसने उन दोनों को ग़लत समझा है। दोनों ने अनुभव किया कि यह ठीक नहीं हुआ, मानो वे

चोरी करते पकड़े गये हों। वे चन्द्रमोहन के मुख की ओर देखने लगे। चन्द्रमोहन ने कहा, 'कजरी, तुम जा सकती हो। मुझे मास्टर जी से काम है।' कजरी एक बार व्यथित दृष्टि से रमेश की ओर देख कर चली गई। चन्द्रमोहन ने अन्दर ही अन्दर दाँत पीसे। कजरी के दूर निकल जाने पर उसने रमेश की ओर मुँह किया। कुछ देर स्थिर तथा तीव्र दृष्टि से उसके मुख को देखा और तेज़ी से कहा, 'रमेश! मैं यह सहन नहीं कर सकता। इस बात का ध्यान रखना कि कजरी पहले मेरी है।'

इतना कह कर चन्द्रमोहन तो शीघ्रतापूर्वक एक ओर को चला गया, परन्तु रमेश उसी स्थान पर प्रस्तर-प्रतिमा के समान जड़ा हुआ खड़ा रह गया ....

१८

जिस दिन रमेश तथा चन्द्रमोहन का यह अप्रिय साक्षात् हुआ था उस दिन संध्या के लिये रमेश का यह कार्य-क्रम था कि कुछ बच्चों तथा युवकों को एकत्रित करके नदी पर जाता और वहाँ से पत्थरों की गाड़ियाँ भरवा कर गाँव की गलियों में ठीक-ठीक बिछवा देता। वर्षा तो आरम्भ हो ही चुकी थी। गलियों में कीचड़ के मारे चलना दूभर हो रहा था। गाँव की ऐसी अस्वास्थ्यकर दशा रमेश को बिल्कुल नहीं भाती थी। वह उसे सुधारने के लिये प्रयत्नशील रहता था। परन्तु उस दिन तो चन्द्रमोहन की एक ही बात 'कजरी पहले मेरी है.........', उसके मस्तिष्क में घूम-घूम कर उसे व्यथित करती रही। कभी वह क्रुद्ध होता, कभी दुःखी होता और कभी किसी अज्ञात कारण से प्रसन्न होता। कभी-कभी वह चन्द्रमोहन के इस आकस्मिक कथन का कारण ढूँढने का प्रयत्न करता। 'चन्द्रमोहन ने ऐसा कहा ही क्यों........ क्या उसकी ओर से कजरी के प्रति किसी भी व्यवहार में आवश्यकता से अधिक आसक्ति प्रतीत होती थी? परन्तु उसने स्वयं तो कभी अपने तथा कजरी के सम्बन्ध को गुरु-शिष्या के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचा और फिर उसे आवश्यकता भी क्या थी! परन्तु............' सोचते-सोचते एक 'परन्तु' बीच में आ खड़ा होता था। क्या वास्तव में वह कजरी की ओर और किसी रूप में कुछ भी आकर्षित नहीं था? क्या 'रसरी आवत जात ते सिल पर होत निसान' भी उनके सम्बन्ध में बिल्कुल लागू नहीं होता था? और फिर जब दो प्राणियों की बात होती है तो एक को केवल अपने ही मनोभावों पर तो उस बात की सम्भावना अथवा उसके औचित्य-अनौचित्य पर विचार नहीं कर लेना चाहिये। क्या कजरी भी उसे केवल गुरु की दृष्टि से देखती है? क्या गुरु और शिष्या से अलग वे युवक तथा युवती नहीं हैं, जिन्हें भाग्य ने मिला कर एक साथ रहने का अवसर दिया था। मान लिया कि उसका हृदय भरा है— अथवा कहा जाय कि भरा था; सरो को वह समस्त हृदय से प्रेम करता था और सरो भी उसकी थी परन्तु क्या डेढ़ वर्ष के अलगाव से उस प्रेम अथवा आकर्षण में कुछ भी अन्तर नहीं आया था? क्या फिर किसी युवती के सामीप्य की भूख उसके अपने हृदय में बिल्कुल नहीं जगी थी? रमेश कभी सोचता कि मैथिलीशरण जी का 'परोक्ष नहीं सह सकता प्रेम' ठीक है, इतने समय के अलगाव के पश्चात् उसका

हृदय सरोज के प्रति उतना सच्चा नहीं रहा था जितना तब था जब वह सम्मुख थी, पास थी, जब वह उसे देख सकता था, उससे बात कर सकता था, उसे आलिंगन कर सकता था, चुम्बन कर सकता था।········ और कभी सोचता— नहीं, प्रेम पर समय और दूरी का प्रभाव नहीं पड़ सकता। वह अब भी सरोज के प्रति उतना ही आकर्षित है जितना पहले था······ परन्तु कजरी········ लोग? या तो रमेश स्वयं अपने सम्बन्ध को ग़लत समझ रहा है या लोग भ्रम में हैं·········

रमेश सोचता रहा, परन्तु केवल सोचने से संसार का कार्य नहीं चल जाता। जब अँधेरा छा गया तो उसे उठना पड़ा। उसने दीपक जलाया और खाना बनाने की आधी-सी इच्छा से एक बार इधर-उधर दृष्टि डाली, परन्तु मन में ही खाना बना कर खाने योग्य उत्साह न पाकर वह फिर चारपाई पर लेट गया।

अपने समय पर कजरी बर्तन माँजने आदि के लिये आई, परन्तु रसोई में ठंडक देख कर उसके अपने हृदय की उष्णता बहुत कुछ कम होती प्रतीत हुई। उसने अन्दर झाँक कर देखा। रमेश माथे के ऊपर हाथ बाँधे चित लेटा हुआ, अपलक छप्पर की कड़ियों को देख रहा था। कजरी धीरे-धीरे अन्दर गई परन्तु रमेश अपने ध्यान में इतना डूबा हुआ था कि उसे कजरी का आना पता ही नहीं चला। कजरी ने धीरे से पुकारा, 'मास्टर जी!' रमेश आवाज़ सुनते ही चौंक पड़ा और हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ। फिर कजरी को देख कर बैठते हुए बोला, 'अरे तुम थीं कजरी? मैं तो·········'

'क्यों, डर गये क्या?'

'नहीं तो।'

'फिर मैं तो क्या?'

'कुछ नहीं।' रमेश ने कहा। फिर कुछ देर तक दोनों चुप रहे। रमेश कजरी को ऊपर से नीचे तक देखता— नहीं बल्कि घूरता— हुआ सोच रहा था— क्या मैं वास्तव में इस कजरी के प्रति आकर्षित हो गया गया हूँ?— परन्तु प्रकट में उसने कहा, 'कैसे आई कजरी?'

कजरी ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। कुछ देर चुप रह कर वह सहसा बोली, 'मैं पूछती हूँ किसी को सताने में तुम्हें क्या आनन्द मिलता है?'

'यह कैसी बात?' रमेश ने अपने मन में प्रश्न किया। 'क्या सचमुच हमारा सम्बन्ध जो मैं समझता रहा हूँ, उसे छोड़ कर कुछ और है? यदि नहीं, तो कजरी की यह बात और उसका ऐसा स्वर क्यों?' उसे झुँझलाहट हुई। यदि कोई मनुष्य किसी बात की ओर से आँख मूँद कर रहना चाहे तो आँख खुलवाने वाला कोप-भाजन होता ही है। परन्तु रमेश ने झुँझलाहट को दबा कर कहा, 'मैंने किसी को

क्या सताया है भला ?'

'तुमने आज खाना क्यों नहीं खाया ?'

'भूख नहीं थी।'

'क्यों नहीं थी भूख ?'

'वाह यह भी कोई प्रश्न है ?' रमेश ने कहा।

'प्रश्न न होता तो पूछती क्यों ?'

'भूख नहीं थी तो नहीं थी। इसमें क्यों की क्या बात ?'

'.................'

'चन्द्रमोहन से कुछ बात हुई थी ?' कजरी ने पूछा।

'हाँ।'

'क्या ?'

'कुछ विशेष नहीं।'

'तो साधारण ही बतला दीजिये।'

'अरे तुम्हारे मतलब की कोई बात नहीं थी।'

'हूँ......', कजरी ने संदिग्ध तथा मान भरे स्वर में कहा। रमेश पर उस छोटी-सी 'हूँ......' का और सारी बातों से अधिक प्रभाव पड़ा। वह चिढ़ गया और बोला, 'तुम लोग इतनी जिज्ञासु क्यों होती हो ?'

परन्तु कजरी ने उत्तर नहीं दिया। उसके भीतर अकारण ही उमड़ कर आती हुई रुलाई ने उसका गला रूँध दिया। वह होंठों को दाँतों से दबा कर झटपट बाहर चली गई।

थोड़ी देर उपरान्त कजरी एक गिलास में भर कर दूध लाई और मेज़ पर रख कर बोली, 'दूध पी लीजिये।'

'पी लीजिये', रमेश के कानों में खटका। एक बार उसकी इच्छा हुई कि दूध पीने को मना कर दे परन्तु कदाचित् कजरी पहले से ही उसके मन का भाव ताड़ कर बोली, 'नहीं कह देने से ही काम नहीं चलेगा। दूध पीना ही पड़ेगा।'

बात सुन कर रमेश का मन विद्रोही हो गया। जी में आया साफ़ 'नो' कह दे। 'यह मुझे क्या समझती है', रमेश ने सोचा, 'जो इस प्रकार आज्ञा-सी दे रही है। क्या इसकी प्रत्येक बात माननी मेरे लिये आवश्यक है ? इसका मुझ पर क्या अधिकार जो ज़बरदस्ती करे......', परन्तु कुछ न कह कर उसने चुपचाप दूध पी

लिया। उसके दूध पी चुकने पर कजरी जब जाने लगी तो रमेश ने पूछा, 'क्यों, आज पढ़ोगी नहीं ?'

'नहीं।' कजरी ने उत्तर दिया।

'तुम्हारी इच्छा', कह कर रमेश लेट गया, परन्तु नींद तो उससे कोसों दूर थी।

* * * *

भगवन्तपुर में एक बार एक ठाकुर ने मक्का के खेत में रात को सुअर के धोखे में बैल गोली से मार दिया था। गोली छूटते ही अपनी भूल के लिये वह जितना रोया, कलपा और उसने दुःख माना वह बतलाया नहीं जा सकता। इसी प्रकार चन्द्रमोहन कहने को तो रमेश से वह बात कह गया, परन्तु मन का प्रथम आवेग समाप्त होने के पश्चात् जितना दुःखी वह हुआ यह व्यक्त करना कठिन है; परन्तु छूटा हुआ तीर लौट नहीं सकता। रमेश के मन में वह बात जम गई थी, वह भुलाई नहीं जा सकती थी। भुलाने का कदाचित् एक ही मार्ग था और वह यह कि जब रमेश के मस्तिष्क में विकार आ जाता और तब भी कोई निश्चय नहीं था कि वह बात भूली ही जाती। परन्तु चन्द्रमोहन इतना नीच नहीं था कि अपनी भूल रमेश के मस्तिष्क से उड़ाने के लिये उसके पागल होने की कामना करता। फिर भी वह अपने व्यवहार से बड़ा लज्जित रहा। सोचता रहा। अपने ऊपर झुँझलाता रहा—'क्या गधेपन की बात कर बैठा हूँ! मेरा क्या अधिकार हो सकता है उस चमार की छोकरी पर ? और अधिकार ले कर करूँगा भी क्या ? जो बात मैं ईर्ष्या-वश रमेश के मुख पर कह आया हूँ, क्या वही चार आदमियों के बीच कह सकता हूँ ? क्या प्रकट में मैं एक ब्राह्मण तथा धनी पिता का पुत्र इस बात को कहने का स्वप्न में भी विचार कर सकता हूँ कि चमार की लड़की से मेरा कोई सम्बन्ध है या उस पर मेरा कोई अधिकार है ? फिर ऐसी भद्दी भूल कैसे हुई ?' कभी चन्द्रमोहन को डर होता कि कहीं रमेश इस बात को प्रकट न कर दे। यदि गाँव वालों में से किसी ने अथवा उसके पिता ने सुन लिया तो बस— सब कुछ समाप्त हो जायगा। वह कहीं का नहीं रहेगा। कभी सोचता— 'नहीं, रमेश ऐसा नहीं करेगा।' कभी कुछ, कभी कुछ चिन्ता उसे लगी रही। कुछ भी निश्चय न कर पाने के कारण वह झुँझला कर लेट गया परन्तु चिन्ता ने तब भी पीछा न छोड़ा।

प्रातःकाल नित्य-कर्म से निवृत्त होकर रमेश जब अपने पढ़ने-लिखने के धन्धे में प्रवृत्त होने को था तो चन्द्रमोहन को अपने घर के सामने देख कर उसे आश्चर्य हुआ। साथ ही यह सोच कर कि कदाचित् पहले दिन की बात के सम्बन्ध में कुछ और कहने आया है, उसे कुछ क्रोध भी हो आया, फिर भी उसने चन्द्रमोहन को आदर से अन्दर बुला कर बैठने के लिये कहा। परन्तु चन्द्रमोहन ने कहा, 'नहीं मास्टर जी, मैं बैठने नहीं आया हूँ।'

'तो कहिये आप की क्या सेवा कर सकता हूँ ? रमेश ने कहा।

चन्द्रमोहन कुछ देर तक मानो मन ही मन अपनी बातों को तोलने के पश्चात् बोला, 'देखो रमेश, मैं अपने कल के व्यवहार पर बहुत लज्जित हूँ। मुझे क्षमा करना और सम्भव हो तो मेरी बातों को भूल जाना।'

'भूल जाना!' रमेश ने मन में सोचा, 'यदि किसी को बातों के वाणों से बींध कर उसे भुलवाना सहज होता तो संसार के सारे झगड़े-टंटे ही दूर हो जाते।' परन्तु चन्द्रमोहन को जाते देख कर सहसा वह अपनी विचार-तन्द्रा से जागा और उसने चन्द्रमोहन को पुकारा, 'चन्द्रमोहन जी! ज़रा ठहरना।'

चन्द्रमोहन रुक कर अन्दर आ गया। 'कहिये', उसने कहा।

'चन्द्रमोहन! तुम्हारी कल की बातों से मैं बिल्कुल भी अप्रसन्न नहीं हुआ हूँ, बल्कि यदि विश्वास कर सको तो करना कि मैं तुम्हारी बात से इतना प्रसन्न हुआ हूँ कि व्यक्त नहीं कर सकता......'

'क्या...... ?' चन्द्रमोहन ने हतबुद्धि होकर कहा।

'हाँ चन्द्रमोहन! परन्तु जो कुछ तुमने कहा है, क्या उस पर डट सकोगे?'

'किस बात पर?'

'क्या वास्तव में तुम कजरी पर केवल अपना ही अधिकार करना चाहते हो? है तुम में इतना साहस कि समाज के सम्मुख कजरी को अपनी बना लो?'

चन्द्रमोहन के माथे पर पसीना छलक आया। वह धम्म से पास की कुर्सी पर बैठ गया। उसने बोलने के लिये मुँह खोला परन्तु मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। रमेश कहता गया, 'चन्द्रमोहन! हमारे समाज में इसकी कितनी आवश्यकता है! अपनी जाति के एक बड़े तथा आवश्यक अंग को अस्पृश्य बना कर और उस पर अत्याचार करके हम हिन्दू अपने पाँवों में आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं, फिर भी नहीं चेतते। आज गाँधी जी तथा देश के दूसरे नेता सब अस्पृश्यता तथा रूढ़ियों को दूर करने के लिये सतत प्रयत्नशील हैं परन्तु हमारे कानों पर जूँ भी नहीं रेंगती। यदि गाँवों में, जिन्हें पिछड़ा हुआ कहा जाता है, तुम ब्राह्मण तथा धनी पिता के पुत्र होकर यह कार्य कर दिखाओ तो तुम इस प्रकार समाज की कितनी सहायता करोगे, इसका कुछ ठिकाना नहीं। इस कार्य के लिये मैं तुम्हारी पूजा तक कर सकता हूँ चन्द्रमोहन..........', रमेश अपनी धुन में कहता जा रहा था। तभी चन्द्रमोहन की लम्बी साँस के शब्द से उसका ध्यान टूटा। वह रुक कर उसकी ओर देखने लगा। तभी चन्द्रमोहन ने धीरे-धीरे सिर हिला कर कहा, 'नहीं रमेश, मैं इस योग्य नहीं हूँ।'

'क्या ·········?' रमेश ने एकाएक चिल्ला कर कहा। उसका सुख-स्वप्न बुरी भाँति टूटा। उस समय उसे चन्द्रमोहन पर असीम घृणा तथा क्रोध उत्पन्न हुआ। उसने कड़े स्वर में पूछा, 'तो फिर और किसी लिये कजरी पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे?' परन्तु रमेश स्वयं ही उत्तर सुनने के लिये नहीं रुका। क्रोध के वेग में बकने ही लगा, 'मैं जानता हूँ तुम किसलिये उस पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे— केवल उसके शरीर से खेलने के लिये! ज़मींदारों के अत्याचारों की जो कहानियाँ सुनी थीं, उन्हें यहाँ आकर भूल ही गया था। सोचता था कि सब कोपल-कल्पनाएँ होंगी, यहाँ तो ऐसा कुछ भी नहीं। परन्तु मैं धोखे में था। तुम भी उनसे अलग नहीं हो। तुमने देखा कजरी में यौवन है, आकर्षण है। वह ग़रीब है और बूढ़े पिता को छोड़ कर और कोई उसकी पीठ पर नहीं है। इससे उपयुक्त तुम्हारे उद्देश्य की पूर्ति के लिये और क्या हो सकता था; परन्तु याद रखना, मेरे रहते तुम्हारी दाल नहीं गलने पाएगी। तुम्हें मैं चरित्रवान युवक समझता था, परन्तु तुम्हारे चरित्र की पोल·········'

'बस।' सहसा चन्द्रमोहन ने खड़े होकर कहा। रमेश और चन्द्रमोहन दोनों एक दूसरे को घूरते हुए खड़े रह गये।

चन्द्रमोहन वास्तव में सीधा युवक था। उसके शरीर में इतना बल था कि एक हाथ में रमेश को दूर फेंक देता। परन्तु क्रोध में भी वह आपे से बाहर नहीं हुआ।

'मैं बहुत सुन चुका।' चन्द्रमोहन ने कहा, 'तुम्हें मुझसे कुछ भी कहने का अधिकार·········'

'अधिकार? फिर अधिकार!' रमेश ने बीच में ही कहा, 'तुम्हारी इस अधिकार की बात ने ही तो सारा विष घोला है। तुम कजरी पर अपना अधिकार जमाना चाहते थे, परन्तु किसी पवित्र बन्धन द्वारा नहीं, केवल उसके शरीर पर अधिकार·········'

'रमेश, फिर भूल कर रहे हो। यद्यपि मैं नहीं समझता कि मैं तुम्हारे अथवा किसी और के सामने सफ़ाई देने के लिये बाध्य हूँ, फिर भी तुमने जो मेरे चरित्र पर आक्षेप किया है, वह मैं सहन नहीं कर सकता। जब मैंने तुमसे कहा था तब मैं वास्तव में सच्चे हृदय से चाहता था कि कजरी को अपनी बना लूँ— अपनी तथा समाज, सब की दृष्टि में। परन्तु अब मैं देखता हूँ कि मुझ में इतना नैतिक बल नहीं है। मैं ऐसा नहीं कर सकता·········'

'चन्द्रमोहन!' रमेश ने कहा, 'तुम जो शक्तिशाली हो, धनी हो, जिन पर समाज सहज ही उंगली नहीं उठा सकता, तुम ही आगे पग नहीं बढ़ा सकते, तब

उन लोगों से, जो दीन हैं, निर्बल हैं, जिन्हें हर समय व्यक्ति तथा समाज का डर रहता है, यह आशा करना कि वे इस दिशा में आगे बढ़ेंगे, दुराशा मात्र है।'

'यह तो ठीक है, परन्तु अपने ही गाँव में उन लोगों के सम्मुख, जिनकी गोद में मैं खेला हूँ, इस कार्य को हृदय से उचित तथा आवश्यक समझते हुए भी मैं कर नहीं सकता ·· ·····'

'यह तो केवल न करने का एक बहाना है, अन्यथा यदि कहीं और से तुम कोई निम्न-वर्ण कुमारी लाते तब भी तो उन्हीं लोगों के सामने रखनी पड़ती, या जीवन भर घर-बार छोड़ कर बाहर पड़े रहते ?'

चन्द्रमोहन इस सीधे आक्षेप से जल उठा। जिस मनुष्य की उसने उतने आड़े समय में सहायता की थी— और जो, कहा जा सकता है कि, उसका नौकर था— वही न केवल उपदेश दे रहा था, बल्कि खरी-खोटी सुना रहा था— यह सहन-शक्ति से बाहर था, फिर भी चन्द्रमोहन ने प्रयत्न करके अपने आप को सभाला। रमेश केवल बातें बनाना तथा आरोप लगाना ही नहीं जानता था, वह कार्य भी कर सकता था। चन्द्रमोहन के ग्राम-सुधार-सम्बन्धी स्वप्नों को भौतिक रूप देना रमेश का ही कार्य था। चन्द्रमोहन रमेश की कार्य-कुशलता तथा कार्य-शक्ति देख चुका था। वह रमेश का आदर करता था। इसी लिये तथा कुछ प्रकृति से शान्त-स्वभाव होने के कारण भी— वह आपे से बाहर नहीं हुआ। फिर भी जी की जलन ने चन्द्रमोहन से इतना कहलाया ही, 'रमेश, तुम बातें तो इतनी बघार रहे हो, परन्तु यह 'परोपदेशे पाण्डित्यं' क्यों है ? तुम भी तो कजरी के प्रति आकर्षित हो ·········'

रमेश ने कुछ कहने के लिये मुँह खोला ही था कि चन्द्रमोहन ने हाथ के संकेत से रोक कर कहा, 'ठहरो रमेश, मुझे कह लेने दो ······ तुम कजरी को प्यार करते हो और कजरी भी तुम्हारी ओर से उदासीन नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि वह भी तुमसे प्रेम करती है ··················'

परन्तु रमेश बीच में ही चिल्ला कर बोला, 'मैं तो कजरी से प्रेम नहीं करता।'

'क्या ?' चन्द्रमोहन ने आश्चर्य से कहा, 'तुम कजरी से प्रेम नहीं करते ? तो यह साथ रहना, इस प्रकार हँसना, खिलखिलाना— ये सब क्या घृणा के लक्षण हैं ?'

'मैं और कजरी गुरु-शिष्या हैं ?'

'परन्तु एक अपरिचित युवक तथा एक आकर्षक युवती— चाहे उन्होंने गुरु तथा शिष्या से आरम्भ किया हो— डेढ़ साल हिल-मिल कर रहने के पश्चात् प्रेमी-प्रेमिका नहीं बन जायँगे— इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।'

'और यदि बीच में कोई बाधा हो तो ?' रमेश ने कहा।

'बाधा ?' चन्द्रमोहन हँसा, 'प्रेम में क्या बाधा ?'

'यह किसी उपन्यास अथवा नाटककार की उक्ति है। तुमसे बहस करने की प्रवृत्ति नहीं है, फिर भी जब बातें इस सीमा तक पहुँच गई हैं तो यह कहना अनुचित नहीं समझता कि प्रेम भी प्रेम में बाधक बन सकता है।'

'क्या मतलब ?' चन्द्रमोहन ने पूछा।

'मतलब ? मतलब समझाने योग्य खुला मन अभी कदाचित् हमारे बीच नहीं है, परन्तु तुमने पूछा ही है तो बतलाना पड़ेगा। मतलब यह है कि मैं बहुत पहले से ही किसी और कुमारी को अपने समस्त हृदय से प्रेम करता हूँ। वह मेरी सजातीय है। वह भी मुझसे प्रेम करती है। वह मेरी ही है और यद्यपि वर्तमान परिस्थितियाँ मेरे प्रतिकूल थीं फिर भी हम दोनों को पूर्ण आशा है कि एक दिन हम दोनों विवाह के पवित्र बन्धन द्वारा एक दूसरे के जीवन-साथी हो जायँगे। अब इस हृदय में किसी और के लिये स्थान नहीं। बस मैं इस विषय पर और एक भी शब्द कहना-सुनना नहीं चाहता।' रमेश चुप हो गया।

चन्द्रमोहन उठा। उसने बाहर की ओर जाते-जाते गर्दन झुकाए हुए कहा, 'मुझे क्षमा करना रमेश।'

और जब वे साथ-साथ बाहर निकले तो दोनों ही पत्थर की मूर्त्तियों की भाँति सन्न खड़े रह गये। द्वार के पास ही दीवार के सहारे पीठ लगा कर, आँखें बन्द किये और दाँत तथा हाथ की मुट्ठी भींचे कजरी खड़ी थी। उसके गालों पर होकर आँसू बह रहे थे और उसका मुख मुर्दे के मुख की भाँति रक्तहीन हो रहा था। उनके पैरों की आहट पाते ही कजरी ने एक बार आँखें खोल कर दोनों की ओर देखा और फिर बिजली की तेज़ी से वहाँ से चली गई।

१६

कोटालगाँव वाली मसूरी की नई मोटर की सड़क पूरी हो गई थी। उसके पहली बार खुलने का दिन भी निश्चित हो चुका था। उस दिन के लिये खूब बड़ा आयोजन किया गया था। उस सड़क से होकर पहली बार जाने के लिये मसूरी सिटी बोर्ड के चेयरमैन, इंजीनियर, अन्य उच्च अधिकारी तथा देहरादून म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन, एक्ज़ीक्यूटिव अफ़सर, इञ्जीनियर, अन्य बड़े अधिकारी, देहरादून के ज़िलाधीश, पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट तथा नगर के बहुत से गण्यमान्य सज्जन आमन्त्रित थे। फिर उसी दिन ठेकेदार की ओर से उस अवसर के उपयुक्त शानदार प्रीति-भोज होने वाला था। इधर अधिकारी तथा आमन्त्रित सज्जन उस दिन की बाट जोह रहे थे, उधर देहरादून का एक और दल भी उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था।

जब आकस्मिक रूप से रमेश तथा चन्द्रमोहन दोनों को ही ज्ञात हो गया कि कजरी ने उनकी सब नहीं तो अधिकाँश बातें सुन ली थीं, उसके पश्चात् उन लोगों का एक दूसरे के सम्मुख पड़ना कठिन हो गया था। स्वाभाविक रूप से कजरी उन तीनों में सब से अधिक प्रभावित थी। पठन-पाठन तथा दो शिक्षित युवकों के संसर्ग में आकर ऊँची उड़ान भरने पर भी उसकी वास्तविक अवस्था क्या है— यह कजरी से छिपा नहीं रहा। वह कुछ भी क्यों न बन जाय, 'चमार की लड़की' और 'नीची जाति'— ये दो कलंक की भाँति कभी भी उसके नाम से अलग नहीं हो सकते थे। उसके साथ हँसने-खेलने को— कदाचित् उसके शरीर को अपनाने के लिये भी— बहुत-से तैयार हो जाते, परन्तु समाज के बीच उसके साथ खड़े होकर उसे अपनी जीवन-संगिनी घोषित करने के लिये कोई भी तैयार नहीं होता था। कजरी ने कई बार सोचा कि ऐसे जीने से क्या लाभ। अच्छा हो जो जीवन का अन्त हो जाय। किन्तु चाहने मात्र से तो सब कुछ नहीं हो जाता। यदि हो सकता तो वही वस्तु तो मिल जाती जिससे जीवन जीने योग्य हो जाता। कभी वह सोचती कि कुछ खाकर सो रहे, परन्तु या तो उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि माया, ममता, कर्तव्य तथा शिक्षा-दीक्षा द्वारा अर्जित उपदेश के बन्धन को तोड़ कर आत्म-हत्या करती, या जीवन को शेष करने की इच्छा वास्तविक तथा स्थायी न होकर मिथ्या तथा क्षणिक थी। कुछ भी हो, कजरी मरी नहीं— मर न सकी।

उस दिन के पश्चात् रमेश और कजरी एक दूसरे के सामने आते कतराते थे। रमेश कभी कुछ कच्चा, पक्का, उल्टा, सीधा उबाल कर खा लेता या कभी भूखा ही पड़ रहता। केवल पाठशाला जाना ही उसके कार्यक्रम में नियमित रह गया था। गलियों में पत्थर बिछाने का कार्य अधूरा पड़ा था, परन्तु अब उसे किसी भी कार्य में उत्साह नहीं रहा था।

चन्द्रमोहन कुछ दिन तो मन मारे घर में पड़ा रहा, वर्षा के कारण अखाड़ा भी प्रायः बन्द रहता था, परन्तु उन्हीं दिनों कोटालगाँव वाली सड़क के पूरा होने का समाचार आया और उसके सम्बन्ध में होने वाली धूमधाम की चर्चा भी फैली। इस समाचार ने चन्द्रमोहन के शरीर में मानो विद्युत्-धारा प्रवाहित कर दी। वह आलसी से एकदम कर्मण्य बन गया। उसने रूपराम को बुलाया। दोनों ने बातें कीं और एक दिन प्रातःकाल वे अपने गाँव से ऐसे ही, मानो टहलने के लिये निकले हों, किशनपुर पहुँच गये। किशनपुर के पास से उस नई सड़क पर ही वे कोटालगाँव की ओर चल दिये। सड़क के साथ-साथ कई मील चल कर वे एक पुल पर पहुँचे। यह पुल कालाघाट नदी पर बना है। ऊपर पुरानी सड़क पर भी पुल बना है, परन्तु इस पुल के पास नदी का ढाल इतना अधिक है और पास का पहाड़ कंकरीला तथा इतना कच्चा है कि प्रति वर्ष वर्षा-ऋतु में पुल नदी के तल में कुछ फ़ीट और नीचे समाता जाता है। नई सड़क बनाने के कई कारणों में से एक यह भी था।

पुल पर पहुँच कर दोनों रुक गये। चन्द्रमोहन ने कहा, 'रूपराम, यह है हमारा लक्ष्य।' उन्होंने पुल को इधर-उधर ध्यान से देखा, फिर आगे बढ़ गये और कोटाल-गाँव तक पहुँचे। मार्ग में दोनों अधिकतर अपने ही विचारों में डूबे रहे, कभी-कभी थोड़ी बहुत बात कर लेते थे। कोटालगाँव से दोनों भगवन्तपुर वापस लौट आए। उस दिन के पश्चात् चन्द्रमोहन ने कई चक्कर देहरादून के जल्दी-जल्दी लगाए। पार्टी के सदस्यों से वह मिला। उनसे सलाह की। पार्टी के सदस्यों ने अनेक प्रकार से पुल का निरीक्षण किया और अन्त में सर्व-सम्मति से यही निश्चित हुआ कि दोनों ही पुल उड़ा दिये जायँ तो ठीक है। पुल उड़ाने का भार चन्द्रमोहन तथा दो और सदस्यों पर छोड़ा गया। चन्द्रमोहन ने अपने साथ रूपराम को लेकर पुराना पुल और शेष दो सदस्यों ने नया पुल उड़ाने का भार लिया। अट्ठाईस अगस्त प्रातःकाल दस बजे सड़क का उद्घाटन-समारोह होने वाला था और सत्ताईस अगस्त की रात को बारह बजे का समय पुल उड़ाने के लिये निश्चित किया गया।

* * * * *

सत्ताईस अगस्त, १९४३, संध्या ६ बजे। देहरादून के बिन्दाल नदी पर बने हुए पुल पर विभिन्न दिशाओं से आकर मिलने वाली चकरौता रोड और

कैन्टूनमेंट रोड के संगम पर, उपरोक्त सड़कों से दो-दो की टोली में आने वाले चार युवक मिले।

उस दिन प्रातःकाल से ही आकाश बादलों से भरा हुआ था। बादल धीरे-धीरे घने होते गये और अन्त में दो बजे के लगभग बादल बढ़ती हुई बूँदों का बोझ संभालने में असमर्थ होकर बरस पड़े। लगभग साढ़े तीन घंटे मूसलाधार पानी बरसा। पानी सड़कों के किनारे वाली नालियों के किनारों को लांघ कर सड़कों पर घुटने-घुटने तक बह गया। देहरादून की ढालू सड़कों पर पानी अधिक देर नहीं ठहरता। यद्यपि सड़कों पर पानी तो नहीं रहा परन्तु नालियों से निकला हुआ कूड़ा-कचरा, पत्थर, रेत आदि लकड़ी के टुकड़ों के सहारे बहुत से स्थानों पर एकत्रित हो गया। सड़कों के किनारे लगे हुए तुन के वृक्ष धुल कर गहरे हरे रङ्ग के हो गये। पेड़ों के पत्तों से पानी की बड़ी-बड़ी बूँदें फिर भी खूब पटापट शब्द करके तारकोल की पक्की सड़क पर पड़ रही थीं और उनके नीचे से जाने वाले भीग जाते थे।

सहसा बादल छँट गये और धूप निकल आई। समय सन्ध्या का था, फिर भी बादल की धूप थी और काफ़ी तेज़-सी थी। चारों युवकों ने छँटते हुए बादलों को चिन्तित दृष्टि से देखा। उनमें से दो युवक तो वे ही रूपराम और चन्द्रमोहन थे, परन्तु उन्हें पहिचानना सरल न था। उन दोनों ने चूड़ीदार पाजामा, अचकन और जोधपुरी साफ़े बाँध रक्खे थे। दूसरे दो युवक बुश-शर्ट और पतलून में थे। चन्द्रमोहन ने धीरे-से अपने साथियों से कहा, 'भई बादलों का छँटना तो ठीक नहीं हुआ।'

'अरे यह तो वर्षा-ऋतु का आकाश है', एक युवक ने कहा।

और वास्तव में उसकी बात ठीक थी। वैसे भी वर्षा-ऋतु में देहरादून का आकाश क्षण क्षण पर बदलने वाले अपूर्व दृश्यों का सुन्दर रङ्गमंच होता है। जिन्होंने वर्षा-ऋतु में देहरादून नहीं देखा है वे इस कथन को कठिनता से समझेंगे। उन चारों युवकों के देखते ही देखते ऊदे-ऊदे, धुनी रुई अथवा सुन्दर आकाश में उड़ते हंसों की पाँति जैसे हल्के बादलों का स्थान काले मेघों ने ले लिया। अस्तकालीन सूर्य की स्वर्ण-रश्मियों ने उन मेघों का अपूर्व स्वर्ण-रेखा से शृंगार कर दिया। धीरे-धीरे मेघ इतने गहन हुए कि स्वर्ण-रेखा भी अदृश्य हो गई और फिर वर्षा के रंग-ढंग प्रतीत होने लगे। चारों युवक पुरानी कैन्टूनमेंट रोड पर चलते हुए पलटन बाज़ार में पंजाब नेशनल बैंक के सामने पहुँच गये। बैंक पर लगी बिजली की घड़ी में छः बज कर बीस मिनट हुए थे।

'अभी चालीस मिनट और हैं।' एक बुश-शर्ट वाले युवक ने कहा।

'तब ?' चन्द्रमोहन ने पूछा।

'इतने चाय ही पी जाय', एक ने प्रस्ताव रख दिया और चारों एक प्रमोद-गृह में पहुँच गये और आध घंटे पश्चात् वहाँ से निकल कर सीधे राजपुर रोड पर चल दिये। उस समय सड़क पर यथेष्ट आवागमन हो रहा था। वे सड़क पर चलते गये और जैसे ही वे ऐम्पायर टाकीज़ के सामने पहुँचे, एक कार दून वैली होटल से निकल कर उनके पास से धीरे-धीरे आगे निकल कर ओडियन सिनेमा के पास रुक गई। दो-तीन मिनट पश्चात् चारों आदमी उस मोटर के पास पहुँच कर उसमें बैठ गये और कार राजपुर रोड पर ऊपर की ओर दौड़ने लगी।

किशनपुर से आगे कोटालगाँव को जाने वाली सड़क पर मोटर रुकी। बुश-शर्ट वाले दोनों युवकों ने अपने कपड़े बदल कर ग्रामीणों के-से कपड़े पहन लिये और अपने मुख भी वैसे ही बना लिये और एक-एक पोटली हाथ में लेकर तैयार हो गये। चन्द्रमोहन और रूपराम ने, जो नीचे खड़े होकर इधर-उधर दृष्टि दौड़ा रहे थे, 'सब ठीक' का संकेत किया। दोनों युवक उतर कर नई सड़क पर चल पड़े और मोटर फिर राजपुर रोड पर दौड़ने लगी। राजपुर से मसूरी जाने के लिये सरकारी फाटक से न जाकर मोटर फाटक के पास से दाहिनी ओर कंचघर* के पास को मुड़ी और फिर कंचघर के सामने से होकर पुराने या ऊपर के राजपुर की ओर कुछ दूर बढ़ कर रुक गई। चन्द्रमोहन और रूपराम सड़क के बाईं ओर के एक लम्बे-चौड़े व्यक्तिगत बाग़ में से होकर राजपुर की चोटी पर अपेक्षाकृत एकान्त में बने हुए अम्बिकादेवी के मन्दिर की ओर चले। ड्राइवर उनके साथ एक छोटा-सा थैला लिये चला।

मन्दिर के पास एक धर्मशाला है जिसमें तीन कोठरियाँ हैं। कभी-कभी कोई साधु-संन्यासी उनमें ठहर जाता है, पर अधिकांश ये ख़ाली ही रहती हैं। सौभाग्य से उन दिनों भी ख़ालीं थी। चारों ओर सुनसान और अन्धेरा था। चन्द्रमोहन और रूपराम ड्राइवर के साथ धर्मशाला में पहुँचे। दोनों ने अपने कपड़े बदले और मुँह तथा हाथ पैरों पर कुछ चीज़ मल ली जिससे उनके चेहरे साँवले तथा गन्दे हो गये। उन्होंने अपने कपड़े थैले में रख कर, ड्राइवर को देकर उसे वापस भेज दिया और स्वयं कार्य में लगे। जब वे अपना पूरा श्रृंगार कर चुके उस समय उनकी माँ भी उन्हें नहीं पहचान सकती थी। वे सोलह आने पहाड़ी परिश्रमी लगते थे। उनकी सूक्ष्म-दर्शिता प्रशंसनीय थी। सिर पर सफ़ेद सूती कपड़े की मैली, गोल, बीच में ऊपर

---

* कंचघर= बहुत वर्ष पहले राजपुर में काँच बनाने का एक कारख़ाना खुला था, परन्तु कुछ समय पश्चात् वह बन्द हो गया। वहाँ अब भी काँच के थोड़े बहुत ढेले पड़े हैं। यह काफ़ी बड़ा क्षेत्र है और दीवार से घिरा है। कुछ दिन तक इसमें शक्ति-आश्रम नाम से एक व्यायाम संस्था रही। अब इसमें शान्ति-निकेतन के पद-चिह्नों पर 'मानव-भारती' के नाम से एक शिक्षा-संस्था खुली हुई है।

उठी हुई टोपी, जिसके बाहर बाल और चुटिया झाँक रहे थे, बहुत मैली, घुटनों से ऊँची 'गाती', घुटने से नीचे पैर नंगे और पैरों में भारी-भारी पहाड़ी जूते, कमर में रस्सी लिपटी हुई। रस्सी से एक कपड़े की पट्टी के सहारे बटुआ लटक रहा था जिसमें तम्बाकू, चिलम और एक काग़ज़ में लिपटी हुई दियासलाई थी। रस्सी में दूसरी ओर हँसिया खोंसी हुई थी। थोड़े में, यह कहना यथेष्ट है कि वेष से उनके पहाड़ी होने में किसी को संदेह नहीं हो सकता था।

दोनों को अपने कपड़े बदलने आदि में लगभग घंटा भर लग गया, तब तक मूसलाधार वर्षा पड़ने लगी और वे दोनों बड़ी व्यग्रता से वर्षा रुकने की प्रतीक्षा करते हुए बैठ रहे। वर्षा कितनी देर पड़ती रही, इसका उन्हें कुछ अनुमान नहीं हो सका। वर्षा रुकने पर दोनों उठे, उन्होंने अपने कपड़े के अन्दर रक्खी हुई छिपी वस्तु को टटोला और धर्मशाला के बरामदे से बाहर निकले। वहाँ से निकल कर वे मन्दिर से उत्तर की ओर वाले झाड़ियों के जंगल में से बड़ी सावधानी से अपना मार्ग टटोलते हुए, मसूरी की पैदल की सड़क पर बनी टोल की चौकी की ओर चले जो मंदिर से एक-डेढ़ फ़र्लांग की दूरी पर बनी हुई है।

जिस स्थान पर मन्दिर की ओर से जाने वाली पगडण्डी मसूरी की पैदल की सड़क से मिलती है, वहाँ पर चार-पाँच पहाड़ी चमारों के घर हैं। उस संगम से टोल की ओर न जाकर दोनों विपरीत दिशा में चले। लगभग आधा फ़र्लाङ्ग चल कर वे पास की ढाँग से कालाघाट नदी में उतरने की सोचने लगे परन्तु अपने सामने देख कर वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गये। कालाघाट नदी इस ज़ोर पर थी कि उस समय शायद हाथी भी उसके प्रवाह में ठहरने में समर्थ नहीं होता क्योंकि पहाड़ी नदियों का तेज़ पानी पैरों के नीचे से बजरी एकदम बहा ले जाता है और पैर उखड़ जाते हैं और कालाघाट उस स्थान पर विशेषतः इतनी ढालू थी कि वह नदी न रह कर लगभग पथरीली ढाँग बन गई थी। रूपराम और चन्द्रमोहन ढाँग से नीचे न उतर कर कंचघर की ओर वापस चले और सड़क के किनारे थोड़ा हटकर एक पेड़ के नीचे बैठ गये, तभी उन्हें राजपुर कोतवाली के घंटे से एक बार 'टन्न……' शब्द सुनाई पड़ा। वे चिन्तित हो गये कि वह आधा घंटा क्या हो सकता था— साढ़े दस या साढ़े ग्यारह। बहुत सोच-विचार कर वे इसी अनुमान पर पहुँचे कि साढ़े दस बजे होंगे। चन्द्रमोहन एक भूल पर अपने आप को मन ही मन गाली दे रहा था। उसने घड़ी कपड़ों के साथ जल्दी में वापस भेज दी थी।

पहाड़ी नदियों में अत्यन्त तीव्र प्रवाह का दोष होता है तो शीघ्र कम हो जाने का गुण भी होता है। रूपराम और चन्द्रमोहन पेड़ के नीचे बैठे हुए धीमे स्वर में बातें करते रहे। सहसा घंटे का शब्द सुन कर चौंक पड़े। सारे शरीर से कान बने हुए वे घण्टों को गिनने लगे। पाँच बार दो-दो के जोड़ बजे। अगला घण्टा जोड़ा होगा

या एक— यह जानने की उत्सुकता में उनका कलेजा मुँह को आ गया। ईश्वर को धन्यवाद! अगली बार 'टन्न .....' से एक घंटा बजा और उसकी टन्नाहट वर्षा-ऋतु की उस रात्रि के नम तथा शान्त वायुमंडल में और समय की अपेक्षा स्पष्ट तथा देर तक ध्वनित होती रही। दोनों युवक उठे और ढाँग के किनारे पहुँचे। नदी में पानी कम हो गया था। वे संभल कर ऊँचे कगार से नीचे उतरे। नदी का अधिकांश भाग सूख गया था, परन्तु बीच में तब भी लगभग आठ फ़ीट चौड़ी जल की पट्टी पत्थरों पर घोर शब्द करती हुई बह रही थी। उसके बीच में पानी जंघा तक गहरा होगा। दोनों उस धारा को बचा कर किनारे-किनारे प्रवाह की ही दिशा में चले। जिस स्थान पर वे उतरे थे, पुल वहाँ से अनुमानतः तीन फ़र्लाङ्ग होगा। वे धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। घोर अंधेरी रात्रि में अत्यन्त सतर्क रहना आवश्यक था। एक ग़लत पैर से पत्थर पर ठोकर खाकर गिरने के मतलब थे उनका अन्त होना और साथ ही उनकी योजनाओं का भी। अपने कपड़ों के भीतर कपड़े में लिपटी हुई वस्तु को सावधानी से छाती से लगाए वे एक-एक पग गिन कर आगे बढ़ रहे थे। उनका सारा ध्यान अपनी प्रगति की ओर लगा हुआ था और उन्हें इस बात का कुछ अनुमान न हो सका कि वे कितनी दूर चल चुके थे और उन्हें कितना और चलना शेष था।

उन्हें चलते-चलते काफ़ी समय बीत गया, फिर भी पुल का कहीं चिह्न भी नहीं था। रूपराम ने एक बार धीमे स्वर में चन्द्रमोहन का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना चाहा, परन्तु उसने विशेष ध्यान नहीं दिया— यह सोच कर कि रूपराम का विचार भ्रमपूर्ण हो सकता था; परन्तु जब कुछ दूर और चल कर वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ नदी अपेक्षाकृत समतल होकर एक ऊँचे कगार से टकरा कर दाहिनी ओर घूम जाती है तो वे सहसा रुक गये। पुल इस स्थान से लगभग एक फ़र्लाङ्ग ऊपर मिल जाना चाहिये था। दोनों के मन में एक साथ एक विचार आया, परन्तु दोनों ही उसे प्रकट करने का साहस नहीं करते थे। क्या वे अपनी जान पर खेल कर, उस आँधी-पानी की रात में अपने शरीर तथा कपड़े काँटों द्वारा क्षत-विक्षत करा के, जंगल, नदी, नाले में केवल इसलिये मारे-मारे फिरते रहे थे कि अन्त में उनके प्रयत्न प्रकृति द्वारा विफल किये जाते? हा भाग्य!

दोनों ने एक दूसरे का हाथ पकड़ लिया। एक दूसरे के स्पर्श से हृदय को कुछ ढाढ़स बँधा। उन्होंने फिर सत्य को धोखा देना चाहा। चन्द्रमोहन ने दबे स्वर में कहा, 'कदाचित् हम रास्ता भूल गये हैं।'

वे फिर ऊपर की ओर लौटे और चलते चले गये। नहीं, वे किसी भूल में नहीं पड़े थे। उन्होंने रास्ते के सम्बन्ध में धोखा नहीं खाया था। पुल का फिर भी कोई

चिह्न नहीं था। होता भी कहाँ से ? नदी ने उसे पत्थर और बजरी से काफी नीचे दबा दिया था।

जब वे दोनों इस प्रकार अपनी फलहीन खोज में बराबर ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर आ-जा रहे थे, सहसा दक्षिणी आकाश क्षण भर के लिये उज्वल हो गया और उसके कुछ पल उपरान्त एक अपूर्व कर्ण-भेदी स्वर सुनाई पड़ा। रूपराम और चन्द्रमोहन ठिठक गये, फिर आन्तरिक प्रसन्नता के आवेग वे वे एक-दूसरे से लिपट गये।

उनके साथियों ने अपना कर्त्तव्य पूरा किया था।

३०

देहरादून एक सैनिक केन्द्र होने के कारण १६४२ के आन्दोलन में अपेक्षाकृत शान्त रहा था। वहाँ की पुलिस तथा सेना की नृशंसतापूर्ण अत्याचारों की अभिलाषा बहुत कुछ पूरी नहीं हो पाई थी। उन्हें केवल एक बार— १६४२ में ही— अजब-पुर के पास स्पेशल ट्रेन उड़ाई जाने के सम्बन्ध में मनमानी करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उस समय बड़े-बड़े अरमान निकाले गये थे। तब से बेचारों ने फिर वैसा स्वर्णावसर देने के लिये अपने-अपने इष्टदेव से न जाने कितनी प्रार्थनाएँ की होंगी? उनकी प्रार्थनाएँ स्वीकृत हुईं। इस पुल के उड़ने ने उन्हें अवसर दिया। फिर तो जितनी भी मनमानी कल्पना में आ सकती है, की गई।

भगवंतपुर, खैरानी, सलानगाँव, ऊँतड़ी गाँव, जाखन, किशनपुर और आस-पास के दूसरे गाँवों में हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला शायद ही कोई युवक बचा होगा। जिस प्रकार भेड़ें बाड़े में ठूँसी जाती हैं उस प्रकार मनुष्य जेल में ठूँसे गये। भेद लेने के लिये अभियुक्तों को नंगा कर बर्फ़ की सीली पर बिठा दिया जाता, कीलों से भरे तख्ते पर बिठा कर ऊपर से पत्थर रख दिया जाता, नाखूनों पर बेंत लगाए जाते, मेज़ के पाए के नीचे अभियुक्त का हाथ रख कर न्याय के ठेकेदार और कर्मचारी ऊपर स्वयं बैठ जाते— और क्या-क्या हुआ इसका पूरा ब्यौरा तो कभी बाहर पहुँचा नहीं, परन्तु कभी-कभी एक-आध छूटने वाले के मुँह से थोड़ी बहुत बातें बाहर पहुँच ही जाती थीं। परन्तु ये भी बहुत दबी आवाज़ में होती थीं! सन्देह ही किसी को अनिश्चित काल के लिये बन्द करने को यथेष्ट था। जो एक बार बन्द हो गया, जल्दी उसके छूट कर आने की आशा करना मूर्खता थी। 'क्यों' पूछने का साहस बिरला ही कर सकता था और यदि कोई पूछता भी तो उसका उत्तर पाने के लिये सींखचों के पीछे बन्द किया जाना आवश्यक हो गया प्रतीत होता था। कुछ लोग, जिनकी किसी प्रकार पहुँच थी, जो ऊँची रिश्वतें दे सकते थे, छूट गये थे। चन्द्रमोहन, रूपराम, और रमेश भी गाँव के अन्य युवकों की भाँति बन्दी बना लिये गये थे। परन्तु एक दिन चन्द्रमोहन और रमेश चुपचाप छोड़ दिये गये। कारण समझते किसी को देर न लगी। रूपराम तथा अन्य युवकों की ग़रीबी ही उनको

प्रधान जेल थी। चन्द्रमोहन ने बाहर न जाना चाहा। बाहर जाने में शर्म आती थी, परन्तु वह बाहर ठेल दिया गया। वह रूपराम तथा अन्य साथियों को शीघ्र आने का वचन देकर बाहर आया। रुपया देकर उसे क्यों छुड़ाया गया, इस बात को लेकर वह बात हुई जो पहले कभी सोची भी नहीं जा सकती थी— पिता-पुत्र में मन-मुटाव हुआ और परस्पर कहा-सुनी तक की नौबत आ गई।

गाँवों के युवकों से अलग समूचे गाँवों पर भी आफ़त आ गई ; गाँवों पर सामूहिक जुर्माने हुए। दो सौ घरों वाले भगवंतपुर पर तीन हज़ार रुपये जुरमाना हुआ, जिसमें से बीस रुपये शंकर के मत्थे पड़े।

सितम्बर के अन्त तक इस विस्फोट के अभियुक्तों के न्याय का नाटक खेला जा चुका था। उस समय एक बार पकड़े जाने वाले के बेदाग़ छूटने की आशा एक दुराशा है। भाग्य-विधाताओं की वेदी पर जेल, जुर्माना, बेतें— सभी कुछ मिला। सामूहिक जुर्माने की वसूली का कार्य अक्तूबर में आरम्भ हुआ।

रमेश अपनी पाठशाला तथा अपने व्यवहार के कारण आस-पास के गाँवों में यथेष्ट ख्याति प्राप्त कर चुका था। वह पास के गाँवों में भी जाता था। उन गावों में वह अक्षर-शिक्षा का कार्य तो कर नहीं सकता था, परन्तु गाँव की दशा सुधारने के वे साधारण कार्य जो उसने भगवंतपुर में किये थे, और जगह भी करने आरम्भ किये। गाँवों की गलियों की दशा सुधारी गई। कूड़े के ढेरों के स्थान नियत किये गये। खाद बनाने के नये उपाय गाँव वालों को बतलाए गये। गाँवों में बच्चों तथा जवानों को एकत्रित और संगठित करके उनकी अवस्था के अनुसार व्यायाम तथा खेल कराए गये। कभी-कभी चन्द्रमोहन भी उसके साथ जाता। कभी नगर के कुछ शिक्षित युवक भी आते। ये लोग ग्रामोपयोगी विषयों पर लोगों के सम्मुख भाषण करते। अक्तूबर के द्वितीय सप्ताह के आरम्भ में एक दिन प्रातःकाल रमेश ने आदत के अनुसार अपना डंडा उठाया और किसी गाँव की ओर चल दिया।

घटनावश पुलिस कर्मचारी इसी दिन गाँव के शासन-वर्ग के कार्यकर्ताओं के साथ, और गावों का दौरा करते हुए, भगवंतपुर आ पहुँचे। सबसे पहले उन्होंने बुधुआ का घर बिगाड़ा और फिर शंकर के यहाँ आ पहुँचे।

जिस दिन से शंकर ने अपने ऊपर बीस रुपये जुर्माने की बात सुनी थी, उसी दिन से बेचारे का लोहू सूखता जा रहा था। बीस रुपये की कौन कहे, घर में बीस आने का भी ठिकाना नहीं था। वर्षा-ऋतु में काम-काज वैसे भी मन्दा था। सरकारी आज्ञा आ गई थी कि अमुक तारीख़ तक रुपये जमा हो जाने चाहियें, परन्तु शंकर जमा कहाँ से करता? उस समय उधार भी किस से लेता? सभी को अपनी-अपनी पड़ी थी। जुर्माना ठोकने वालों ने तो जुर्माना ठोक दिया था और जुर्माना अधिकांश

की शक्ति से बाहर था, फिर कौन किस को देता ? रमेश के पास न रुपये थे, न रहते थे। वह पहले ही अग्रिम रुपया लेकर ग्रामोपयोगी कार्यों, बच्चों को पारितोषिक बाँटने आदि में लगा चुका था। इसी चक्कर में शंकर का बारी जाना भी लगभग बन्द हो चुका था, परन्तु कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ। बड़ी कठिनाई से दो-चार रुपये एकत्रित हो पाए थे। फाँसी का दण्ड पाए हुए बन्दी की भाँति वह भी अन्तिम दिवस की प्रतीक्षा कर रहा था। रुपया जमा करने का दिन भी बीत गया और वह कुछ नहीं कर पाया। रमेश को विश्वास था कि जिस दिन तक अधिकारी वसूली के लिये स्वयं आएँगे, तब तक वह कुछ न कुछ प्रबन्ध कर ही लेगा। परन्तु भाग्य की इच्छा— रमेश घर नहीं और पुलिस घर पर।

पुलिस के तीन बिल्ले वाले दीवान जी अपने चार सिपाहियों, पटवारी और कारिन्दों के साथ शंकर के घर पहुँचे और उनके कहने पर एक सिपाही ने पुकारा, 'अबे शंकरू ! घर है क्या ?'

शंकर बाहर आकर खड़ा हो गया। उसने माथा झुका कर दोनों हाथ माथे से लगा दिये परन्तु मुँह से बोल नहीं निकला। दीवान जी को आया देख कर भी वह चमार बौखलाहट के मारे इधर-उधर भागा नहीं फिरा— इतनी बड़ी उच्छृङ्खलता की बात कैसे सहन की जा सकती थी ! एक सिपाही दाँत किचकिचा कर आगे बढ़ा और शंकर को धक्का देता हुआ बोला, 'साले, हरामज़ादे ! दीवान जी खड़े हुए हैं और तुझ से चारपाई तक नहीं डाली जाती ?'

शंकर चुपचाप अन्दर से चारपाई उठा लाया। दीवान जी बैठ गये। उन्होंने पटवारी की ओर देखा। पटवारी ने अपने हाथ का काग़ज़ देखा और पढ़ा, 'शंकर··· वल्द ··· क़ौम··· साकिन··· पेशा··· मुबलिग़ बीस रुपये।

'क्यों रे, रुपये दाख़िल कर दिये ?' दीवान जी ने गरज कर पूछा।

'·········'

'अबे बोलता क्यों नहीं ?' एक पिट्ठू ने पूछा।

'अभी नहीं सरकार', उसी पिट्ठू ने मुँह चिढ़ा कर कहा, 'अबे सरकार क्या तेरे बाप के नौकर हैं जो तेरे घर पर रुपये वसूल करने आएँगे ?'

शंकर चुप। एक सिपाही ने कहा, 'अच्छा निकाल रुपये जल्दी।'

'रुपये तो हैं नहीं सरकार।' शंकर ने धीमे स्वर से कहा।

दीवान, सिपाही, पटवारी, कारिन्दे— सब एक दूसरे का मुँह देखने लगे। एक तो दीवान जी को कष्ट करके उतनी दूर से स्वयं आना पड़ा और फिर यह आदमी ऐसी मूर्खता की बात कहता है ! क्रोध के आधिक्य में आदमी चुप रह जाता है। तब समझ में ही नहीं आता कि क्रोध दिलाने वाले के साथ क्या किया जाय।

दीवान जी और उनके साथी भी एक बार तो क्रोध-वश चुप रह गये। वे सोच ही नहीं पा रहे थे कि शंकर को मारा जाय, गड़ाया जाय, या फाँसी पर लटका दिया जाय। जब क्रोध इतना रह गया कि उसे क्रियात्मक रूप दिया जा सके तो दीवान जी अपनी जगह से हिले और बेचारे बूढ़े के ऐसा करारा झापड़ दिया कि वह एक 'हाय रे!' के साथ गिर पड़ा। पीड़ा और अपमान की चोट बूढ़े की आँखों से होकर बह निकली। वह दृश्य ऐसा था कि पत्थर भी पिघलने लगता, परन्तु नौकरशाही के भाड़े के टट्टुओं पर रत्ती भर भी प्रभाव नहीं पड़ा। बूढ़ा मनुष्य जिसकी मूँछ-दाढ़ी तक सफ़ेद, जीर्ण शरीर, चिथड़े हुए वस्त्र— सब प्रकार दीन, वह घूस के तर माल पर पले हुए एक नीच मनुष्य की मार से भूमि पर गिरा आँसू बहाता हो········ शंकर ने मन ही मन भगवान को याद किया और उससे मन ही मन कहा, 'भगवान, मैंने जान-बूझ कर कभी किसी का बुरा नहीं किया। मुझे सताने वालों को इसका फल देना······' (परन्तु भगवान कातरों की सहायता नहीं करता, वह उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं। अत्याचार तो तभी तक होते हैं जब तक पीड़ित लोग उन्हें चुपचाप सहते रहते हैं। जिस दिन वे साहस कर सामना करने के लिये खड़े हो जायँगे, अत्याचारी और अत्याचार, किसी का पता नहीं रहेगा। प्रार्थना और पुकार तो अत्याचारी के विनोद के कारण बनते हैं।)

कजरी तब तक अन्दर थी। ऊँची बातचीत सुनकर वह दरवाज़े पर आ गई थी। जैसे ही शंकर गिरा वह दौड़ कर उससे लिपट गई और उसे बैठाने का प्रयत्न करने लगी। उसी समय दीवान जी के संकेत पर एक सिपाही ने उसे पकड़ कर शंकर से अलग कर दिया। दीवान जी ने शंकर से कहा, 'निकाल बे रुपये।'

'रुपये नहीं हैं?' कजरी ने कहा।

'तू बक-बक मत कर छोकरी, नहीं तो ·······'

'नहीं तो क्या?' कजरी ने जल कर पूछा।

'नहीं तो ········' कह कर दीवान ने एक सिपाही की ओर देख कर आँख मारी। कजरी ने इस घृणित इङ्गित को समझा और उबलते तेल में पड़ी हरी मिर्च की भाँति तड़क कर कहा, 'अरे कुत्ते, किसी घमंड में मत रहना। मूँछें उखाड़ कर इतने जूते लगाऊँगी कि ······'

परन्तु कजरी को वाक्य पूरा करने का अवसर नहीं दिया गया। दीवान जी बीच ही में गरज कर बोले, 'यूसुफ़! पकड़ साली को।'

और यूसुफ़ साली की ओर चला और पास पहुँच कर उस तक हाथ बढ़ाने भी न पाया था कि कजरी का ऐसा करारा और भरा-पूरा चटाकेदार तमाचा गाल

पर पड़ा कि एक बार तो यूसुफ़ मियाँ को दिन में तारे दिखाई दे गये। दीवान जी एक बार तो हत्-बुद्धि हो गये, फिर कड़क कर बोले, 'यूसुफ़, कर दे साली को नंगी।'

परन्तु कजरी शंकर नहीं थी। उसमें वह अग्नि थी जो भेड़ को शेर से लड़ा देती है। दाँत, हाथ, पैर— सब से उसने यूसुफ़ की पूरी हजामत कर दी। अन्त में दीवान जी ने एक पहलवान जैसे सिपाही से कहा, 'ईदू! ले जा हरामज़ादी को खेत में।'

ईदू ने आज्ञा-पालन में देर नहीं की। वह इस कार्य में अनुभवी प्रतीत होता था। उसने आते ही कजरी के वक्ष पर इस ज़ोर से आघात किया कि वह चीख़ उठी और पीड़ा से दुहरी हो गई। ईदू को समय मिला। उसने उछल कर कजरी के बाल पकड़ लिये और उसे घसीटता हुआ ले चला। कजरी एक-आध बार ज़ोर से चिल्लाई तो ईदू ने एक भद्दी गाली देते हुए अपना भारी हाथ उसके मुँह पर रख दिया और उसे लगभग उठा कर अपनी बग़ल में दबा कर चल दिया।

कजरी को इस प्रकार ले जाया जाते हुए देख कर शंकर शक्ति लगा कर उठा और उसके पीछे जाने लगा, परन्तु एक सिपाही ने उस बेचारे को ऐसा धक्का दिया कि वह गिर पड़ा। उसका सिर भूमि से टकराया और वह संज्ञाहीन हो गया।

ईदू कजरी को तोर के एक घने खेत में ले गया जहाँ चारों ओर के ऊँचे ऊँचे पौधों ने अपने बीच में उन्हें समा लिया। खेत में कजरी को काफ़ी अन्दर ले जाकर जैसे ही ईदू रुका कजरी ने सहसा पूरी शक्ति से ईदू के हाथ में काट कर माँस का एक टुकड़ा अलग कर दिया। पीड़ा से ईदू चिल्ला पड़ा और साथ-साथ कजरी भी अपने गले की पूरी शक्ति से 'बचाओ', 'बचाओ' चिल्लाती हुई भागी, परन्तु वह दो ही बार चिल्लाई थी और कुछ ही दूर पहुँची थी कि ईदू ने ऐसा करारा झापड़ उसके मारा कि वह गिर पड़ी। फिर तो ईदू ने जहाँ उसके जी में आया, और लात, घूँसे, थप्पड़— जैसे चाहा, कजरी को मारना आरम्भ किया। प्रत्येक प्रहार के साथ कजरी की चिल्लाहट क्षीणतर होती जाती थी। उसके शरीर की शक्ति भी प्रति क्षण कम हो रही थी। उसमें विरोध के लिये हाथ उठाने की शक्ति भी नहीं रही। उसे असहाय देख कर ईदू ने ज्योंही उसके अँगरखे की ओर हाथ बढ़ाया, उसके सामने के पौधों के हटने की तेज़ सरसराहट हुई और इससे पहले कि ईदू कुछ सोचने, समझने तथा संभलने का अवसर पाता, एक युवक बिजली की-सी तेज़ी से उसके सामने आया, उसका हाथ ऊपर उठा और मोटे डंडे का भरपूर हाथ ईदू के सिर पर पड़ा। फटाके के शब्द के साथ रक्त का फ़ौव्वारा छूटा और ईदू का सिर बीच से खुल गया। वह बिना एक भी शब्द बोले गिरती दीवार की भाँति गिर पड़ा। फल के विषय में युवक को सन्देह नहीं रहा। ईदू की तत्काल-मृत्यु हो गई।

वह युवक रमेश था।

३१

रमेश किसी दूसरे गाँव का चक्कर लगाकर लौट रहा था, जब उसे खेत के पास से जाते हुए उसे किसी की चिल्लाहट सुनाई पड़ी। कजरी की आवाज़ पहचानने में रमेश को धोखा नहीं हो सकता था, परन्तु कजरी के चिल्लाने का कारण वह गुमान भी नहीं कर सकता था। उसने सोचा कि घास-पात लेने खेत में गई होगी और वहाँ किसी कीड़े (साँप) अथवा 'जानवर' को देख कर चिल्ला पड़ी होगी, लेकिन खेत के अन्दर घुसते-घुसते उसे एक पुरुष का कण्ठ-स्वर भी सुनाई पड़ा और कजरी के कराहने की ध्वनि भी आती रही। रमेश के सिर पर भूत सवार हो गया। इस सब गड़बड़ी का कारण और फल अनुमान करके मारे क्रोध के उसके मुँह से शब्दों के बदले झाग निकलने लगा। वह झपटता हुआ खेत के अन्दर बढ़ता चला गया और घटना-स्थल पर पहुँच कर जो कुछ उसने किया, उसके विषय में और कुछ कहना नहीं है।

कजरी की शक्ति केवल मार से ही क्षीण नहीं हो रही थी बल्कि मार के पश्चात् जो कुछ आने वाला था और जो उस राक्षस द्वारा किया जाना निश्चित-सा था, उसे सोच कर कजरी और भी निष्प्राण होती जाती थी। वह चाहती भी थी कि यदि दुर्दशा होनी ही है तो उससे अच्छा तो पहले अचेत हो जाती। दोहरी— शारीरिक तथा मानसिक— दुर्बलता के कारण कुछ देर में कजरी अवश्य संज्ञाहीन हो जाती; परन्तु यह जो घटना बीच ही में घट गई इससे उसके मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाने वाली धुन्ध क्षण-मात्र में दूर हो गई और वह, सारे शरीर में असहनीय पीड़ा होते हुए भी, चमक कर उठ गई और रमेश को देखते ही बोली, 'अरे! यह तुमने क्या किया मास्टर जी?'

परन्तु रमेश ने उत्तर न दिया। उसकी साँस फूल रही थी। वह जैसे लम्बी-लम्बी साँस लेता हुआ खड़ा था, बिना बोले वैसे ही खड़ा रहा। वह ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो कोई मूर्ति साँस ले रही हो। कजरी की बात उसके कान में नहीं पड़ी। कजरी ने फिर घबराए हुए स्वर में पुकारा, 'मास्टर जी!'

इस बार मूर्ति में जान आ गई। वह एकदम कजरी के मुख पर हाथ रख कर बोला, 'चुप।'

दोनों कुछ देर चुप रहे, फिर कजरी ने फुसफुसाते हुए कहा, 'अब क्या होगा ?' परन्तु रमेश के पास इसका भी उत्तर नहीं था। रमेश एकटक उस फटे हुए सिर और उससे निकले हुए रक्त को— जो नीचे जाकर आँख, मुँह और गर्दन पर जम कर काला-सा पड़ गया था— देखता रहा। हत्या अपनी पूरी भीषणता के साथ उसके सम्मुख आ खड़ी हुई। उसके आगे पुलिस, जेल, न्यायालय और फाँसी का फंदा— सब एक-एक करके घूम गये। सिद्धान्त की बातें भी उसके मस्तिष्क में आईं, परन्तु वे जमी नहीं।

हत्या करना अपराध है। परन्तु किस अवस्था में ? क्या उस आततायी के हाथ से कजरी— उस दृष्टि से किसी भी स्त्री— की रक्षा करना आवश्यक नहीं था ? परन्तु यह प्रश्न विवादग्रस्त है। रक्षा केवल मार कर ही थोड़े ही की जा सकती थी। परन्तु जो कुछ होना था वह तो हो चुका था, अब तो जो कुछ होने वाला था उसके लिये प्रतीक्षा करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया जा सकता था।

दोनों न जाने कितनी देर इसी प्रकार अपने-अपने विचारों में लीन रहे। वे और भी न जाने कितनी देर और ऐसे ही बैठे रहते यदि उसी समय दूर से आती हुई ऊँची पुकारों से वे चौंक न उठते। कई स्वरों से 'ईदू' पुकारा जा रहा था। रमेश और कजरी ने एक दूसरे की ओर देखा। रमेश ने नीचे पड़े शव की ओर इङ्गित करके कजरी से पूछा, 'ईदू······ ?' कजरी ने स्वीकारात्मक सिर हिलाया और कहा, 'अब ?'

रमेश ने मन ही मन कुछ सोच कर कजरी का हाथ पकड़ा और कहा, 'उठो'; और बहुत धीरे-धीरे उस पहाड़ी अरहर के घने पौधों को सावधानी से हटाता हुआ सिवाने के और भी घने भाग की ओर उसे ले चला। कुछ दूर जाकर वे ठहर गये और कान लगा कर सुनने लगे। ईदू की पुकार बराबर चलती रही। कभी पास आ जाती, कभी दूर हट जाती। जब भी आवाज़ पास आती दोनों के कलेजे मुँह को आ जाते। शव के पास से हट जाने में रमेश का उद्देश्य यह था कि यदि कोई उसे (शव को) पा जाता तो हल्ला होना निश्चित था और उस समय तो जो कुछ भी वह कर सकते, करते ही; परन्तु फिर भी घने सिवाने में कुछ देर बचा जा सकता था और यदि कोई शव को न पाता तो कम से कम एक रात उन्हें मिल जाती थी।

धीरे-धीरे ईदू की पुकार कम और दूर होती गई और संध्या पास आती गई। कुछ देर तक पुकार बन्द रही। इसके पश्चात् सम्मिलित कण्ठों की ऊँची पुकार घनी होती हुई संध्या के वायुमंडल में एक बार फिर गूँजने लगी और थोड़ी देर पश्चात् उस पुकार की गूँज भी शून्य में समा गई।

*　　*　　*　　*

से विदा हुए थे, उसके पश्चात् यद्यपि आपस का मनमुटाव दूर कर दिया गया था, फिर भी केवल उस सफ़ाई को आधार मान कर कोई कार्य नहीं किया जा सकता था। वैसे यदि कजरी के सम्बन्ध की उस दिन वाली घटना न घटी होती तो चन्द्रमोहन के प्रति रमेश की जो धारणा थी और उन दोनों में जो युवकोचित सरल सौहार्द था, उसके आधार पर रमेश बिना हिचक अपने आपको चन्द्रमोहन के हाथों में दे देता। परन्तु यदि एक और दृष्टिकोण से इस बात को देखा जाय तो स्पष्ट है कि कजरी के ही कारण चन्द्रमोहन पर और भी विश्वास किया जा सकता था। चन्द्रमोहन कजरी के प्रति आकर्षित था, कदाचित् उससे प्रेम भी करता था; फिर जब वह साधारण लोगों के लिये बहुत कुछ कर सकता था— करता रहता था— तो अपने प्रिय-पात्र के लिये क्या कुछ नहीं कर सकता था? अन्त में बहुत सोच-विचार के पश्चात् रमेश ने अपने आपको चन्द्रमोहन के ही हाथों में देने का निश्चय किया। उसने कजरी से सहसा कहा, 'कजरी चलो।'

'कहाँ?' कजरी ने चौंक कर पूछा।

'हमें यहाँ से भागना होगा।'

'परन्तु जायँगे कैसे?'

'मेरे साथ आओ।'

कजरी रमेश के साथ जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकती थी। वह चुपचाप उठी। अन्धेरा हो चुका था। रमेश सिवाने से अधिक परिचित नहीं था। उसने कजरी का हाथ पकड़ा। एक बार उसका हाथ पकड़ते ही वह सिहर उठा। उस सिहरन के पीछे जो भावनाएँ काम कर रही थीं उनका विश्लेषण कोई मनोविज्ञान-विशारद ही कर सकेगा। यहाँ तो इतना ही कहा जा सकता है कि परिवर्तित परिस्थितियाँ उस सिहरन के लिये बहुत कुछ उत्तरदायी थीं। पहले कजरी और रमेश— अपरिचित युवक-युवती— गुरु-शिष्या के पीछे छिपे थे, परन्तु पहले हुई कुछ घटनाओं तथा बातों के अतिरिक्त उस दिन इस प्रकार आकस्मिक रूप से जब वे एक दूसरे से बँध गये थे और भविष्य में क्या होगा तथा उनका परस्पर क्या सम्बन्ध रहेगा, इस विषय में जब वे एकदम अन्धेरे में थे तो हाथ पकड़ने पर सम्भवतः दोनों के शरीरों में सिहरन उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

'हवेली की ओर चलो।' रमेश ने धीरे-से कहा।

हवेली का नाम सुन कर कजरी एक बार चौंक गई, उसका हाथ काँपा, परन्तु वह बिना बोले आगे बढ़ने लगी।

हवेली से कुछ दूर घने पेड़ों की छाया में कजरी को छोड़ते हुए रमेश ने कहा, 'मैं अभी आता हूँ; डर तो नहीं लगेगा?'

प्रश्न अनावश्यक था। यदि डर लगता भी— और जैसा कि कजरी को लगा— तो भी कोई चारा नहीं था। रमेश उसे छोड़ कर चला गया और हवेली की ड्योढ़ी से कुछ अलग हट कर अन्धेरे में खड़ा रहा। वह किसी दरबान के बाहर निकलने की प्रतीक्षा करने लगा। फाटक के अन्दर घुसते ही जो दालान था, जिसके दोनों ओर दरबानों के रहने की कोठरियाँ थीं, वहाँ पर लालटैन जली हुई थी जिससे मद्धिम प्रकाश फैला हुआ था। भाग्य की बात! रमेश जब अन्दर से किसी के निकलने की प्रतीक्षा कर रहा था तभी उसने फाटक के सामने के हल्के प्रकाश में चन्द्रमोहन को अन्दर जाते देखा। चन्द्रमोहन ने ड्योढ़ी के अन्दर एक पैर रक्खा ही था कि अपना नाम धीरे-से पुकारा जाते सुन कर ठिठक गया और घूम कर बोला, 'कौन ?'

'इधर आओ', फिर उसी धीमे स्वर में उत्तर आया।

चन्द्रमोहन आवाज़ की दिशा में बढ़ा और पास जाकर रमेश को पहचान कर बोला, 'अरे मास्टर.........'

'चुप, चुप', रमेश ने उसका हाथ पकड़ कर कहा, 'धीरे।'

'क्या बात है ?' चन्द्रमोहन के प्रश्न में उत्सुकता तथा आश्चर्य थे।

'मेरे साथ आओ', रमेश ने कहा।

अपने साथ चन्द्रमोहन को कुछ दूर ले जाकर रमेश रुक गया। चन्द्रमोहन बोला, 'कहो ?'

'मैंने खून किया है !' रमेश ने ठण्डे स्वर में एकदम परन्तु धीमे कहा।

'खून ?' चन्द्रमोहन चौंक कर बोला, 'किसका ?'

'एक सिपाही का।'

'कौन सिपाही ?'

'ईदू।'

'ईदू ?' चन्द्रमोहन ने व्यग्रता से पूछा, 'और कजरी कहाँ है ?'

'मेरे साथ', रमेश ने उत्तर दिया।

चन्द्रमोहन सारी घटना सुन चुका था और शंकर के घर भी हो आया था, बल्कि जब दीवान जी दो सिपाहियों को गाँव में नियुक्त करके गये थे तब वह वहीं था। उसने कजरी के ईदू के साथ स्वेच्छा से अथवा ज़बरदस्ती भागने के समाचार पर बिल्कुल विश्वास नहीं किया था। कजरी किस मिट्टी की बनी है यह वह कुछ-कुछ समझता था, फिर भी दोनों की अनुपस्थिति से वह चिन्तित था। कजरी सुरक्षित है— यह समाचार सुन कर उसकी छाती से भारी बोझ हटाती हुई एक लम्बी साँस निकल गई।

'चलो', चन्द्रमोहन ने कहा, और दोनों कजरी के पास पहुँचे। कजरी डर और चिन्ता के मारे मरी जा रही थी। उन्हें देख कर दोनों में कमी हुई। चन्द्रमोहन ने पूरी कथा सुनी और इसके पश्चात् दोनों पुरुष आधी रात तक बहुत कुछ काम और सोच-विचार में लगे रहे, जिसका संक्षिप्त फल यह था कि आधी रात के लगभग चन्द्रमोहन ने रमेश को नोटों की एक गड्डी, कपड़ों का एक थैला और एक चिट्ठी देते हुए कहा, 'कल प्रातःकाल से पहले ही तुम्हें मसूरी पहुँच कर यह चिट्ठी 'नवनीत प्रमोद-गृह' के स्वामी हरिश्चन्द्र को देनी है। वहाँ ठीक-ठीक पहुँच जाने के पश्चात् कोई चिन्ता नहीं रहेगी।'

'परन्तु मैं तो पहले कभी मसूरी नहीं गया।' रमेश ने कहा।

'तुम मसूरी गई हो कजरी ?' चन्द्रमोहन ने पूछा।

'नहीं।' उत्तर दिया कजरी ने।

चन्द्रमोहन कुछ देर सोचता रहा। फिर पूछा, 'राजपुर गई हो ?'

'हाँ।' कजरी ने उत्तर दिया।

'टोल देखा है ?'

'हाँ।'

'अच्छा तो टोल के पास जो चमारों के घर हैं, उनसे पहले ही चुपके से नीचे नदी में उतर जाना और सामने की ढाँग चढ़ कर ऊपर सड़क में पहुँच जाना और वही सड़क पकड़ लेना। उस सड़क पर सीधे चलने से तुम मसूरी पहुँच जाओगे। ऊपर झड़ीपानी में फिर टोल मिलेगा। पहले तो वहाँ उस समय कोई जागता नहीं होगा फिर भी अच्छा होगा यदि तुम उस टोल को भी ऐसे ही बचा जाओ। झड़ीपानी से आगे बालूगंज मिलेगा। वहाँ पर सड़क पर लगे खम्भे पर देख कर कुलरी का रास्ता पकड़ लेना। उसी से तुम अपने वाञ्छित स्थान पर पहुँच जाओगे।

'परन्तु 'नवनीत प्रमोद-गृह' ?' रमेश ने कहा।

'जैसे ही तुम कुलरी पहुँचोगे ....'

'परन्तु कैसे पता चलेगा कि कौन स्थान कुलरी है ?'

'यह स्वयं देखना', चन्द्रमोहन ने कुछ खीझ कर कहा, 'कुलरी में घुसते ही एक दोमंज़िला सिनेमा मिलेगा ; जिसमें एक है 'पिक्चर पैलेस' और दूसरा 'जुबली'। यह सड़क के दाहिनी ओर है। उसके ठीक सामने सड़क पार 'नवनीत प्रमोद-गृह' है। अब जो मैं कहता हूँ उसे ध्यान से सुनो और अक्षरशः उसी के अनुसार कार्य करना।' यह कह कर चन्द्रमोहन ने रमेश तथा कजरी को कुछ आदेश दिये।

'और ईदू ......' रमेश ने कहा।

'उसकी तुम चिन्ता न करो।'

दोनों को अपने पास से विदा करते हुए चन्द्रमोहन ने कहा, 'रमेश, भूल न जाना।' रमेश ने चन्द्रमोहन का हाथ अपने हाथों में दबा लिया। कुछ बोलने योग्य उसकी मनोदशा नहीं थी।

'तुम भी कभी याद करोगी कजरी?' चन्द्रमोहन ने पूछा।

'नहीं।' अप्रत्याशित उत्तर मिला। चन्द्रमोहन थोड़ा हँसा परन्तु कजरी चुपचाप रो दी।

कजरी और रमेश भगवान का नाम लेकर हृदयावस्थित आशा के प्रकाश के सहारे ही आगे के अनन्त-से अंधकार की ओर अग्रसर हुए और चन्द्रमोहन हवेली की ओर लौट गया।

* * * * *

भगवन्तपुर और उसके निवासियों के विषय में विशेष कुछ कहना नहीं रहा है। मानसिक तथा शारीरिक आघात बेचारे शंकर की सहनशक्ति से बाहर सिद्ध हुए। कजरी के जाने के पश्चात् सुखवा घर में ठहरता ही नहीं था। उसका अधिकांश समय अवारा लड़कों के साथ बाहर बीतने लगा। शंकर ने चारपाई पकड़ ली थी, परन्तु उसे पानी भी नहीं मिलता था, खाने की तो कौन कहे। कुछ दिन पश्चात् वह बेचारा संसार के अन्याय की दुहाई देने सर्वोच्च न्यायालय का द्वार खटखटाने चल दिया। वहाँ भी सुनाई हुई या नहीं, इसका कुछ ठीक नहीं। शंकर की मृत्यु के पश्चात् सुखवा गाँव में दिखाई नहीं पड़ा। कुछ लोगों ने उसे एक-आध बार शहर में आवारा घूमते देखा, फिर उसका पता नहीं चला। शंकर की झोंपड़ी के स्थान पर कुछ दिन बाद एक छोटा-सा खण्डहर रह गया।

जिन लोगों ने जुर्माना नहीं दिया था उनकी भी वसूली हुई और जब इस दुर्घटना से लोग रो-पीट कर शान्त हुए तो उन्हें सहसा ज्ञात हुआ कि मास्टर गाँव में नहीं है। एक नई बात लोगों को मिली और पहले के आलोचक सिर हिला-हिला कर कहने लगे कि उनके सन्देह सच्चे थे। 'मास्टर तो शंकर की धी के मारे पड़ा हुआ था। जब वही चली गई तो उसका गाँव में क्या काम रहा?' पाठशाला कुछ दिन बन्द रही, फिर देहरादून से एक मास्टर ने आकर काम संभाल लिया और यद्यपि वह रमेश की भाँति लोक-प्रिय न हो सका, फिर भी शिक्षा-प्रेम का जो दीपक रमेश ने प्रज्वलित किया था वह बुझने नहीं पाया।

युवकों का संगठन चन्द्रमोहन और रूपराम के प्रयत्नों से चलता रहा।

कला चाची ने कुछ वर्ष पश्चात् अपनी पौत्री का विवाह कर दिया और 'घर जवाई'' रक्खा परन्तु कुछ समय पश्चात् वह पौत्री तथा उसके पति का सुख न उठा

कर गंगा-भक्ति का पुण्य संचय करने हरिद्वार-वास करने चली गई। चाची के चले जाने के विषय में ग्रामवासियों में मतभेद है। कुछ इसमें गंगा-भक्ति की बाढ़ देखते हैं; किन्तु अधिकांश की सम्मति में कला चाची घर छोड़ने के लिये बाध्य हुई। पौत्री, उसके पति और चाची में कभी नहीं बन सकी, और यहाँ तक ख़बर है कि जाते समय आँखों से आँसुओं के साथ-साथ चाची के मुँह से निकले हुए ये शब्द भी सुने गये थे, 'यही दिन देखने के लिये मैंने दुनिया से बुरी बन कर इनके लिये सब कुछ किया था।'

३१

रमेश तथा कजरी 'उषा' के साथ-साथ मसूरी में प्रविष्ट हुए। पक्षी पेड़ों पर चहचहाने लगे थे। कुत्ते रात भर भौंक कर प्रातःकाल की झपकी ले रहे थे। मेहतर सड़कों पर झाड़ू देने लगे थे और पहाड़ी दूधिये, दूध की छोटी-बड़ी ठेकियाँ (लकड़ी के बर्तन) एक जाल में पीठ पर बाँधे, और हाथ में लटकाए कोठियों में जा रहे थे। रमेश तथा कजरी दोनों पहाड़ी वेष-भूषा में थे। रमेश की पीठ पर एक पोटली बँधी थी जिसमें उनके कपड़े आदि थे। दोनों 'पिक्चर पैलेस' के सामने पहुँच गये। सामने ही 'नवनीत प्रमोद-गृह' था।

रमेश प्रमोद-गृह के बन्द द्वार के सामने पहुँचा। उस द्वार के दोनों ओर बड़े-बड़े काले अक्षरों में नाम लिखा था— दाहिनी ओर हिन्दी में और बाईं ओर अंग्रेज़ी में। उसके नीचे प्रमोद-गृह की विशेषताएँ लिखी हुई थीं। रमेश दाहिनी ओर लिखे नाम के पास पहुँचा। उसने इधर-उधर देखा और मानो वैसे ही केवल यह देखने के लिये कि अक्षरों का रंग गीला है अथवा सूखा— उस पर हाथ फेरने लगा। 'नवनीत' में नव के न की घुंडी पर पहुँच कर उसकी उँगली रुक गई। घुंडी के बीचों-बीच, पास की दीवार से यों ही 'बाल-बराबर' ऊँचा उठा एक बटन-सा था जो आँख से दिखाई नहीं देता था। उसने बटन को एक बार ज़ोर से दबा कर छोड़ दिया फिर तीन बार गिनने तक ठहरा और फिर दो बार दबाया और प्रतीक्षा करने लगा। पास की गली से एक आदमी निकल कर आया और बोला, 'कहिये।'

'नैनी लेंगे?'

'मथुरा', उस आदमी ने कहा।

रमेश ने जेब से चन्द्रमोहन का दिया हुआ पर्चा निकाल कर उसे दे दिया। उस आदमी ने पर्चे पर दृष्टि डाली, नीचे चन्द्रमोहन का नाम पढ़ा और उनसे कहा, 'आइये।'

दोनों उस आदमी के साथ जाकर एक सुसज्जित कमरे में पहुँच गये। इसके लगभग डेढ़ घंटे उपरान्त कजरी और रमेश नहा, धो और कपड़े बदल कर चाय पीते हुए उस आदमी से बातें कर रहे थे।

'आप लोग तीन दिन में यहाँ से जायँ तो अच्छा है।' उस व्यक्ति ने रमेश से कहा।

'जैसा आप ठीक समझें।' रमेश ने उत्तर दिया।

'आपके पास कुल सामान यही है?'

'हाँ।'

'अच्छा, पहले तो आपके लिये थोड़े-से सामान का प्रबन्ध करना पड़ेगा। एक तो आपके', उसने कजरी की ओर इङ्गित करके कहा, 'वेष में यदि परिवर्तन कर दिया जाय तो अच्छा है।'

'जैसा भी आप उचित समझें।' रमेश यही बात दोहराता रहा। वह आदमी बाहर चला गया और लगभग पन्द्रह मिनट पश्चात् आकर बोला, 'आप दोपहर का खाना खाकर यहाँ से सेवॉय होटल में चले जायँगे। आप समझ सकते हैं', उसने झेंपते हुए सा कहा, 'यहाँ पर आपका रहना सुरक्षित नहीं है। आपकी आवश्यकता की सारी वस्तुएँ वहाँ मिल जायँगी और कपड़े भी। इसके पश्चात् आपके यहाँ से जाने के विषय में मैं आपको परसों बारह और एक के बीच सूचना दे दूँगा।'

रमेश और कजरी सेवॉय में चले गये। जाने से पहले उनके कपड़ों का नाप दे दे दिया गया था। उस दिन संध्या को वे कहीं नहीं गये। उन्होंने खाना खाया और सो गये।

दूसरे दिन रमेश और कजरी कैम्प्टी झरना देखने गये। यह झरना समुद्र से दो हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर स्थित है तथा कुलरी से लगभग आठ मील है। झरने से लगभग एक मील ऊपर से बड़ी गहरी उतराई है। उतराई के ऊपर एक डाक बंगला है। यहाँ तक रिक्शा और डाँडी जाती है। वे लोग दोपहर तक लौट आये। संध्या को वे लँढौर गये। वहाँ से कुलरी और फिर कैमिल्स बैक रोड होते हुए सेवॉय में लौट आए। तीसरे दिन सवेरे ही वे डिपो पहुँच गये। वहाँ से उन्होंने गिरिराज हिमालय के हिमाच्छादित शिखर देखे। थे तो ये दृश्य दोनों ही के लिये नवीन, परन्तु कजरी कम से कम पहाड़ों से तो परिचित थी। ये सब दृश्य देखते रमेश असीम प्रसन्नता का अनुभव करता था, पर कभी-कभी सहसा उसका मुख मुर्झा जाता और शरीर एकदम काँप उठता। उसके मस्तिष्क में सैंकड़ों विचार कौंध जाते जिनमें सब से ऊपर होता : 'यदि कहीं पकड़ा गया तो?' सहसा उसे प्रतीत होता कि चारों ओर से क्रुद्ध दृष्टियाँ उस पर गड़ी हैं। कभी-कभी वह सहसा उछल पड़ता। उसे ऐसा लगता कि बहुत-सी आवाज़ें एक साथ पुकार रही हैं, 'यह ख़ूनी है!' वह बड़ी चाह भरी दृष्टि से अपने चारों ओर देखता। प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जड़ तथा जीवित वस्तु अत्यन्त सौन्दर्य से भर उठती। 'फिर कभी यह देखने को मिले न मिले।' उसके हृदय

को चीरता हुआ यह विचार उठता। वह एकटक कजरी को देखने लगता मानो आँखों से ही पी जायगा। कजरी उसकी यह चेष्टा देख कर डर जाती और पूछती, 'तुम्हें क्या हुआ है?'

'कुछ नहीं।' रमेश झेंप कर कहता।

डिपो से लौट कर नहा, धो और खाना खाकर जब वे बैठे थे तो नवनीत प्रमोद-गृह वाला व्यक्ति उनके पास आया। उसके साथ एक नौकर उनके लिये कपड़े भी लाया था। नौकर को बाहर भेज कर उस व्यक्ति ने मुस्कराते हुए पूछा, 'कहो अच्छे तो हो?'

'आपकी कृपा है।' रमेश ने कहा।

'देखिये, आपको आज तीन बजे 'मसूरी लाइन्स' से जाना होगा।'

'कहाँ?' रमेश ने पूछा।

'देहली।'

'क्यों?'

'चन्द्रमोहन जी का आदेश। हाँ तो यह लीजिये टिकट।' कह कर उसने दो टिकट रमेश के हाथ पर रख दिये और फिर कहने लगा, 'आपकी यात्रा आठ घण्टे की है— यदि बीच में कोई दुर्घटना न हो। आप लोग ग्यारह बजे देहली पहुँच जायेंगे। इस गाड़ी के ठहरने के अड्डे के पास ही 'मधुमास-विश्राम-गृह' है। आप दोनों को उसमें स्थान मिल जाएगा.........'

यह सुन कर कजरी इतनी लाल हुई कि उससे फिर वहाँ बैठा नहीं गया। वह उनके पास से उठ कर बाहर खुले में आ गई और लोगों का आना-जाना देखने लगी। नवनीत वाले ने अपनी बात पूरी की, 'उसके पश्चात् आप जहाँ चाहें चले जाइयेगा। हाँ, आज ही के सिले हुए कपड़े पहिनें तो अधिक अच्छा है। मसूरी में आजकल पंजाब का 'सीज़न' है इसलिये उनके लिए यह पंजाबी कपड़े पहनना अच्छा होगा। बस, मुझे इतना ही कहना है। ईश्वर की कृपा से आपकी यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो।' और वह जाने के लिये उठा।

'परन्तु होटल का बिल, कपड़ों के पैसे?' रमेश ने कहा।

'उसकी आप चिन्ता न कीजिये।'

'वाह! यह कैसे हो सकता है?'

'ऐसे ही होगा।' उस व्यक्ति ने शान्ति से कहा, 'ढाई बजे रिक्शा आप को लेने आ जायगा। अच्छा नमस्ते और शुभ-यात्रा!'

उसी दिन पौने तीन बजे किनक्रेग पर बढ़िया कपड़े का सलवार-कमीज़ पहने, सिर पर महीन-सी ओढ़नी डाले, पैरों में सुन्दर सैंडिल पहिने हुए तथा 'ई० एफ़० पाटनवाला' तथा 'पियर लाइन पेरिस' के आधुनिक शृंगार-साधनों द्वारा सुसज्जित एक सुन्दर तथा आकर्षक युवती को एक सूट-विभूषित काला चश्मा-मण्डित आँखों वाले युवक के साथ देख कर कौन कह सकता था कि वह युवती 'गँवई गाँव' की छोकरी कजरी थी और वह युवक गाँव का मोटे धोती-कुर्ते वाला सीधा-सादा 'मास्टर जी' रमेश था ?

दोनों निर्विघ्न देहली पहुँच गये। दो दिन देहली रहे, परन्तु जल्दी ही जी ऊब गया। जब मनुष्य के पास काम न हो और किसी प्रकार का डर हृदय में समाया हुआ हो तो अच्छे से अच्छे स्थान में भी मन नहीं लग सकता। देहली से वे मथुरा गये, फिर आगरा। इसके बाद इलाहाबाद रुकते हुए बनारस पहुँचे। बनारस में जब उन्हें तीन दिन हो गये तो रमेश को सहसा ज्ञात हुआ कि रुपये समाप्त होने को आए हैं। कहते हैं ज्ञान मस्तिष्क का प्रकाश है, परन्तु इस ज्ञान से रमेश के मस्तिष्क में अँधेरा छा गया। वह कहाँ जायगा, क्या करेगा, कजरी को अपने साथ-साथ कब तक और किस रूप में रक्खे फिरेगा और यदि नहीं रक्खेगा तो उसका क्या होगा, फिर नई जगह में कब तक रह सकेगा, मान लो नौकरी भी की— यद्यपि इसका कोई निश्चय नहीं कि आवश्यकता पड़ते ही नौकरी मिल जायगी— तो कर भी सकेगा या नहीं, कब तक घर छोड़ सकेगा, कजरी तथा उसका सम्बन्ध जो दिनों-दिन जटिल होता जा रहा था, उसका अन्त कहाँ होगा— आदि बातें घूर्णी-वायु के समान हर समय उसके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगीं। घर लौटने के मार्ग में कजरी एक बड़ी भारी बाधा लगी। उसने पहले कभी भी इस बात को इतनी गम्भीरता से नहीं सोचा था। अब सोचा तो कजरी को साथ लेकर उस कट्टर हिन्दू घर में जाना असम्भव प्रतीत हुआ। उसके आगे माता-पिता, भाई-बहिन सब की मूर्तियाँ घूमने लगीं। माता-पिता ने कितनी आशाओं से उसे पाला था। माँ की इच्छा थी, कोई सुशील-सी बहू घर में आ जाती, उन्हें कुछ विश्राम मिलता, पोते-पोती का मुख देख कर भगवान की आराधना करती-करती सो जातीं······।

जब तक घर की स्मृति नहीं उभरी थी तो कुछ बात नहीं थी, जब उभर गई तो इतनी उभरी कि बहुधा वह रो पड़ता। वह उड़ कर घर पहुँच जाना चाहता था, परन्तु कजरी पैरों में बँधा पत्थर बन गई थी। वह उस पत्थर को (कभी-कभी फेंकने की इच्छा होते हुए भी) फेंक नहीं सकता था।

इसी सोच-विचार में दो दिन और सटक गये। अपने सारे व्यय बहुत कम कर देने पर भी उनकी पूँजी प्रति घण्टे कम होती जाती थी। रमेश खड़ा हुआ सोचता, बैठा सोचता, लेटे सोचता, खाते, पीते, जागते, सोते— हर समय सोचता ही रहता।

कभी-कभी निराशा तथा दुःख से अपने बाल नोचने लगता परन्तु फल कुछ भी नहीं निकलता। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। कजरी उसकी दशा देख-देख कर चिन्तित थी। वह उससे डरने लगी। जब कभी कजरी साहस करके एक-आध बात कहती तो रमेश अकारण ही उसे डाँट देता और यद्यपि बाद में क्षमा भी माँग लेता था फिर भी कजरी दुःखी रहने ही लगी। और घबरा कर एक दिन— हाँ एक दिन रमेश ने बहुत दिन की सोची हुई बात पूरी कर दी :

उसने सुबोध को तार भेजा, 'कल रात को पहुँच रहा हूँ।' और अगले दिन प्रातःकाल दोनों जने कलकत्ता लाहौर मेल में बैठ कर बनारस से घर की ओर चल दिये।

३३

रमेश ने सुबोध को तार कर दिया था और स्वयं कजरी के साथ गाड़ी में सवार हो गया था। गाड़ी में बैठते ही उसके विचार इधर-उधर भटकने लगे। वे दोनों द्वितीय श्रेणी के एक डिब्बे में थे। जब से वह मसूरी पहुँचा था तब से पैसा उसके लिये बहुत विचारणीय वस्तु नहीं रहा था। पैसे में वह एक प्रकार से खेला था। परन्तु ख़ूब ख़र्च करने पर भी उसके व्यवहार में उच्छृङ्खलता नहीं प्रतीत होती थी। प्रतीत होता था कि नितान्त आवश्यकता पड़ने पर ही पैसा ख़र्च किया जा रहा है। रमेश उन थोड़े व्यक्तियों में से था जो अपने आपको प्रत्येक वातावरण तथा परिस्थिति के अनुकूल बना लेते हैं। जब उसके पास पैसा नहीं था या कम था तब भी उसने अपना काम चला लिया और जब पैसा हुआ तो वह इस प्रकार रहने लगा मानो उसका सारा जीवन उसी माप-दण्ड पर व्यतीत हुआ है। यद्यपि उसके पास पैसे थोड़े रह गये थे और घर पर जाकर फिर कैसा जीवन बिताना पड़ेगा इसे भी वह भली भाँति समझता था, फिर भी उस समय उसकी दृष्टि में द्वितीय श्रेणी ही यात्रा करने का एक मात्र साधन रह गया था। डिब्बे में चार यात्रियों के लिये स्थान था। दो पर वे दोनों बैठ गये। तीसरी पर एक अधेड़, व्यापारी-सा प्रतीत होने वाला, पंजाबी बैठा था और चौथी ख़ाली थी। ऊँची श्रेणी के डिब्बों में अत्यन्त आवश्यक होने के अतिरिक्त और किसी कारण से— केवल बात करने के लिये— किसी से बातचीत बढ़ाने का प्रयत्न करना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता है। डिब्बे में बैठकर कजरी और रमेश ने आपस में दो-चार साधारण बातें कीं और चुप हो रहे— दोनों में से कोई भी अधिक बातचीत करने की अवस्था में नहीं था।

कजरी के हृदय में उस समय एक बड़ा तूफ़ान उठ रहा था जिसके शोर में वह इतनी डूबी थी कि यदि कोई बात उससे कही भी जाती तो भी वह उसे सुन पाती— इसमें सन्देह है। उसे अपना भविष्य एकदम अंधकारमय प्रतीत हो रहा था। इधर कुछ दिनों में वह इतनी परिवर्तित हो गई थी कि सहसा यह विश्वास करना कठिन हो जाता कि यह वही पहले की हँसमुख, चंचल, अल्हड़, साथ ही कार्य-चतुर कजरी है। उसकी आत्मा जैसे मर गई थी। वे लोग इतने स्थानों पर गये, परन्तु उसने किसी भी स्थान को जाने, वहाँ ठहरने अथवा वहाँ से चलने की इच्छा नहीं प्रकट की।

आशा, इच्छा, उत्कण्ठा, सब मानो उसे छोड़ चुके थे। वह न रोती थी न हँसती थी। उसने अपने आप को पूरी तरह परिस्थितियों तथा उस मनुष्य के भरोसे छोड़ दिया था जिसके साथ भाग्य ने उसे बाँध दिया था। रमेश का व्यवहार उसके साथ बिल्कुल उदासीन-सा था। प्रेम, घृणा, चाहना, कुछ भी उसके व्यवहार से प्रकट नहीं हुई थी। वह भी उसकी ओर से उदासीन-सी ही थी। जो कुछ वह बोलता, सुन लेती; कहता, कर देती। कभी-कभी सहसा उसके मन में प्रश्न उठता, 'अब क्या होगा?' परन्तु उत्तर तो कहीं भी नहीं मिलता था। एक वस्तु ऐसी थी जिसके लिये उसके मृत-प्रायः हृदय में भाव शेष थे। वह वस्तु थी उसका घर। घर के साथ बाप, भाई और गाँव भी था। गाँव से तो उसे विशेष लगाव नहीं था। उस गाँव ने सदा उन पर अत्याचार किये थे। वह उस गाँव में रहने से प्रसन्न नहीं थी। गाँव छूटने का विशेष दुःख उसे नहीं हुआ— विशेष नहीं हुआ, थोड़ा बहुत तो हुआ ही। क़ैदी भी जेल छोड़ते हुए दुःख अनुभव करते हैं, कजरी का तो फिर भी गाँव और घर था। परन्तु गाँव की ओर से मन हटाने में उस डर ने भी सहायता की थी जिसके कारण वे गाँव छोड़ कर भागे थे। वापस गाँव पहुँच कर वह किस परिस्थिति में पड़ जाती, यह वह खूब समझती थी। इतने दिन, बल्कि एक दिन भी, वैसी अवस्था में जिसमें उसने घर छोड़ा था, रह जाने पर उसका पिता भी उसे पहले जैसे भाव से ग्रहण करने को तैयार होता, इसमें कजरी को सन्देह था। ख़ैर, गाँव का ध्यान उसे आता हो या न आता हो, भाई और बाप की मूर्त्ति तो उसकी आँखों के सामने से हटाए न हटती थी। उनका क्या हुआ होगा— इस बात का उत्तर उसे कोई नहीं दे सकता था। परन्तु उसके अपने भाग आने से उनकी दशा कुछ अच्छी न होगी, यह वह कुछ-कुछ अनुभव कर रही थी। रेलगाड़ी में बैठी वह ऐसे ही विचारों में लीन थी।

और रमेश? आश्चर्य है इतनी उलट-पुलट स्थिति में भी उसके हृदय में प्रेम का द्वन्द्व चल रहा था। उसके मन में सहसा यह विचार उत्पन्न हो गया था कि यदि वह घर जाता है तो उसे दोनों में से एक को छोड़ना पड़ेगा। और इसी विचार को केन्द्र मान कर कल्पना के वृत्त बनते जा रहे थे। उसके जीवन में सरो और कजरी, दो युवतियाँ आई थीं। दोनों अपने-अपने ढङ्ग से उससे बँधी थीं, सरो को वह प्यार करता था और कजरी को? पहले वह इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट नकारात्मक दे देता, परन्तु जब उसे इसी प्रश्न पर सब कुछ निर्णय करना था तो वह डाँवाडोल हो गया। कजरी के प्रति उसके भावों में पहला परिवर्तन उस दिन आया जिस दिन वह और चन्द्रमोहन कजरी की बात को लेकर अन्दर उलझ रहे थे और बाहर आकर दोनों ने कजरी को आँसू बहाते देखा था। रमेश को ध्यान आया कि कजरी के उस पर इतने उपकार हैं कि वह उनसे जीवन भर उऋण नहीं हो सकता। कजरी के बाप ने ग़रीब होते हुए भी उसे अपने घर में आश्रय और भोजन दिया, कजरी ने इतने

दिन उसकी निःस्वार्थ सेवा की। इन सबका बदला वह यह दे कि अन्त में उस बेचारी को काले कोसों लाकर अधर में ही छोड़ दे। तब रमेश क्या करे? कजरी के साथ शेष जीवन बिताए। परन्तु कजरी और उसके बीच में सरोज और रमेश का अपना परिवार आ खड़ा होता था। सरो ने उसे अपना प्रेम, विश्वास सब कुछ दिया। क्या उस सरो और माता, पिता, भाई, बहिन से भरे-पूरे परिवार को केवल भावुकता में आकर छोड़ दे? यह भी कुछ ठीक नहीं प्रतीत हुआ। वह उन्हें नहीं छोड़ सकता था। तो क्या कजरी को छोड़ दे? रमेश ने कजरी की ओर देखा।

मनुष्य का स्वभाव है कि यदि वह किसी वस्तु के निकट सम्पर्क में एक बार भी आ जाय तो वह उसे छोड़ना नहीं चाहता। जब किसी वस्तु अथवा प्राणी को छोड़ने न छोड़ने का प्रश्न आ जाता है तो उसका सौन्दर्य, उसका मूल्य, उसका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। उस समय कजरी अपनी उदास मुखाकृति में रमेश को अत्यन्त सुन्दरी प्रतीत हुई। केवल शारीरिक सौन्दर्य ने ही उसे आकर्षित नहीं किया, बल्कि कजरी के स्वभाव की एक-एक बात— उसकी सहिष्णुता, आचार-विचार, शील, धैर्य— सभी उसे एकाएक बहुत ऊँचे लगने लगे और उसे विचार हुआ कि नहीं, वह कजरी को नहीं छोड़ सकता। इसी मानसिक द्वन्द्व में गाड़ी उसे भगाए ले जा रही थी।

* * * *

सुबोध ने अपनी तैयारी यथेष्ट नहीं समझी थी इसलिये १९४३ की बी. एस-सी. की परीक्षा में वह थियरी के पर्चों में नहीं बैठा था और जुलाई में फिर कॉलेज जाने लगा था। सरोज भी पढ़ रही थी। कोई उल्लेखनीय घटना इस बीच में वहाँ नहीं घटी थी। सुबोध और सरोज दोनों, जहाँ तक सम्भव था, रमेश के परिवार की हर प्रकार सहायता करते रहते थे। उस घर की दशा अच्छी नहीं थी। रमेश की लम्बी और इस प्रकार की आशाहीन अनुपस्थिति से उसके माता-पिता के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ा था। वे बहुधा बीमार रहते थे। रमेश की माता जी ने तो एक प्रकार से स्थायी रूप से चारपाई पकड़ ली थी। महेश पाठशाला जाने लगा था। इन्दु हिन्दी की वह परीक्षा पास करके आगे नहीं पढ़ सकी थी। घर के सारे काम-काज का भार उसी के सिर आ पड़ा था।

सुबोध ने जब रमेश का तार पढ़ा तो वह उछल पड़ा। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने अपनी आँखें मलीं और फिर पढ़ा। उसने तार के काग़ज़ को हाथ से मल कर देखा कि सत्य है अथवा विकृत मस्तिष्क का विकार; परन्तु सब सत्य था— कोई भुलावा नहीं। उसे पहला विचार आया कि सरोज को यह समाचार सुना दे, परन्तु वह रुक गया। उसने सरोज को आश्चर्य में डालना चाहा। फिर उसने सोचा कि रमेश के घर उसके आने का समाचार दे दिया जाय, परन्तु एक बार रमेश के लौटने का समाचार पाकर उसके माता-पिता के लिये प्रतीक्षा करना

अत्यन्त कष्टकर होगा— यह सोच कर वह बाहर जाकर भी लौट आया। परन्तु उसके मुख की प्रसन्नता सरोज से छिपी न रही और उसने पूछ ही तो लिया, 'क्या बात है भैया, आज बहुत प्रसन्न हो ?'

'हाँ।'

'क्यों ?'

'मेरा एक मित्र आने वाला है।'

'कहाँ से ?'

'बनारस से।'

'बनारस से ? वहाँ तो तुम्हारा कोई मित्र नहीं रहता।'

'वाह ! तुझे क्या पता।'

'कौन है ?'

'देख लेना।'

'आज ये पहेलियाँ क्या बुझाई जा रही हैं ?'

'अच्छा बकवास मत कर। मालूम करना है तो आज स्टेशन चलना।'

'किस समय आयगा ?'

'रात को पहुँचेगा।'

'अच्छा', सरोज ने कहा और सोचती चली गई कि वह कौन मित्र हो सकता था।

रात को सुबोध ने कार निकलवाई और सरोज को साथ लेकर स्टेशन चला गया। गाड़ी आध घंटा देर से आने वाली थी। दोनों जलपान-गृह में पहुँचे और चाय पीने लगे। थोड़ी देर पश्चात् शोर मचा और गाड़ी की घड़घड़ाहट सुनाई पड़ने लगी। दोनों प्लेटफ़ार्म पर आकर गाड़ी की ओर देखने लगे।

धीरे-धीरे गाड़ी के डिब्बे एक-एक करके उनके सामने से निकलने लगे और जब एक द्वितीय श्रेणी का डिब्बा उनके सामने से निकल रहा था तो सहसा सरोज के मुख से एक हल्का-सा 'ओह······' निकल पड़ा जो आधा आश्चर्य और आधा प्रसन्नता का था। रमेश ने भी दोनों को देख लिया था। गाड़ी रुकने से पहले ही वह कूद कर उतर गया और पास आकर सुबोध से लिपट गया। सुबोध ने एक साँस में सैकड़ों प्रश्नों की बौछार रमेश पर कर दी जिसमें से एक भी प्रश्न रमेश की समझ में नहीं आया। सहसा रमेश ने कोमल कण्ठ में सुना, 'सारी प्रसन्नता एक ही ओर बिखेर दीजिएगा क्या ?'

रमेश ने सुबोध को छोड़ कर देखा कि सरोज हाथ जोड़े खड़ी थी। वह नमस्ते करता हुआ बोला, 'ओहो सरो···ज जी ! अच्छी तो हैं आप ?'

एक विशेष दृष्टि से देखती हुई सरोज बोली, 'जी मैं तो अच्छी ही हूँ, आप अपनी कहिये ।'

'मुझे तो आप देख ही रही हैं ।'

'कुछ अच्छे नहीं दीख रहे हैं ।'

'आपकी दृष्टि का दोष है ।'

रमेश मशीन की भाँति उत्तर दे रहा था, परन्तु उसका मस्तिष्क सोच रहा था कि सरोज कितनी सुन्दर हो गई है । काश वह एक बार''''' परन्तु उसके 'काश' को स्टेशन पर न पूरा होना था और न हुआ । तभी रमेश ने सुना, 'आपका बैग ।'

दो युवकों और एक युवती की मंडली में जैसे बम का विस्फोट हुआ । बोलने वाले की ओर— परन्तु नहीं 'वाली' की ओर— तीनों एक साथ आकर्षित हुए । उस विस्फोटक सहित मंडली में चार सदस्य थे । चारों पर चार विभिन्न बाहरी प्रभाव पड़े । सुबोध थोड़ा-सा चौंका । उसके माथे पर दो-तीन बल पड़ गये जो कोई गम्भीर बात सोचते समय उसके माथे पर पड़ जाते थे । सरोज का हँसता हुआ मुख एकदम लाल होकर फिर पीला पड़ गया । उसे लगा कि उसका हृदय कार्य करना बन्द कर देगा । रमेश का दुबला-पतला, पीला मुख और भी पीला हो गया । उसने बारी-बारी से कजरी और सरोज की ओर देख कर गर्दन नीची कर ली । इन तीनों भाव-परिवर्तनों को लक्ष्य करके कजरी का मुख उदास मुस्कान से भर गया ।

चारों में सबसे अधिक परिस्थितियों की ठोकर कजरी ने खाई थी । वही सबसे जल्दी किसी प्रभाव से उबरने की आदी थी । उसने अपने आप को संभाल कर कहा, 'अब चलियेगा नहीं ?'

शेष तीनों उसकी बात से चौंके । रमेश एकाएक बोला, 'ओ हाँ, ठीक तो । अब चलना ही चाहिये, परन्तु पहले तुम लोगों का परिचय तो करा दूँ ।'

'अभी परिचय कराना क्या अत्यन्त आवश्यक है ?' कजरी ने कुछ उद्दंडतापूर्वक कहा और एक बार रमेश और एक बार सरोज की ओर देखा । चोट घर कर गई । दोनों तिलमिला गये, यद्यपि स्वयं सरोज की जिह्वा पर बिल्कुल यही बात थी । कजरी की बात से स्पष्ट प्रतीत होता था कि परिचय की कोई आवश्यकता नहीं, वह सब कुछ समझ गई है । सरोज के हृदय में ईर्ष्या तथा क्रोध की बिजली कौंध गई । चोरी और फिर सीनाज़ोरी ! कहाँ तो उसे अनधिकार चेष्टा पर लज्जित होना चाहिये था और कहाँ अब उल्टी उसे (सरो को) ही ताना देने चली है ! परन्तु इससे ईर्ष्या के साथ-साथ सरोज को अव्यक्त प्रसन्नता भी हुई । ऐसे अवसरों पर क्रोध करने वाला सदा हार में रहता है । कजरी के उस प्रकार तिनके हुए स्वर में पहल करने से मानो रमेश और सरोज एक दूसरे के कुछ पास आ गये थे और सरोज कजरी से कुछ ऊँची उठ

गई थी। सरोज अपने मन में रमेश को चाहे कुछ भी समझ रही थी, परन्तु प्रतिद्वन्द्विनी को कुढ़ाने का अवसर उसने नहीं छोड़ा। मुस्कराती हुई बोली, 'हाँ हाँ रमेश बाबू, अभी जल्दी ही क्या है ? पहले घर चलिये ; परिचय होता रहेगा।' और रमेश को चुप देख कर बोली, 'चलिये न, गाड़ी बाहर खड़ी है।' सुबोध बैग लेकर आगे-आगे चला और ये तीनों उसके पीछे चले।

* * * * *

प्रातःकाल उठते ही रमेश ने कहा, 'सुबोध, मैं घर जाऊँगा।'

'अभी ?' सुबोध ने पूछा।

'हाँ', रमेश ने उत्तर दिया।

'पागल हुआ है क्या ?'

'कुछ भी समझ, परन्तु जाऊँगा अभी।'

'अजीब आदमी है। घर तो जायगा ही, पर चाय-पानी तो पी ले।'

'चाय-पानी तो चाहे बाद में पी लूँगा, परन्तु घर अभी जाऊँगा।'

'जैसी तुम्हारी इच्छा', सुबोध ने किञ्चित् खिन्न मन से कहा।

रमेश को सारी रात नींद नहीं आई थी। एकाएक जिस कठिन तथा अप्रिय परिस्थिति में वह पड़ गया था उसे वह रात भर अपने मस्तिष्क में घुमाता-फिराता रहा था। आरम्भ में उसने सोचा था कि कजरी को कुछ दिन के लिये सुबोध के घर या कहीं और छोड़ देगा, और धीरे-धीरे अपनी माता जी को इस प्रकार बातों में कर लेगा कि वे स्वयं ही कजरी को देखने को उत्सुक हो जायँगी। माँ की ममता और बेटे के बुरे दिनों में जिसने भी बेटे का साथ दिया हो— उसके प्रति माँ की दुर्बलता— दो बातों के ऊपर रमेश भरोसा किये बैठा था, परन्तु उसके साथ कजरी को देख कर जो प्रभाव सरो तथा सुबोध पर पड़ा था— आश्चर्य है— उसे रमेश ने पहले नहीं सोचा था। उसे इस बात का तो कुछ विश्वास था कि यदि वह सरोज को ढंग से समझा सकेगा तो वह ऐसी मूर्ख नहीं कि उसकी बात नहीं मानेगी, परन्तु जब वह कह पाए तभी तो। कजरी और सरोज ने मिल कर उसके प्रति और आपस में एक दूसरे के प्रति स्टेशन से लेकर घर पर सोने तक जो व्यवहार आरम्भ किया था, उससे रमेश को आशा नहीं होती थी कि वह कभी किसी का भ्रम दूर कर सकेगा। उसकी मानसिक अवस्था उस समय इतनी डाँवाडोल थी कि वह सरोज की माता जी से भी नहीं मिलना चाहता था, इसी लिये उतने तड़के भाग रहा था। इसके अतिरिक्त उसने कजरी को सुबोध के घर छोड़ने की सम्भावना बिल्कुल त्याग दी और निश्चय किया कि वह कजरी को अपने ही घर ले जायगा। अबेर-सबेर उसे

घर ले जाना तो पड़ेगा ही, इसलिये अभी क्यों न ले जाय ? जो कुछ होना होगा, देखा जायगा। माँ की तो वह गालियाँ भी सह लेगा, परन्तु कजरी और सरोज के परस्पर ताने उसकी सहनशक्ति से बाहर होंगे। चाहे कुछ भी हो, चाहे वह कजरी से प्रेम करता था या नहीं करता था— वह कजरी की स्थिति ख़राब नहीं करना चाहता था। कुछ दुर्बलताओं के साथ रमेश के चरित्र में यह विशेषता भी थी कि चाहे कितनी कठिनाई आए, स्वयं कितनी ही गड़बड़ी में पड़ जाय, कितनी ही बार डाँवाडोल भी हो जाय, परन्तु जिसका हाथ एक बार थाम लिया, उसे छोड़ना नहीं जानता था।

कजरी और सरोज भी उठ चुकी थीं। कजरी चलने के लिये तैयार थी ही। जब रमेश और कजरी सचमुच चलने लगे तो सरोज बोली, 'क्या आप सचमुच अभी जा रहे हैं ?'

'एक मिनट बाद पूछना यह बात', रमेश ने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा।

'अच्छा परिचय तो कराते जाइये', सरोज ने एक कुटिल मुस्कान सहित कहा।

'अभी क्या जल्दी है, अभी तो आप दोनों फिर मिलेंगी।' रमेश ने उत्तर दिया।

'किसी की इच्छा नहीं मारनी चाहिये।' कजरी ने रमेश से सिफ़ारिश की।

इस सिफ़ारिश का सरोज पर क्या प्रभाव पड़ा होगा— इसे तो मनोवैज्ञानिक ही समझायेंगे। रमेश ने कजरी की बात मान ली। उसने जल्दी से कहा, 'यह हैं मेरे मित्र सुबोध। परन्तु कजरी, केवल मित्र कहने से मैं नहीं कह सकूँगा। माता-पिता को छोड़ कर और कोई भी व्यक्ति— जिससे मेरा रक्त का सम्बन्ध भी है— मेरे इतना पास नहीं है जितना सुबोध······ और ये हैं इनकी छोटी बहिन सरोज। ······ और ये हैं कुमारी कजरी। अपने प्रवास में मैं इनके ही घर रहा हूँ।' रमेश ने हँसते हुए अपनी बात का अन्तिम भाग कहा।

रमेश के कथन से कजरी और सरोज दोनों के चोट पहुँची और गहरी पहुँची। 'इनकी बहिन' और 'इनके घर रहा था'— इन शब्दों में जो रूखापन-सा था वह दोनों को सहसा काँटे की भाँति चुभा। दोनों कुछ और चाहती थीं। अधिक आत्मीयता प्रकट करने वाले शब्दों में परिचित होना चाहती थीं। मनुष्य के हृदय में विरोधी भावों का विचित्र मिश्रण होता है। एक ओर तो दोनों चाहती थीं कि उनके विषय में कुछ और कहा जाता और दूसरी ओर मन में कह रही थीं कि बहुत काफ़ी कह दिया गया। 'इनके घर रहा था', इसका पूरा अर्थ— सम्भावित अन्तर्कथाओं सहित— सरोज पर प्रकट हो गया था। किसी युवती के घर कोई अपरिचित युवक एकाएक आकर रहने लगे और पौने दो साल तक साथ रह कर उसे अपने साथ ले आए— इसके अन्दर जो अर्थ छिपा है, उसे कोई पुरुष भी नहीं चूक सकता, फिर स्त्री

तो स्त्री ठहरी ; और जिसका भाई रमेश के इतना निकट है और जो आपस में इतने घनिष्ठ हैं कि पौने दो वर्ष पश्चात् अपने घर न जा कर पहले उसके घर ठहरे, और जब उनमें (सरो और रमेश) भाई-बहिन जैसे सम्बन्ध की सम्भावना नहीं दिखाई पड़ी, तो वे एक दूसरे के निकट क्या होंगे, यह कजरी से छिपा न रहा। वे दोनों अपने विचारों लीन थीं। सुबोध रमेश को बतला रहा था कि चाय तैयार थी और उसे चाय पीकर जाना पड़ेगा। रमेश ने पूछा, 'माँजी को तो पता नहीं कि मैं आया हूँ ?'

'नहीं।'

'तो अभी मत बतलाना।'

'क्यों ?'

'ऐसे ही। संध्या को मैं स्वयं आऊँगा।'

सुबोध सोचने लगा— 'अजीब आदमी है। इसकी तो कोई भी बात अब समझ में नहीं आती···', तभी नौकर चाय ले आया। सुबोध ने सबसे बैठने का अनुरोध किया। कजरी ने रमेश की ओर देखा। मानो पूछा, 'सबके साथ बैठ जाऊँ ?' रमेश उस दृष्टि से व्यथित हुआ। नये रक्त पर— विशेषतः शिक्षित समुदाय में— छुआछूत का इतना प्रभाव नहीं पड़ता। उसने शीघ्रतापूर्वक कहा, 'आओ कजरी, बैठो।' चारों बैठ गये। एक बार रमेश के मन में विचार हुआ कि सब पर प्रकट कर दे कि कजरी क्या है, परन्तु वह रुक गया। उस समय कजरी का अछूत होना प्रकट करना सबकी दृष्टि में उसे गिराना था। रमेश यह कभी नहीं चाहता था।

चाय पीकर कजरी, रमेश और सुबोध रमेश के घर पहुँचे। रमेश के पिता जी पूजा कर रहे थे। इन्दु और उसकी माता जी रसोई में थीं। महेश तब तक सो ही रहा था। सहसा कार का भोंपू सुनकर इन्दु और उसकी माता जी चौंक पड़ीं। उन्होंने सोचा कि सवेरे-सवेरे उनके द्वार पर कार कैसी ! परन्तु वे निश्चय नहीं कर सकीं कि कार उन्हीं के द्वार पर है या कहीं और। तभी दोबारा भोंपू बजा। इन्दु एकाएक बोली, 'माता जी, सुबोध भाई आए होंगे।'

'इतने सवेरे वह क्या करने आएगा री ?'

'यह तो पता नहीं, परन्तु उन्हीं की गाड़ी का भोंपू प्रतीत होता है।'

रमेश की माता जी बाहर निकली ही थीं कि सुबोध आँधी की भाँति घर में आता हुआ उन्हें नमस्ते करके बोला, 'माँजी, मुँह मीठा कराओ तो एक चीज़ दूँ।'

'ला चीज़ दे दे, मुँह भी मीठा हो जायगा।'

'वाह ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं खेला हूँ। पहले मुँह मीठा कराइये।'

'अच्छा भाई, पहले मुँह ही मीठा कर ले······ अरी इन्दु ! एक गुड़ की डली तो ले आ ?'

सुबोध जल्दी से बोला, 'अच्छा अच्छा, मिठाई खा लूँगा, चलिये आपको चीज़ तो दे दूँ ।' यह कह कर वह उन्हें बैठक की ओर ले चला । बैठक के द्वार पर जैसे ही वे पहुँचीं, रमेश उनके पैरों पर गिर पड़ा । पहले तो वे हक्की-बक्की रह गईं, परन्तु जब रमेश को देखा और कुछ-कुछ उनकी समझ में आया तो उन्होंने रमेश को अपनी छाती से लगा लिया । उनकी आँखों से आँसू बहने लगे ।

जब दोनों संयत होकर बैठक में आए तो रमेश की माता जी की दृष्टि कजरी पर पड़ी । कजरी उन्हें देखते ही उठी और उनके पैर छुए । परन्तु उनका मुख कजरी को देखते ही विवर्ण हो गया । उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि रमेश किसी अपरिचित युवती को साथ लेकर आएगा । उन्हें बड़ा आश्चर्य भी हुआ । आश्चर्य को संभाल लेने पर उन्होंने रमेश की ओर जिस दृष्टि से देखा उससे रमेश घबरा कर खड़ा हो गया । उनकी दृष्टि में क्रोध, घृणा, दुःख, अपमान— सभी कुछ था । रमेश ने अपनी माता जी की वैसी दृष्टि पहले कभी नहीं देखी थी । वह एकदम बोला, 'माता जी, मैं अब तक इन्हीं के घर रहा था ।'

परन्तु उन्होंने उत्तर में केवल एक लम्बा-सा 'हूँ·········' कहा । फिर भी उन्होंने कजरी को जल्दी से उठा कर कहा, 'बैठो बेटी ।' इसके पश्चात् वे फुर्ती से अन्दर को चली गईं और रमेश भी उनके पीछे चला गया ।

अन्दर की कोठरी में जा कर रमेश ने अपनी माता जी के पैर पकड़ लिये और बोला, 'माता जी, तुम्हें मेरी बात पर विश्वास करना ही होगा । मैं यहाँ से फ़ेल होने के कारण भाग गया था और जब तीन दिन तक भूखा रहने के कारण बेहोश होकर गिर पड़ा था तो इनके पिता जी ने ग़रीब होते हुए भी मुझे खाने को दिया, अपने घर में स्थान दिया और इतने दिन तक भी मैं इन्हीं के घर रहा । दुःख बीमारी में यदि ये लोग न होते तो शायद आज तुम मुझे यहाँ देख भी नहीं सकतीं ।'

'पर यह तेरे साथ क्यों आई है ?' माँ ने पूछा ।

रमेश सहसा इसका उत्तर न दे सका । उसने अपने सूखते हुए होंठों पर जीभ फेरी और अपने अनजान में ही होनी बात कह गया । उसने कहा, 'बात यह हुई माता जी, कि उस गाँव के पास लोगों ने एक पुल उड़ा दिया । सारे गाँव पर जुर्माना हो गया । इनके पिता जुर्माना नहीं दे सके और सरकार ने कुर्की करा ली । पुलिस वालों ने इनके पिता को इतना मारा-पीटा कि वे मर गये । बाप को छोड़ कर इनका और कोई सहारा नहीं था । तब मुझे मजबूर होकर इन्हें साथ लाना पड़ा ।'

'इसके गाँव में भी कोई इसका नहीं था ?'

'यही तो मुश्किल थी। गाँव में कोई नहीं था। इसके अतिरिक्त एक बात और है माता जी। इनके पिता चमार ...... थे।'

रमेश की माता जी ऐसे उछल पड़ीं जैसे सामने बिच्छू देख लिया हो। वे बिना एक भी शब्द बोले धीरे-से रमेश से अपने पैर छुड़ा कर चली गईं और रमेश सिर नीचा किये हुए बैठक में चला आया।

थोड़ी देर पश्चात् रमेश और कजरी दोनों ने ही रमेश की माता जी की आवाज़ सुनी, 'इन्दु बेटी! बाल्टी में पानी रख दे, मैं नहाऊँगी।'

अपमान, लज्जा तथा क्रोध से कजरी का मुख काला पड़ गया। उसे सहसा सहस्रों बिच्छुओं के दंशन की पीड़ा अनुभव हुई। उसने रमेश से पूछना चाहा, 'क्या यही अपमान कराने के लिये मुझे यहाँ लाए थे?' परन्तु वह भावावेग के कारण बोल न सकी, पूछ न सकी। पिछली रात से ही वह जो अपमान पाती आ रही थी, उसे परिस्थितियों के कारण सहन करती रही थी, पर अब तो हद हो गई। उसके संयम का बाँध टूट गया और आँसुओं का तार बँध गया।

और उसी समय एक दूसरी नारी भी अपमान, क्रोध, निराशा तथा ग्लानि के आँसू बहा रही थी। वह सरोज थी।

परन्तु इतना ही बस नहीं हुआ। रमेश और कजरी को अभी बहुत कुछ देखना था। दोपहर में उनके लिये खाना बैठक में ही आ गया और रमेश ने पहचान लिया कि खाना उन बर्तनों में लाया गया था जो उसके तथा उसके पिता जी के मुसलमान तथा अस्पृश्य मित्रों के लिए अलग रक्खे हुए थे।

बैठक में कोई नहीं आता था। इन्दु और महेश को भी उनके पास जाने की अनुमति नहीं थी। दोनों उनके पास जाने के लिये छटपटाते थे, परन्तु माता का अनुशासन कठोर था। रमेश के पिता जी ने यद्यपि उसके आने पर कोई विशेष बात नहीं कही थी, फिर भी कजरी के साथ आने से वे कुछ विशेष प्रसन्न नहीं प्रतीत होते थे। परन्तु वे घर के कार्यों में विशेष हस्तक्षेप नहीं करते थे। मध्यम श्रेणी के अधिकांश परिवारों में माता घर के अन्दर की एकछत्र अधिकारिणी होती है और पिता घर के बाहर का अधिकारी। रमेश का घर भी इसमें अपवाद नहीं था।

महेश अपने और अपने भाई जी के बीच में पड़ने वाली उस आशा के लिये कजरी को— जिसके लिये सीधा-सादा 'भाभी' शब्द चोरी-छिपे प्रयुक्त होने लगा था— दोषी ठहराता था और उसके सामने भी नहीं आता था, परन्तु इन्दु को कजरी की दशा से सहानुभूति थी और कजरी पर उसे तरस आता था। जब कभी भी वह बैठक के सामने से जाती और कजरी पर उसकी दृष्टि पड़ती तो वह उसे रोती ही पाती। परन्तु इन्दु कुछ कर नहीं पाती थी। कभी-कभी माता की अनुपस्थिति में कजरी से

जल्दी-जल्दी एक-दो बात कर लेती थी। इस प्रकार दिन लुढ़कते जा रहे थे कि एक दिन इन्दु को सहसा एक बात याद आई जिसे वह इस नये हुड़दंग में भूल ही गई थी। उसने अपनी माता जी की अनुपस्थिति में एक दिन रमेश को अन्दर बुलाकर कहा, 'भैया, तुम सरोज के घर भी गये थे ?'

'नहीं, कई दिन से तो गया नहीं। क्यों ?'

'तुम्हें एक बात ज्ञात है ?'

'क्या ?'

'सरोज दीदी का विवाह होने वाला है।'

'हैं.... ?' रमेश ने आँखें फाड़ कर पूछा।

'सरोज का विवाह होने वाला है।'

'सच ?'

'हाँ।'

रमेश नीचे बैठ गया। उसे प्रतीत हुआ मानों उसके सिर में पनचक्की चल रही है। कुछ देर वह इसी प्रकार जड़वत् बैठा रहा, फिर पूछा, 'कब है विवाह ?'

'मुश्किल से दो सप्ताह होंगे।'

'किसके साथ ?'

'इलाहाबाद के किसी वकील का लड़का है, बैरिस्ट्री करता है।'

'हूँ', रमेश ने कहा और दोनों हाथों से अपना सिर दबा कर बैठ गया, फिर थोड़ी देर पश्चात् जाकर बैठक में लेट रहा।

और उसी दिन संध्या को रमेश सरोज के घर गया। सुबोध घर नहीं था, उसकी माता जी मिलीं। उन्होंने उपालम्भ भरे स्वर में कहा, 'वाह! एक दिन सूरत दिखा कर तुम तो बिल्कुल अन्तर्धान ही हो गये।

'ऐसे ही ज़रा जी अच्छा नहीं था माँजी।'

'अब कैसा है ?'

'अब तो ठीक हूँ।' रमेश ने उत्तर दिया।

सुबोध की माता जी को कजरी का पता नहीं था, नहीं तो इस ढंग की बातचीत न हुई होती। रमेश थोड़ी देर उनके पास बैठा रहा, फिर बोला, 'सरोज कहाँ है ?'

'अन्दर होगी।'

'ज़रा बुलाइये तो।'

'तुम ही चले जाओ न। आज क्या नये पर्दे लगने हैं तुम्हारे लिये!'

रमेश अन्दर गया। सरोज बैठी कोई पुस्तक पढ़ रही थी। रमेश सामने खड़ा होकर उसे एकटक देखने लगा। सरोज उसकी दृष्टि से घबरा गई। उसे रमेश के सहसा अन्दर आने पर आश्चर्य-सा भी हुआ। सहसा रमेश ने उसके हाथ पकड़ लिये और कहा, 'क्या यह सच है सरो?'

सरोज इस आकस्मिक कार्य से इतनी घबरा गई कि उसके मुख से चीख निकलते-निकलते रह गई। वह खड़ी हो गई। उसका सारा शरीर काँपने लगा और हृदय की धड़कन तीव्र हो गई। उसके मुख से शब्द निकलना ही नहीं चाह रहे थे। बड़ी कठिनता से वह कह सकी, 'क्या?'

'जो मैं सुन रहा हूँ।'

'कुछ बतलाइये भी।'

'क्या सचमुच तुम्हारा विवाह हो रहा है?'

रमेश के गले की भर्राहट, उसकी उत्सुकता तथा घबराहट में सरोज को आत्मीयता का आभास मिला। इससे सरोज प्रसन्न हुई। यह उसकी विजय थी। उसकी वस्तु उससे पूरी तरह खो नहीं गई थी। परन्तु दूसरे क्षण सरोज का मुख यह सोच कर फीका पड़ गया कि उत्तर का रमेश पर क्या प्रभाव पड़ेगा। यह हुआ और सरोज ने उत्तर देना चाह कर भी उत्तर नहीं दिया, क्योंकि मनुष्य लगभग सदा ही दोहरा खेल खेलता रहता है। अपनी विजय का और भी निश्चय करने के लिये सरोज ने कहा, 'हाँ हाँ क्यों?'

रमेश का मुख पीला पड़ गया। वह काँपते स्वर में बोला, 'यह तुम्हारी इच्छा से हो रहा है?'

'क्यों? इसमें पूछना क्या है? जब तुम विवाह करके स्त्री घर ला सकते हो तो मैं विवाह नहीं कर सकती?'

'सरो!' रमेश शीघ्रतापूर्वक बोला, 'इतना अत्याचार मत करो।'

'क्या मैं झूठ कहती हूँ?'

'बिल्कुल।'

'फिर तुम्हारी कजरी?' सरोज ने व्यंगपूर्वक कहा।

'सरो, तुम भ्रम में हो। कजरी मेरी कुछ नहीं है। इस समय संसार में उसका कोई नहीं।'

'क्यों तुम तो हो।' सरोज ने फिर व्यंग किया। रमेश अवाक् खड़ा रहा। वह सोच भी नहीं सकता था कि कोई इतना निष्ठुर हो सकता है। सहसा उसने सरो को

अपनी बाँह में कस कर पागलों की भाँति चूम लिया और फिर छोड़ता हुआ बोला, 'तुम कितना ही व्यंग करो सरो, कुछ भी कहो, परन्तु मैं जानता हूँ तुम ख़ूब समझती हो कि कजरी मेरी कोई नहीं।'

नारी-पुरुष के सम्बन्ध में सदा से ही हार में जीत निहित रही है। यह ज़बरदस्ती की हार सरोज की विजय का प्रमाण-पत्र था। फिर भी उसने पूछा, 'कजरी तुम्हारे साथ क्यों आई ?'

उत्तर में रमेश ने फिर वही कथा दुहराई। सुन कर सरोज ने संतोष की साँस ली। रमेश ने अब आवेग भरे स्वर में पूछा, 'कहो सरो, मेरे लिये अब भी कुछ आशा है ?'

सरोज ने सिर हिला दिया।

'क्या यह विवाह किसी भी प्रकार नहीं हटाया जा सकता ?'

'नहीं।'

'क्या तुम······ ?'

'मैं लाचार हूँ रामी।'

और इसके बाद की बातें आवेग भरे चुम्बन, हिचकी, सुबकी और आँसुओं में डूब गईं।

जब सरोज को यही उत्तर देना था तो इतने मान-मनौवल की क्या आवश्यकता थी— यह प्रश्न उठ सकता है। परन्तु यदि इस प्रश्न का उत्तर ही मिल जाता तो मनुष्य-स्वभाव पर अनेकों ग्रन्थ लिखे जाने पर भी वह अनबूझ पहेली न बना रहता।

रमेश अत्यन्त मरे मन से घर लौट गया।

३४

उस दिन के पश्चात् कजरी की दशा कुछ अच्छी नहीं रही। वह तो यहाँ आकर पहले ही पछताने लगी थी, परन्तु तब इतना तो सहारा था कि रमेश उससे बोलता-चालता रहता था। परन्तु जिस दिन रमेश सरोज के घर से मुँह लटकाए आया था, उस दिन से तो रंग ही बदल गया था। रमेश चुपचाप पड़ा रहता था— न किसी से बोलता था न हँसता था। खाने के समय केवल हाथ जूटा कर लिया करता था। कजरी स्वयं दुःखी थी, परन्तु रमेश की इस अवस्था के आगे अपना दुःख भूल गई। वह सब प्रकार उसका जी बहलाने का प्रयत्न करती थी, लेकिन रमेश इतना चिड़चिड़ा हो गया था कि कभी-कभी तो वह कजरी को भी डाँट देता था। एक दिन अवसर पाकर कजरी ने इन्दु से पूछ ही लिया, 'आप बतला सकती हैं बीबी जी, आपके भैया आजकल ऐसे क्यों हो गये हैं?'

इन्दु चुप हो गई। चुप के माने बहुत कुछ। कजरी ने पूछा, 'बतलाइये न। कुछ उपाय ही किया जाय।'

'उपाय कुछ नहीं है।' इन्दु ने कहा।

'आप कारण तो बतलाइये, फिर उपाय भी देखा जायगा।'

कुछ देर चुप रह कर इन्दु बोली, 'जाने दीजिए, व्यर्थ दुःख होगा।'

कजरी फीकी हँसी हँसी और बोली, 'दुःख तो जन्म से ही उठाती आई हूँ, आज कोई नई बात थोड़े ही है। दुःख की तो मैं आदी हो गई हूँ बीबी जी।' इसके अन्त में कजरी ऐसी मुस्कान मुस्काई जो रुलाई से भी अधिक करुणोत्पादक थी।

'तो सुनिये।' इन्दु ने कहा, 'सरोज का विवाह होने वाला है।'

कजरी कुछ ऐसे ही उत्तर की आशा तथा प्रतीक्षा कर रही थी, परन्तु ठीक यह उत्तर जब सम्मुख आया तो वह मूर्त्ति की भाँति बैठी रह गई। उसने हाँ या ना कुछ नहीं कहा। इन्दु बोलना चाह कर भी और कुछ नहीं बोली। वह थोड़ी देर और चुपचाप बैठ कर चली गई।

उस दिन से— नहीं, बल्कि उसी क्षण से— कजरी में एक निश्चिंत परिवर्तन हो गया। वह कभी-कभी अकारण हँसती, रमेश से ज़बरदस्ती बोलती रहती। रमेश चिढ़ कर उस पर बिगड़ भी उठता तो भी बुरा न मानती। यदि रमेश की देखने वाली आँख होती तो वह देखता कि वह आचरण कजरी के स्वभाव के अनुरूप नहीं था। उसमें एकदम अस्वाभाविकता थी। परन्तु रमेश तो उस समय अपने ही स्वार्थ में अन्धा हो रहा था। प्रेम ने उसका कर्त्तव्य भी भुला दिया था। फिर भी रमेश की आँखें सदा बन्द नहीं रह सकीं। एक दिन उसकी आँखें खुलीं, जब प्रातःकाल कजरी के स्थान पर एक पत्र मिला। पत्र में लिखा था :

'गुरुदेव !

मैं जा रही हूँ। कहाँ ?— मैं स्वयं नहीं जानती, परन्तु मेरी खोज करना व्यर्थ होगा। कदाचित् मैं खोज की सीमा से परे चली जाऊँ। मेरे रहने से आपको प्रसन्नता नहीं थी, जाने से दुःख नहीं होगा— ऐसा मेरा विश्वास है। मैं तो जन्म की ही दुःखियारी थी, सदा ही ठोकरें खाई थीं, परन्तु मेरा दुर्भाग्य तो ऐसा है कि जो भी मेरे सम्पर्क में आया, उसका जीवन मैंने दुःखी कर दिया। भगवान— यदि कोई भगवान है— से प्रार्थना है कि मेरे जाने से सबके दुःख दूर हो जायँ। जाते समय और किसी की चिन्ता मन में नहीं है। बाबा तथा सुखवा के लिये हार्दिक दुःख है। परन्तु अपना-अपना भाग्य तो सबको भोगना ही पड़ेगा।

कदाचित् मुझे मेरे अपराध का उचित दण्ड मिला है। बौनी होकर मैंने तारों में मिलना चाहा था। मैं जिस घर में जन्मी थी उसी के अनुकूल मेरे विचार होने चाहिये थे। मुझे ज्ञात होना चाहिये था कि समाज मुझसे घृणा करता है, मुझे ऊँचा उठने देना नहीं चाहता। उड़ने का प्रयत्न मेरे लिये हानिकर है। समानता का जो स्वप्न आप देख रहे थे गुरुदेव, वह पूरा नहीं होना है— कम से कम तब तक, जब तक मेरी जाति स्वयं इसके लिये न लड़े, सब प्रकार का बलिदान देने के लिये कटिबद्ध न हो जाय। परन्तु अब पूरा हो, न हो— मुझे क्या लेना है, फिर भी आप से यही प्रार्थना है कि भविष्य में फिर कभी मुझ जैसी अभागी को ऊँचा उठाने का प्रयत्न न करना— यह सब के लिये अभिशाप बन जाता है। उन्हें अपने लिये स्वयं मरना सीखने दीजिए।............ आप मुझे कृतघ्न कहेंगे, परन्तु एक कृतघ्न कहने से क्या— संसार इससे कहीं अधिक घृणात्मक नाम 'कुलटा' से मुझे पुकारता होगा।

बस अधिक नहीं लिखूँगी। अपराधों की क्षमा नहीं माँग रही हूँ। एक-दो हों तो माँगूँ। ग़रीब और नीच जाति का तो जीवन ही अपराधमय है और सच पूछो तो

उनका जीना ही उनका सबसे बड़ा अपराध है। आप भगवान पर विश्वास करते हैं। आप के ही भगवान से प्रार्थना है कि आप जहाँ और जैसे भी रहें, सुखी रहें।

सदा आपकी,
अभागिनी कजरी।'

रमेश मन से बुरा नहीं था। कजरी के इस प्रकार के वियोग के लिये वह तैयार नहीं था। उसे गहरा आघात पहुँचा। सबसे बड़ा दुःख तो यह था कि इन सब के लिये आरम्भ से अन्त तक उसने अपने आप को उत्तरदायी ठहराया। कजरी को उसने ही बनाया था और उसने ही बिगाड़ दिया। पर जो चीज़ इतने दिन में बनी वह इतनी जल्दी बिगड़ गई! कैसी विडम्बना थी! परन्तु क्या मनुष्य उस बड़े निर्माणकर्त्ता की प्रतिमूर्त्ति नहीं है? वह भी तो नित्य बनाता है और बिगाड़ता है। यह तो प्रश्न ही विवादास्पद है। जिसे बनाना कहा जाता है— क्या वही बिगाड़ने का एक मार्ग नहीं? एक-एक दिन कर, कहते हैं, अवस्था बढ़ती है, परन्तु? कोरे काग़ज़ पर रंग लगाते जायें तो चित्र अथवा कुछ भी बनता लगेगा, पर यदि 'बनाने' की यह क्रिया चालू रक्खी जाय तो अन्त में रंग बुरी तरह मिल कर सब कुछ 'बिगाड़' नहीं देंगे? मनुष्य का जीवन एक काग़ज़ और भगवान वह तूलिकाकार हो सकता है·········

सरोज को पता चला। वह कजरी को प्रतिद्वन्द्विनी समझती थी। जब तक अपना पक्षा दबता था, तब तक उससे घृणा करती थी, परन्तु विजय में उदारता होती है। उसे कजरी से सहानुभूति हो चली थी और अब जब कजरी चली गई तो उसने आँसू बहाए। कितना अनोखा है मनुष्य का हृदय!

पहले सरोज ने रमेश को इसके लिये दोषी समझा। सहसा उसने अनुभव किया कि रमेश की ओर से उसका हृदय फिर गया है। जो मनुष्य ठंडे हृदय से किसी को तिल-तिल करके मार सकता है, उसे क्या कहा जाय— यह सरोज की समझ में नहीं आता था। उसे रमेश से घृणा हो चली, परन्तु जिसे एक बार चाहा हो उससे घृणा करना इतना सरल नहीं होता। यह तो शीत-काल में नदी के जल के ऊपर जमी हिम की पपड़ी की भाँति होती है, जिसके नीचे तरल जल बहता है। और अधिक सोच-विचार करने पर उसने अनुभव किया कि रमेश निर्दोष है। यदि कजरी के जाने में उसका कुछ हाथ था भी तो वह सब क्या सरोज के ही लिये नहीं था। रमेश ने उसके लिये हृदय की शान्ति तक दे डाली और उसे प्रतिफल क्या मिला? सरोज ने अपने आपको कृतघ्न कहा। रमेश के प्रत्येक कार्य, प्रत्येक व्यवहार से जो प्रेम छलकता था, वह सब उसकी आँखों के आगे स्पष्ट हो गया। वह रमेश के लिये रोई। रोना बुरा नहीं लगता यदि वह औरों के लिये हो। सरोज पहले अपने लिये रोती थी, परन्तु अब स्थिति भिन्न थी।

जब सरोज के विवाह की बात चली-चली थी तो वह भी रोई थी। सोचती थी कि कहीं चली जाय, कुछ खा ले। परन्तु जब सोचा तो यह सब मूर्खता लगी। अपने और रमेश के भविष्य पर एक दृष्टि डाली तो साथ जीवन व्यतीत करने का विचार पागलपन प्रतीत हुआ, क्योंकि जहाँ तक कल्पना में प्रेम ओढ़ने, बिछाने, खाने, पीने के काम आता है, वहाँ तक तो ठीक है, परन्तु संसार के समस्त हृदयों का प्रेम भी एक रोटी का टुकड़ा अथवा एक बूँद जल नहीं बना सकता। टैगोर का कहना है कि जला हुआ घर चित्रकला की दृष्टि से अनुपम दृश्य है, परन्तु वास्तविक जीवन में उससे काम नहीं चलाया जा सकता। ठीक इसी प्रकार कल्पना की उड़ान भरने के लिये तो प्रेम ठीक है, परन्तु जीवित रहने के लिये पैसा चाहिये। रमेश क्या था ?— एक ग़रीब युवक जिसकी न पीठ पर दृढ़ आश्वासन था और न आगे उज्ज्वल भविष्य। प्रत्येक दृष्टि से संक्षिप्त मनुष्य था। और सरोज थी सुख की गोद में पली हुई कोमलाङ्गिनी। मोटे कपड़े जिसके शरीर में चुभते थे और मोटा खाना जिसके गले में अटकता था, बिना चाय जिसके सिर में दर्द हो जाता था। जिसके एक भृकुटी-संचालन पर नौकरों का दल का दल काँप उठता था। जिसे गर्मियों में मसूरी, शिमला, काश्मीर और सर्दियों में बम्बई व कराँची की याद आती थी। उपन्यास, कहानियों में जिसकी जान बसती थी। जिसके ट्रन्क कपड़ों से भरे थे, जिसके घर का भण्डार दूध, घी, मिठाई से भरा था। संक्षेप में, जो सब सम्भव भौतिक सुख भोग रही थी। वैसे रमेश को ऐसी सरोज से सदा के लिये अटूट बंधन में बाँध देना बड़ा भारी मज़ाक होता। सरोज रमेश पर तरस खा सकती थी, उसके लिये रो सकती थी, कदाचित् उससे प्रेम भी कर सकती थी— परन्तु साथ जीवन व्यतीत करने का प्रश्न इसमें नहीं उठता था।

रमेश अपने दुःख से रोता था और सरोज दूसरे के। परन्तु संसार न किसी को हँसते देख सकता है न रोते। सहसा शहनाई की बधाई में दोनों की रुलाई डूब गई। दोनों अचम्भित होकर रुक गये। यहाँ दोनों का अन्तर स्पष्ट हुआ। रमेश इसी स्थान पर ठिठक कर और तेज़ी से रोने लगा, परन्तु सरोज शीघ्रता से इस संतुलन-बिन्दु से पार होकर नवीन मार्ग की ओर अग्रसर हो गई।

* * * *

जब से घर में विवाह की धूम मची थी, रमेश ने सुबोध के यहाँ झाँकना भी छोड़ दिया था। सुबोध ने बहुत कहा, परन्तु रमेश नहीं आया। सुबोध कारण समझता था, पर वह किसी से कुछ कहने की परिस्थिति में नहीं था। रमेश उसका मित्र था और सरोज उसकी बहिन। वह विषम परिस्थिति में था। मित्र के सुख के लिये प्रयत्न करना उसका कर्त्तव्य था परन्तु बहिन को सुखी बनाना उसका धर्म था। सरोज और रमेश जीवन की लम्बी दौड़ में सुखपूर्वक एक दूसरे का साथ नहीं दे

सकते थे— यह निश्चित था। इसलिये वह तटस्थ रहा। वह चुपचाप देखता रहा और जो कुछ हुआ था तथा हो रहा था, उससे वह सन्तुष्ट था, यद्यपि रमेश के लिये उसे दुःख था।

ठीक विवाह की संध्या को रमेश को सहसा अपने सम्मुख देख कर सुबोध को आश्चर्य हुआ। रमेश के कपड़े ठीक थे, बाल सँवारे थे और दाढ़ी भी बनी थी, परन्तु आँखें लाल थीं और स्वर भारी था। सुबोध कुछ बोलना चाहता था किन्तु रमेश पहले ही बोल पड़ा, 'सरो कहाँ है सुबोध ?'

'अन्दर है।'

'एक मिनट के लिये मिल सकता हूँ ?'

उचित था अथवा अनुचित, उतनी स्त्रियों से भरे-पूरे घर में सब अतिथियों के सामने भावी वधू को किसी से मिलने देना उचित है अथवा नहीं— ये सब विचार सुबोध के हृदय में उठे, परन्तु उसने आँख उठा कर रमेश को देखा तो वह यह भी नहीं कह सका कि 'प्रयत्न करता हूँ।' बल्कि उसने जल्दी से कहा—

'हाँ हाँ, एक मिनट ठहरो .... बैठो।'

'मैं ठीक हूँ। तुम जल्दी करो।'

सुबोध युवतियों के बीच घिरी हुई सरोज को अलग बुला कर एक खाली कमरे में ले गया और उसने कहा, 'एक मिनट ठहरना, मैं अभी आता हूँ।'

परन्तु कुछ देर पश्चात् सुबोध के बदले रमेश को आते देख कर सरोज चौंक पड़ी और जल्दी से उसके पास आकर बोली, 'रामी तुम ?'

'हाँ। बधाई सरो !' रमेश ने शान्त, सँयत स्वर में कहा।

परन्तु उसकी इस शान्ति में किस झंझा का वेग छिपा था, यह सरो से अप्रकट न रहा। सरोज के आवेग का बाँध टूट गया। उसने रमेश की बाँह पर अपना सुन्दर सिर रख दिया और फफक फफक कर रोने लगी, परन्तु रमेश ने न तो उसे आलिंगन में कसा और न उसकी पीठ पर हाथ फेरा, न बालों में उंगली चलाई, न मुख पर झूलती लट हटाई और न उसकी ठुड्डी पकड़ कर उसका मुख ऊपर उठाया, बल्कि चुपचाप कोट की जेब से एक डिब्बा निकाल कर सरोज के हाथ पर बरबस रख दिया और कहा, 'सरो, कुछ दे नहीं सकता, परन्तु इस तुच्छ वस्तु को ठुकराओगी नहीं— यह तुमसे अन्तिम अनुरोध है।'

सरोज फिर भी रोती रही। उसने अपना आँसू भरा मुख ऊपर उठाया। वह सोच रही थी कि पहले उसने आँसू बहाने पर रमेश कितने आलिंगन, चुम्बन तथा सान्त्वना के शब्द न्यौछावर नहीं कर देता। वह अब भी रमेश के चुम्बन की आधी प्रतीक्षा करती हुई, मुँह ऊपर उठाए कुछ क्षण खड़ी रही। रमेश को उसके लाल-लाल होंठ

अत्यन्त आकर्षक तथा निमन्त्रण देते लगे, परन्तु उसने अपने आप को बहने नहीं दिया। धीरे-से सरो का हाथ छुड़ा, एक लम्बी साँस लेकर उसे अन्दर ही अन्दर घोट कर वह द्वार की ओर बढ़ा। सरोज इस व्यवहार से दुःखी हुई। रमेश को जाते देख बोली, 'रामी, ठहरो तो!'

'कहो सरो।' रमेश ने वहीं से घूम कर कहा।

'भूलोगे तो नहीं।'

परन्तु वह बोला नहीं। सरोज पास आ गई। रमेश ने धीरे-से उसका कंधा थपथपाया और आँखों से उमड़ते हुए आँसुओं को छिपाने के लिये तेज़ी से बाहर चला गया।

वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि ऊँची हो गई। बारात द्वाराचार के लिये आ रही थी। नगाड़े और शहनाई बज रहे थे, आगे-पीछे आतिशबाज़ी का प्रदर्शन हो रहा था, बन्दूक के फ़ायर पर फ़ायर किये जा रहे थे. बिजली का प्रकाश दिन के प्रकाश से होड़ ले रहा था— परन्तु रमेश के कान में, अपने हृदय के चीत्कार के कारण, बाहर का कोई शब्द नहीं पहुँच रहा था और हृदय के अंधकार के कारण उसे प्रकाश का पता ही नहीं चल रहा था ...

सरोज ने डिब्बा खोल कर देखा : टहनी से जुड़ा हुआ, चाँदी का बना अंगूर का पत्ता। टहनी पर चिड़िया जिसकी पीठ ढकने से खुलती थी। चिड़िया में सिन्दूर भरा था। सरो ने डिब्बा छाती से कस कर दबा लिया। फिर वह झपट कर खिड़की पर गई।

दूर सड़क पर बिजली की बत्ती के प्रकाश में उसने एक पुरुष-मूर्त्ति को नीची गर्दन किये, लड़खड़ाते पैरों से जाकर आगे के गहन अंधकार में अदृश्य होते हुए देखा।

यह रमेश था... ....
